इकाई 4 1970 के पश्चात् भू-सुधारः कार्यक्रम और प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 भू-धारण सीमा से अतिरिक्त भूमि का प्रभावी पुनर्वितरण
4.3 काश्तकारी कानूनों में संशोधन
4.4 क षिक संरचना में परिवर्तन
4.5 भूमि अभिलेखों का नवीकरण
4.6 जोतों की चकबंदी
4.7 महिलाओं के भूमि संबंधी अधिकार
4.8 नयी आर्थिक नीति और भूमि सुधार
4.9 सरकारी नीति
4.10 सारांश
4.11 शब्दावली
4.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
4.13 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

4.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप कर सकेंगे :

- 1970 के पश्चात भू-सुधार के लिये किये गये उपायों की व्याख्या;
- क षिक संरचना के परिवर्तन में भूमि सुधारों की प्रभावोत्पाकता का आंकलन; और
- आर्थिक उदारवाद के परिणाम स्वरूप भूमि सुधारों का मूल्यांकन।

4.1 प्रस्तावना

इकाई 3 में हम 1950 और 1970 के दशक में हुए भूमि सुधारों के प्रथम दौर की चर्चा कर चुके हैं। वर्तमान इकाई में हमें 1970 के दशक से प्रारम्भ हुये भूमि सुधार के उपायों की चर्चा करेंगे। ग्रामों के असमान शक्ति संतुलन को ठीक करने में भूमि सुधारों के पहले दौर की असफलता निर्धनों के मध्य असंतोष की कारण बनी। इसके अतिरिक्त 1960 के उत्तरार्ध में हरित क्रांति ने धनी और निर्धन के बीच आय की खाई को और चौड़ा कर दिया। वास्तव में, बढ़ते असंतोष से भूमि विवाद बढ़े। इनमें पश्चिम बंगाल, बिहार, आंध्र प्रदेश और देश के अन्य भागों में नक्सलवादी आंदोलन भी सम्मिलित है। इन घटनाओं ने सरकार को 1970 में भू-धारण सीमा कानूनों की पुनर्समीक्षा के लिये विवश किया। और फिर, भूमि रिकार्डो के रखरखाव और नवीकरण (updation) की आवश्यकता अनुभव की गई।

1970 से किये गये भूमि सुधारों के विविध उपाय निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत आते हैं:

i) सीमाओं को कम करने और सीमा अधिशेष भूमि के प्रभावी पुनर्वितरण पर जोर

ii) काश्तकारी कानूनों में संशोधन

iii) भूमि के लेखों का नवीकरण और कम्प्यूटरीकरण

iv) क षिक संरचना में परिवर्तन

v) जोतों की चकबंदी के स्तर में परिवर्तन

vi) आर्थिक उदारीकरण और भूमि सुधार।

4.2 भू-धारण सीमा से अतिरिक्त भूमि का प्रभावी पुनर्वितरण

केन्द्र सरकार ने राज्य सरकारों के परामर्श से एकरूप सीमा कानूनों के लिये राष्ट्रीय मार्गदर्शी सिद्धांत तैयार किये। इन मार्गदर्शी सिद्धांतों का अनुसरण करते हुए सभी राज्य सरकारों ने सीमाओं को कम किया और सीमा के स्तरों और विभिन्न श्रेणियों की भूमि को प्रदत्त छूटों की अन्तर्राज्यीय असमानताओं को कम किया। इसके अतिरिक्त देश में एक मानक सीमा कानून का प्रतिमान उभर कर आया। 1972 के बाद विभिन्न राज्यों द्वारा लागू की गई भू-धारण सीमाएं तालिका 4.1 में प्रदर्शित है।

तालिका 4.1

राज्य	सीमा का स्तर (है०)
आन्ध्र प्रदेश	4.05 से 21.85
असम	6.74[a]
बिहार	6.07 से 18.21
गुजरात	4.05 से 21.85
हरियाणा	7.25 से 21.85
हिमाचल प्रदेश	4.05 से 12.14[b]
जम्मू और कश्मीर	3.68 से 7.77[c]
कर्नाटक	4.05 से 21.85
केरल	4.86 से 6.07
मध्य प्रदेश	4.05 से 21.85
उड़ीसा	4.05 से 18.21
पंजाब	7.00 से 21.80
राजस्थान	7.25 से 21.85[d]
तमिलनाडू	4.86 से 24.28
त्रिपूरा	4.00 से 12.00
उत्तर प्रदेश	7.30 से 18.25
बंगाल	5.00 से 7.00

a = बागों के अन्तर्गत अतिरिक्त 2.02 है० का क्षेत्र जो सीमा के ऊपर अनुज्ञेय है।

b = किन्हीं विशेष क्षेत्रों में 28.33 है० तक

c = सीमा से अधिक भूमि बाग में अनुज्ञेय है, पर इस पर वार्षिक आधार पर अलग से कर लगता है।

d = कतिपय विशिष्ट क्षेत्रों में 70.82 है० तक

विभिन्न राज्यों में सीमा सीमा साल में दो फसल के उत्पादन में सक्षम सींचित क्षेत्र के लगभग 4 है० (या उसके समतुल्य तक) थी। 1970 में लागू हुये सीमा कानूनों में 1950 और 1960 से अपनाये कानूनों में सुधार किए गए हैं।

फिर भी भूमि की कुछ श्रेणियाँ सीमा से बाहर रहीं, जिसने भूमियों को छूट वाली श्रेणी में स्थानांतरण कर कानून से बचाव के लिये रास्ता छोड़ दिया। इसमें मुख्य रूप से निम्नलिखित भूमि की श्रेणियाँ सम्मिलित थी :

i) धार्मिक, दान और शिक्षा संस्थानों की भूमियां

ii) चाय बागान के लिये भूमि

iii) चीनी कारखाने के लिये सहकारी क षि समितियों की भूमि (असम)

iv) व क्षारोपण और निजी वन की भूमि (केरल)

v) प्राथमिक सहकारी समितियों से सम्बद्ध भूमि (हिमाचल प्रदेश)

vi) व्यावसायिक उपक्रमों की भूमि (तमिलनाडू)

इसके अतिरिक्त, यद्यपि सीमा निर्धारण के उद्देश्य के लिये परिवार अब उपयोग की इकाई है 'परिवार' शब्द को अनेक राज्यों में बहुत विस्तार से परिभाषित किया गया है। लगभग सभी राज्यों में परिवार के वयस्को को प थक इकाई माना गया हैं। दूसरे शब्दों मे, नये सीलिंग कानून ने भी कानून से बच निकलने के विविध रास्तों को बन्द नहीं किया और उचित सीमा कानून और उसके परिपालन के प्रश्न का अभी तक समाधान नहीं हो पाया है।

योजना आयोग की गणना के अनुसार नये सीमा कानूनों का परिणाम पुनर्वितरण के लिये अधिक अधिशेष भूमि के रूप में होना चाहिये था। प्रो. राज क ष्ण के अनुसार हर भूमिहीन परिवार को देने के लिये एक न्यूनतम मूल जोत के लिये आवश्यक क्षेत्र का कम से कम 90% नई सीमा द्वारा प्रदत्त किया जाना चाहिये था। दुर्भाग्यवश सितम्बर 1998 तक 74 लाख एकड़ भूमि विविध राज्यों में सीमा कानून के अंतर्गत अधिशेष घोषित की गई और केवल 53 लाख एकड़ को 55 लाख भूमिहीनों में वितरित किया जा सका है। लगभग 50 प्रतिशत लाभभागी अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के सदस्य थे। तालिका 4.2 राज्यानुसार सीमा की अधिशेष भूमि का वितरण दर्शाती है। तालिका से देखा जा सकता है कि कुल सीमा अधिशेष के रूप में वितरित भूमि का लगभग 1/5 पश्चिम बंगाल में था। अन्य राज्यों, जैसे, बिहार, उत्तर प्रदेश, और मध्य प्रदेश ने अपेक्षाक त बहुत कम क्षेत्र पुनर्वितरित किये हैं। संक्षेप में, यदि पश्चिमी बंगाल का छोटा राज्य 10.3 लाख हैक्टर सीमा अधिशेष भूमि का पुनर्वितरण कर सकता है, तो कोई कारण नहीं है कि बड़े राज्य जैसे, उत्तर प्रदेश में केवल 4 लाख है० सीलिंग अधिशेष भूमि का वितरण हो।

विभिन्न राज्यों द्वारा लागू सीमा कानूनों को भली भांति परिभाषित नहीं किया गया है। और इसलिए कानून के परिपालन में देरी होती है या कानून की अनदेखी की जाती है। उदाहरण के लिये, विद्यमान कानून (i) भूमि के बेनामी हस्तांतरण पर अधिकारीगण अपनी जानकारी के आधार पर कारवाई नही करते, (ii) सीमा के बारे में भूस्वामियों का सही ब्यौरा नहीं सुनिश्चित करते, (iii) कानून की अनदेखी करने वालों को सजा नहीं देते, (iv) पुनर्वितरण

के लिये बंजर भूमि को अधिकार में नहीं लेते। कई मामलों मे सीमा कानूनों का परिपालन बहुत ढुलमुल रहा, क्योंकि, सीमा कानून का उत्तराधिकार के कानूनों से अन्तर्द्वन्द्व हो गया। उदाहरण के लिये सीमा कानून के लागू होने से पहले भूमि अव्यस्क बेटों, बेटियों और पोते-पोतियों मे बांटी जाती थी, जिसकी उत्तराधिकार का कानून आज्ञा देता है। उपलब्ध आंकड़े दिखाते हैं कि सीमा की अधिशेष भूमि से संबंद्ध कई मामले न्यायिक निणर्यों में देरी के कारण अदालतों में पड़े हैं। और फिर, (i) भू-स्वामियों के प्रभाव, (ii) संभावित लाभभागियों मे संगठन की कमी, (iii) न्यूनतम भूमि रिकार्डों की कमी, तथा (iv) भूमि के वर्गीकरण में छलपूर्ण परिवर्तनों के कारण सीमा कानूनों का परिपालन बहुत धीमा रहा है। इसके अतिरिक्त सरकार द्वारा अधिग्रहित सीमा अधिशेष भूमि निम्न गुणवत्ता वाली है। ऐसी भूमि पाने वाले को ऐसी भूमि को क षि योग्य बनाने के लिये उसके पुनर्उत्थान पर ठोस निवेश करने की आवश्यकता है। यद्यपि ऐसी भूमि के पुनर्उत्थान के लिये एक केन्द्र प्रायोजित योजना है, अधिकतर राज्यों में वह योजना फलीभूत नहीं हुई क्योंकि इसमें राज्य सरकार को समान अनुदान प्रदान करना होता है।

तालिका 4.2 : राज्य द्वारा भूमि सीलिंग कानून का परिपालन

(सितंबर 1998 तक)

राज्य/केन्द्र शासित	क्षेत्र			लाभभागियों की कुल संख्या
	अधिशेष घोषित	अधिग हीत	लाभभागियों में वितरित	
आन्ध्र प्रदेश	791461	639030	577551	529116
असम	612380	575837	505202	445648
बिहार	415447	387463	305858	377730
गुजरात	230911	158646	134963	31906
हरियाणा	93239	88244	87309	27435
हिमाचल प्रदेश	316556	304895	4374	6365
जम्मू और कश्मीर	455575	450000	450000	450000
कर्नाटक	267758	155118	118441	32047
केरल	138439	95987	64922	148423
मध्य प्रदेश	294838	262406	186158	72558
महाराष्ट्र	607194	553521	535685	141472
मणीपुर	1830	1685	1682	1258
उड़ीसा	178016	166814	155401	136686
पंजाब	222594	105181	103557	28303
राजस्थान	610374	566228	458974	80160
तमिलनाडू	196966	182762	171066	183369
त्रिपुरा	1995	1944	1599	1424
उत्तर प्रदेश	570395	538300	402018	360389
बंगाल	1354689	1265937	1032201	2476910
दादरा और नगर हवेली	9406	9305	6851	3353
दिल्ली	1132	394	394	654
पांडिचेरी	2326	1177	1023	1359
कुल	**7373524**	**6510874**	**5305229**	**5536565**

स्रोत : ग्रामीण क्षेत्र एवं रोजगार मंत्रालय, भारत सरकार वार्षिक रिपोर्ट 1998-99.

4.3 काश्तकारी कानूनों में संशोधन

1970 के दशक में बहुत सी राज्य सरकारों ने पट्टेदारी कानूनों में संशोधन किए। आंध्र प्रदेश के आंध्र क्षेत्र में 1974 के पट्टेदारी कानून के संशोधन ने भू-स्वामियों को पुनः भूमिका कब्जा लेने का निरंतर अधिकार प्रदान किया। उन सभी के पट्टों विषय में, जो 1974 के संशोधन विधेयक के प्रारंभ होने के समय चल रहे थे, यह धारण का अधिकार जब्त किया गया है, किन्तु भविष्यकालीन पट्टों पर यह लागू होता है। गुजरात में काश्तकारी कानून में हुए संशोधन के अनुसार 1957 और 1992 के बीच बेदखल किये गये काश्तकारों को फिर पट्टेदारी पाने का अधिकार था। जम्मू और कश्मीर में 1976 का जम्मू और कश्मीर क षिक विधेयक घोषणा करता है कि 1973 से प्रभावी हो कर किसी व्यक्ति के भूमि के सारे अधिकार स्वामित्व और हित बिना लागत और शुल्क के राज्य को अन्तरित हो जाएंगे यदि उसने (1971 से) भूमि का स्वयं नहीं जोता है। इस विधेयक में भू-स्वामी को व्यक्तिगत क षि के लिये भूमि के पुनर्ग्रहण करने की आज्ञा दी बशर्ते उसकी वार्षिक आय 500 रु० प्रतिमाह से अधिक न हो शेष भूमि, यदि वह दो एकड़ से कम नहीं हो तो उसके किरायेदार को उस पर स्वामित्व का अधिकार प्रदान करने की व्यवस्था भी की गई थी।

कर्नाटक सरकार ने 1973 से 1961 के भूमि सुधार कानूनों में संशोधन किया और पट्टेदारी को निश्चित करने का अधिकार प्रदान किया। इसमें भू-स्वामी के आधे पट्टे के क्षेत्र पर पुनर्ग्रहण के अधिकार का प्रावधान था। 1979 में काश्तकारी कानून में और संशोधन किये गये। सैनिकों और नौ कर्मचारियों को छोड़कर अन्य भू-स्वामियों द्वारा पट्टे पर भूमि देने को निषिद्ध किया गया और बड़ी संख्या में किरायेदारों को स्वामित्व का अधिकार प्रदान किया। उत्तर प्रदेश ने भी 1977 में काश्तकारी कानून में संशोधन किये। इनके अनुसार खाली भूमि पर बसे सिरदारों को छोड़ अन्य सिरदारों को हस्तांतरणीय अधिकारों के साथ भूमिदार घोषित किया गया। पश्चिमी बंगाल में वास भूमि के अर्जन और व्यवस्थापन पर कानून (संशोधन विधेयक 1972) में अगस्त 1974 तक अर्जी देने पर वास भूमियों के किरायेदारों को पूर्ण स्वामित्व अधिकार का प्रावधान था। इसके अतिरिक्त पश्चिम बंगाल की सरकार ने 1978 में 'ऑपरेशन बरगा' के माध्यम से बटाईदारों को रिकार्ड करना प्रारम्भ किया। अनुमान लगाया जाता है कि लगभग 14 लाख बटाईदारों को स्थायी वंशागत अधिकार दिया गया।

वास्तव में बटाईदारों के भूमि संबंधी अधिकारों को पहचानने और अभिलेखबद्ध करने के लिये किये गये इस विशेष अभियान के प्रभाव से राज्य में उत्पादकता व द्धि और निर्धनता कम करने पर सकारात्मक प्रभाव फलीभूत हुए हैं।

4.4 क षिक संरचना में परिवर्तन

भूमि सुधारों के क्रियान्वयन के उपरांत ये अपेक्षित था कि भूमि धारण के केन्द्रीकरण में कमी और निर्धन किरायेदारो की आर्थिक दशा में सुधार के रूप में क षिक संरचना में उल्लेखनीय परिवर्तन आयेगा। किन्तु उपलब्ध आंकड़े यही इंगित करते हैं कि समय के साथ भू-जोतों के स्वामीत्व में असमानता अधिक कम नहीं हुई है। 1971 से 1992 तक असमानता का गिनि अनुपात 0.71 पर टिका रहा। बहुत से राज्यों में, जिनमें गुजरात हिमाचल प्रदेश, जम्मू कश्मीर, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा और राजस्थान आते हैं, भूमि जोतों के केन्द्रीकरण के अनुपात में व द्धि पायी गई है। यह संकेत करती है कि भूमि सुधार उपाय ग्रामीण असमानता के स्तर को घटाने में अधिकतर अप्रभावी रहे हैं।

भूमिहीन परिवारों का अनुपात 1971 मे 9.6% से बढ़कर 1992 में 11.3% (NSSO 48वां दौर रिर्पोट न. 399) हो गया। इसी अवधि में पट्टे पर दिये क्षेत्र का अनुपात 1971 के 11.6%

से घट कर 1992 में 8.3% हो गया। हालाँकि बहुत से राज्यों मे पट्टेदारी सवैंधानिक रूप से निषिद्ध होने के कारण प्रछन्न पट्टेदारी का प्रचलन 30% से अधिक पाया गया है। अतः क षि ढांचा उतना ही विषमतापूर्ण और अनुत्पादक है जितना पहले था।

बोध प्रश्न 1

1) 1970 के दशक के आरंभ में अपनाए गए भू-धारण कानूनों में कौन से मुख्य परिवर्तन सम्मिलित थे?

....

....

....

....

....

2) भूमि सीमा कानूनों के प्रभावी परिपालन की मुख्य बाधाएं क्या थीं?

....

....

....

....

....

3) 1970 से किये गये भूमि सुधार के उपायों ने कहां तक क षि ढांचे को परिवर्तित किया है?

....

....

....

....

....

....

4.5 भूमि अभिलेखों का नवीकरण

नवीनतम भूमि अभिलेखों का रखरखाव न केवल भूमि रिकार्डों के प्रभावी परिपालन के लिये, अपितू सम्पूर्ण ग्रामीण व्यवस्था के परावर्तन की प्रक्रिया के सामजस्य पूर्ण संचालन के लिये भी महत्वपूर्ण है। सातवीं पंचवर्षीय योजना में भू-अभिलेखों के कम्प्यूटरीकरण के लिये *केन्द्रीय प्रायोजित योजना* प्रारम्भ की गई। आठवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान इस उद्देश्य के लिये लगभग 48 करोड़ रुपये का प्रावधान रखा गया। 1997-98 तक लगभग 470 तहसील इस कार्यक्रम के अन्तर्गत आ चुकीं थीं। फिर भी, अब तक हुई प्रगति पर्याप्त

आधारिक संरचना और स्थानीय स्तर पर प्रशिक्षण सहयोग के अभाव के कारण अक्षम रही। इसके अतिरिक्त भू-अभिलेखों के प्रशासन में पारदर्शिता के लिये कदम उठाने की आवश्यकता है।

4.6 जोतों की चकबन्दी

1971 से भू-जोतों की चकबंदी में कोई अधिक प्रगति नहीं हुई है। समेकन में आने वाला क्षेत्र 500 लाख है० से केवल 641 लाख है० तक बढ़ा है। कई राज्यों में समकेन कार्यक्रम में कोई उन्नति नहीं हुई। संभवतः ऐसा कानून में अनिवार्यता के प्रावधान के अभाव के कारण हो। बिहार में समेकन कार्यक्रम जुलाई 1992 से बंद कर दिया गया। कर्नाटक सरकार ने 1991 में समेकन विधेयक को रद्द कर दिया। महाराष्ट्र ने भी समेकन कार्यक्रम को 1993 से निलंबित कर दिया तालिका 4.3 देखें।

तालिका 4.3 : भू जोतों का समेकन (राज्य अनुसार)

राज्य/केन्द्र शासित	समेकित क्षेत्र लाख है०	रिकार्ड की अवधि
आन्ध्र प्रदेश	8.18	1992
बिहार	96.05*	1999
गुजरात	69.88	1999
हरियाणा	104.38	1999
हिमाचल प्रदेश	29.91	1999
जम्मू और कश्मीर	1.37	1973
कर्नाटक	26.76#	
मध्य प्रदेश	95.53	
महाराष्ट्र	526.5$	1993
उड़ीसा	26.74	1999
पंजाब	103.74	1999
राजस्थान	42.30	
उत्तर प्रदेश	481.63	1999
दिल्ली	2.33	1992
कुल	1615.30	अक्टूबर 1999

* बिहार में योजना 1992 से रोक दी गयी

\# 1991 में जोत समेकन विधेयक, 1966, रद्द कर दिया गया

$ 1993 से योजना के परिपालन को रोक दिया गया।

समेकन कार्यक्रम के सम्पूर्ण लाभकारी प्रभावों के देखते हुए, राज्य सरकारों को इसे प्राथमिकता देनी चाहिये। इस के अतिरिक्त राज्य सरकारों को सुनिश्चित करना चाहिये कि छोटे और सीमांत क षकों तथा पट्टेदारों के हितों की रक्षा और पूर्ण भू-अभिलेखों और उनकी भूमि के उचित मूल्यांकन भी समेकन की प्रक्रिया के दौरान हो। यह ध्यान देने योग्य है कि केन्द्र सरकार ने भविष्य में जोतों के समेकन के परिपालन के उपाय सुलझाने के लिये एक उच्च स्तरीय समिति गठित की है।

4.7 महिलाओं के भूमि संबंधी अधिकार

अतीत की भूमि सुधार नीति ने महिलओं के भूमि अधिकारों के प्रश्न पर ध्यान नहीं दिया। उत्तर प्रदेश में जमींदारी उन्मूलन विधेयक ने कन्या संतान को क षि भूमि के उत्तराधिकार से वंचित रखा। कुछ राज्यों में स्त्रियाँ क षि भूमि क्रय भी नहीं कर सकतीं। अभिलिखित भू-अधिकारों के अभाव के कारण वे ये सिद्ध नहीं कर पातीं कि वे क षक हैं। 1992 में राजस्व मंत्रियों की गोष्ठी ने अनुमोदन किया कि सीमा अधिशेष भूमि वितरण और दूसरी सार्वजनिक भूमियों (के मामलों में) महिलाओं को समान अवसर दिये जाने चाहिये। भूमि पति-पत्नी को संयुक्त रूप से मिलनी चाहिये। हालाँकि प्रचलन में सामान्यतः महिलाओं को नजर अंदाज करके लाभभागी परिवार के पुरूष सदस्य के नाम भूमि स्वामित्व दिया जाता है। अतः यह वांछित है कि कानून द्वारा महिलाओं को भूमि सुधारों के लाभों में समान अधिकार मिलने चाहिये।

4.8 नयी आर्थिक नीति और भूमि सुधार

आर्थिक सुधारों के परिणामस्वरूप, भारत में भूमि सुधार पिछड़े प्रतीत होते हैं। कई बार भूमि सुधारों द्वारा भूमि के पुनर्वितरण प्रक्रिया पर भी प्रश्न उठता है। प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि विद्यमान भूमि सुधार पूंजीवादी, ठेके की खेती की उन्नति में बाधा डालते हैं जो विपणन उन्मुखता में व द्धि के लिये आवश्यक है। हाल के वर्षों मे कुछ राज्य सरकारों ने भूमि बाजार को पुनः सक्रिय करने के लिये भू-सीमा और पट्टेदारी कानूनों में छूट देने का प्रस्ताव रखा है। महाराष्ट्र सरकार ने पहले ही उद्यान क षि के उद्देश्य के लिए भूमि सीमा के उपरोन्मुख संशोधन का प्रस्ताव रखा है। कर्नाटक सरकार ने भी ऐसी क षि नीति तैयार की है जिसमें पट्टेदारी के उदारीकरण और सीमा के बढ़ाने का उल्लेख है। वैसे, भारत सरकार ने अभी तक ऐसे प्रस्तावों पर सहमति नहीं दी है।

वास्तव में यह तर्क कि भूमि सुधार विपणनोन्मुख व द्धि के मार्ग में बाधा है, असंगत प्रतीत होता है। जापान और कोरिया जैसे देशों के अनुभव दर्शाते हैं कि भूमि सुधार तीव्रतर और अधिक निर्वाहणीय पूंजीवादी क षि के विकास में सहायक हो सकते हैं, वह भी ग्रामीण जनसंख्या के हितों को क्षति पंहुचाए बिना। किंतु बाजारोन्मुख आर्थिक सुधार, बिना भूमि सुधारों को साथ लिये, ग्रामीण निर्धन के लिये दुखदायी हो सकते हैं। हो सकता है दीर्घ काल में ये सुधार निर्वाहणीय न हो पाये। वास्तव में आवश्यक तो यह है कि भूमि सुधार आर्थिक सुधारों का त्वरित कार्यक्रम बाजार सुधारों से पहले अपनाया जाना चाहिए। तभी ये तीव्र एवं संतुलित आर्थिक विकास का माध्यम बन पाएंगे।

4.9 सरकारी नीति

भूमि सुधार पर सरकार की नीति 1970 से कुल मिलाकर अटल रही है। पांचवी योजना से सभी पंचवर्षीय योजनाओं ने क षि की उन्नति और समता के लिये भूमि सुधारों के प्रभावी

परिपालन की आवश्यकता पर जोर दिया है। नवीं पंचवर्षीय योजना में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि भूमि सुधार ग्रामीण निधर्नता के उन्मूलन के लिये एक महत्वपूर्ण नीति उपकरण बने रहेंगे। भूमि कानूनों और नीतियों के उचित परिपालन से क षि क्षेत्रक में उच्चतर व द्धि दरों के लिये न केवल एक प्रेरक रूप से सहायक होंगे बल्कि इस से प्राप्त लाभों के वितरण से अधिक समतापूर्ण क षि अर्थव्यवस्था का निर्माण भी होगा। नवीं पंचवर्षीय योजना के भूमि सुधारों में मुख्यः केन्द्र बिन्दु निम्नलिखित निर्णायक क्षेत्र हैं :

i) सीमा अधिशेष भूमि को ढूंढ़ने और उसके पुनर्वितरण के प्रयत्न करने होंगे और सीमा कानून को सख्ती से लागू करना होगा।

ii) पट्टेदारी सुधारों को, विशेषकर उन राज्यों में जो उत्पादन के अर्ध-सामन्तवादी तरीकों तरीकों से ग्रस्त हैं, में प्रारम्भ करना चाहिये।

iii) पट्टेदारों और फसल बटाइदारों के अधिकारों को अभिलेखित करने की आवश्यकता है और उन्हें पट्टे की सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिये।

iv) निर्धनों की ग्राम संपत्ति संसाधनों और सरकारी बंजर भूमि तक पहुंच होनी चाहिये।

v) विद्यमान भूमि कानूनों में संशोधन द्वारा स्त्रियों के भूमि अधिकार अवश्य सुनिश्चित हों।

vi) भूमि अभिलेखों के नवीकरण में शीघ्रता होनी चाहिये क्योंकि यह किसी भी भूमि सुधार नीति की आवश्यक पूर्वापेक्षा है।

vii) ग्रामीण निर्धनों की भागेदारी को और भूमि सुधारों के परिपालन और गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के लिये स्वयंसेवी समूहों की मदद से एक व हद कार्यक्रम आयोजित किया जाये।

हालांकि भूमि सुधारों को प्रभावी रूप से लागू करने के विषय में बहुत सी राज्य सरकारों की राजनैतिक इच्छा संदेहास्पद है।

बोध प्रश्न 2

1) भूमि अभिलेखों का नवीनतम रख रखाव क्यों आवश्यक हैं?

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) जोतों के समेकन की प्रक्रिया में छोटे किसानों और पट्टेदारों के हितों की आप कैसे रक्षा करेंगे?

....

....

....

....

....

....

....

3) क्या आप सोचते हैं कि नयी आर्थिक नीतियाँ और भूमि सुधार परस्पर विरोधी हैं?

....

....

....

....

....

....

....

....

4.10 सारांश

1971 से किये गये भूमि सुधार उपायों के मिश्रित परिणाम हुए हैं। पश्चिम बंगाल जैसे राज्य में प्रक्रिया की प्रक ति भागेदारी वाली थी जिसमें सरकारी संचलनकर्त्ताओ, पंचायतों और स्थानीय राजनीतिज्ञों ने भूमि सुधारों के प्रभावी परिपालन में मदद की। देश में आवंटित सीमा अधिशेष भूमि के कुल 20 लाख हैक्टर का पांचवा भाग केवल पश्चिम बंगाल में है। दूसरे राज्यों ने सीमा कानूनों को लागू करने की ओर ढीला द ष्टिकोण अपनाया।

जहाँ तक पट्टेदारी सुधारों का प्रश्न है, केरल ने पट्टेदारी को एकदम निषेध कर दिया है। इसके अतिरिक्त आंध्रप्रदेश के तेलंगाना, बिहार, कर्नाटक, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में भूमि की पट्टेदारी निषिद्ध है (केवल कुछ अपंग श्रेणियों को छोड़कर), फिर भी प्रछन्न पट्टेदारी इन राज्यों में विद्यमान है। वास्तव में इन सभी राज्यों में पट्टेदार अधिक असुरक्षित हैं, क्योंकि पट्टेदारी मौखिक है और अनौपचारिक है। ऐसी पट्टेदारी का अभिलेखन पश्चिमी बंगाल के 'ऑपरेशन बर्गा' की पद्धति से करना सहायक हो सकता है।

यही नहीं, 1991 से आर्थिक सुधारों के परिणामस्वरूप भूमि सुधारों के परिपालन के लिये सरकारी ध्यान में गिरावट आती प्रतीत हो रही है। यद्यपि ग्रामीण क्षेत्रों व रोजगार मंत्रालय और योजना आयोग की घोषणाए यही दिखाती हैं कि निर्धनता उन्मूखन के लिये भूमि सुधार एक नीति उपकरण के रूप में बना हुआ है। एक सत्य यह है कि सरकार में भूमि सुधारों के परिपालन में आवश्यक इच्छाशक्ति अभाव है और संभावित लाभभागियों का भी कोई संगठित दवाब नहीं है।

4.11 शब्दावली

गिनी गुणांक : इसका प्रयोग आय या सम्पत्ति के वितरण की असमानता को मापने के लिये होता है। वर्तमान विषय में ये भूमि स्वामित्व के वितरण की असमानताओं को मापने के लिये होता है। गिनी गुणांक का मान शून्य से एक के बीच होता है। जितना ऊंचा गुणांक का मूल्य हो उतनी ही अधिक समानता होती है।

आपरेशन बरगा : यह पश्चिमी बंगाल सरकार द्वारा 1978 में बटाईदारी के अभिलेखन और बटाइदारों को स्थायी और पैत क अधिकार देने के लिये प्रारम्भ किये एक विशेष अभियान से सम्बद्ध है।

समान अनुदान : कुछ क्रियाओं/निवेशों को प्रोत्साहित करने के लिये केन्द्र सरकार राज्य सरकारों को अनुदान देती है, किन्तु यह अनुदान तभी मिल पाता है जबकि राज्य सरकार भी बराबर राशि खर्च करे।

नयी आर्थिक नीति : इसका तात्पर्य आर्थिक सुधारों/उदारीकरण की उस नीति से है जो 1991 से अपनायी गयी। नयी नीति एक अधिक उदार भूमि सीमा और पट्टेदारी की बात करती है।

4.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Haque, T. and A.S. Sirohi, 1986, *Agrarian Reforms and Institutional Changes in India*, Concept Publishing Company, New Delhi.

Bhalla, G.S., 1981, *Agrarian Change in India since Independence in Essays* in Honour of Dr. Gyanchand, Peoples' Publishing Publishing House, New Delhi, 1981.

Planning Commission, 1973, *Report of the Task Force on Agrarian Relation*, Government of India.

Planning Commission, 2003, *Tenth Five Year Plan, 2002-07*, Government of India.

National Sample Survey Organisation, 1992, *Report on Land and Livestock Holding Surveys*, Government of India.

Ministry of Rural Areas and Employment, *Annual Report, 1998-1999*, Government of India.

4.13 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

बोध प्रश्न 1

1) आप भूमि वितरण और पट्टेदारी की सुरक्षा में आये परिवर्तनों की चर्चा कर सकते हैं।

2) भाग 4.2 देखें और उत्तर दें।

3) भाग 4.4 देखें और उत्तर दें।

बोध प्रश्न 2

1) नवीनतम भूमि अभिलेखों से अधिशेष भूमि की पहचान, उसके वितरण और अनियमिततों का पता लगाने में मदद मिलती है देखें भाग 4.5

2) देखें भाग 4.6

3) देखें भाग 4.8

इकाई 3 1947-70 के दौरान भूमि सुधार

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 भूमि सुधारों की आवश्यकता
3.3 भूमि सुधारों के उपाय
 3.3.1 मध्यस्थों का उन्मूलन
 3.3.2 पट्टेदारी में सुधार
 3.3.3 भू-धारण सीमा का निर्धारण
 3.3.4 भू-दान और ग्राम दान
 3.3.5 आदिवासी भूमि की सुरक्षा
 3.3.6 जोतों की चकबंदी
3.4 उचित फार्म व्यवस्था का चुनाव
3.5 क षिक संरचना में परिवर्तन
3.6 भू-धारण प्रणाली
 3.6.1 जोतों के स्वामित्व की पद्धति
 3.6.2 संचालित जोतों की धारण पद्धति
3.7 सारांश
3.8 शब्दावली
3.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
3.10 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

3.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप कर सकेंगे:

- क षि सुधारों की आवश्यकता की व्याख्या;
- 1950 और 1960 के दशकों हुए भूमि सुधारों की समीक्षा; और
- असमान और शोषणकारी क षि संरचना को परिवर्तित करने में सुधारों के प्रभाव का आंकलन।

3.1 प्रस्तावना

पहली दो इकाइयों में हमने स्वतन्त्रता पूर्व प्रचलित, विशेषकर मुगल और ब्रिटिश राज में प्रचलित, क षि संरचना की चर्चा की। स्वतंत्र भारत ने जिन क षि संरचना संबंधी विशेषताओं को उत्तराधिकार में पाया वे थीं :

अ) अनुपस्थित भूमि-स्वामित्व

ब) ऊंची किराया वसूली के द्वारा काश्तकारों का शोषण और पट्टेदारी की असुरक्षा

स) भूमि का असमान वितरण

द) छोटी और विखण्डित जोतें और

इ) क षि के लिये पर्याप्त संस्थागत वित्त का अभाव

इस प्रकार की संरचना बहुत अधिकांश क षकों के पास स्थिर एवं चल पूंजी का नितांत अभाव रहता था। जिसका परिणाम कम निवेश और उसके कारण क षि में कम पैदावार था।

जैसा कि आप जानते हैं, क षिक संरचना एक विस्त त अवधारणा है जिसमें भू-पट्टेदारी व्यवस्था के साथ वित्त, विपणन इत्यादि भी आते हैं। अतः क षि सुधारों में भूमि पट्टेदारी व्यवस्था ऋण और विपणन इत्यादि के सुधार के उपाय भी निहित हैं। दूसरी ओर, 'भूमि सुधार' की अवधारणा उपरोक्त की अपेक्षा कुछ संकीर्ण है और प्रचलित भू-पट्टेदारी व्यवस्था में सुधार के उपायों से संबद्ध है। ऋण और विपणन क षि विकास के लिये बहुत महत्वपूर्ण है (हालांकि हम इन दो विषयों को खंड 5 में ही उठा पाएंगे)। इस इकाई में और अगली इकाई में हम स्वतंत्रता पश्चात भू-सुधारों के लिये किये गये उपायो पर विचार करेंगे। इस इकाई में हम 1947-70 के दौरान किये गये उपायों की चर्चा करेंगे। 1970 के बाद किये गये उपाय इकाई 4 के अन्तर्गत आयेंगे।

3.2 भूमि सुधारों की आवश्यकता

जैसे हमने उपरोक्त खंड में देखा है, स्वतंत्रता के समय भूमि स्वामित्व बहुत असमानतापूर्ण था। मध्यस्थों का एक ऐसा परजीवी वर्ग था जिसकी उत्पादन में कोई भूमिका नहीं थी। दूसरी ओर वास्तव में जुताई करने वाले या तो पट्टेदार थे या उप पट्टेदार, जिनकी पट्टेदारी की कोई सुरक्षा नहीं थी। राष्ट्रीय क षि आयोग के अनुसार यही उस चिरकालिक संकट का मुख्य कारण था जिसमें भारतीय क षि अर्थव्यवस्था स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व उलझी हुई थी।

स्वतंत्रता पूर्व, भू-पट्टेदारी की तीन मुख्य व्यवस्थाएं थी : जमींदारी व्यवस्था, महलबारी व्यवस्था और रैयतवारी व्यवस्था। जमींदारी व्यवस्था को 1793 में लार्ड कार्नवालिस ने प्रारम्भ किया। ऐसा स्थायी बंदोबस्त के द्वारा किया गया जिसमें वास्तविक जोतने वालों के अधिभोग अधिकारों और किरायों को निश्चित किये बिना जमींदारों के शाश्वतकाल तक भू-अधिकार निश्चित किये गये थे। स्थायी बन्दोबस्त के अंतर्गत, जमींदार क षि के विकास की अपेक्षा ज्यादा किराये की वसूली में रुचि लेने लगे। 19 शताब्दी के प्रारम्भ में स्थायी व्यवस्था के हुए दुष्प्रभावों को दूर करने और नीतिगत रूप से 'अस्थायी बंदोबस्त करने के प्रयास किये गये। 1822 के विधेयक में 7वें नियम में संयुक्त प्रान्त के कुछ क्षेत्रों में आवधिक बन्दोबस्त की व्यवस्था रखते हुए अस्थायी बंदोबस्त का प्रावधान रखा गया। मद्रास और बम्बई के प्रान्तों में (Ryotwari) रैयतवारी प्रचलित थी। प्रत्येक रैयात कानून द्वारा मान्य भू स्वामी होता था। उसे अपनी भूमि किराये पर देने या गिरवी रखने या हस्तांतरित करने का अधिकार होता था। इसके अतिरिक्त संयुक्त प्रांत के भागों और पंजाब में, 1822 विधेयक में विनियम II और 1833 विधेयक के अधिनियम IV ने सम्पूर्ण ग्राम समुदाय के साथ महालवारी बन्दोबस्त का प्रावधान किया। इसके अनुसार, गांव के प्रत्येक किसान को अपनी जोत के आकार के आधार पर गांव की कुल राजस्व मांग में योगदान देना होता था। 1885 में बंगाल काश्तकारी विधेयक पास हुआ, जिसमें उन रैयतों को अधिभोग अधिकार देने पर विचार हुआ जो 12 साल से भूमि पर निरंतर अधिकार बनाये हुये थे। पट्टेदार को भू-स्वामी नहीं बल्कि न्यायालय की डिक्री (decree) के द्वारा हटाया जा सकता था। इसी प्रकार 1885 के बिहार काश्तकारी विधेयक और 1914 मे उड़ीसा काश्तकारी विधेयक (Tenancy Act) ने काश्तकारों को अधिभोग के अधिकार प्रदान किये। इसके अतिरिक्त 1908 के मद्रास काश्तकारी विधेयक के द्वारा रैयतों को बेदखली से सुरक्षा प्रदान की गई (जब तक वे किराया चुकाते रहे)। फिर भी अधिसंख्यक वास्तविक काश्तकार मर्जी के अनुसार बिना रिकार्ड के किरायेदार थे। ये वैधानिक उपाय भूमि जोतने वालों को अधिक राहत नहीं दे सके।

यद्यपि भू-स्वामित्व का क षि उत्पादन पर बुरा प्रभाव उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल और उड़ीसा में अधिक गहरा या, अन्य राज्य, जो रैयतवारी और महलवारी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत थे, वहां भी एक बड़ी संख्या में मध्यस्थों की बढ़त और इसके प्रतिकूल प्रभाव स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। 1950-51 में पट्टेदारी का क्षेत्र कुल संचालित क्षेत्र का लगभग 35% था।

अधिकतर पट्टेदारी अलिखित थी और पट्टेदार को कोई वैद्यानिक सुरक्षा उपलब्ध नहीं थी। किराये सकल उत्पाद के 50 से 70 प्रतिशत तक होते थे। इसके अतिरिक्त किरायेदारों को भूमि स्वामियों के लिये मुफ्त श्रम (बेगार) उपलब्ध कराना पड़ता था। इसीलिये स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात्, क षिक अर्थव्यवस्था से जागीरदारी को हटाने और तीव्र क षि विकास के साथ-साथ सामाजिक न्याय के लिए मार्ग बनाने के लिये कुछ भूमि सुधार करने आवश्यक हो गये थे।

मोटे तौर पर, क षिक सुधारों के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

i) असमान और अनुत्पादक क षिक संरचना को बदलना।

ii) शोषक क षिक संबंधों को हटाना जिन्हें प्रायः संरक्षक आश्रित (Patron client) रिश्ते के रूप में क षि में जाना जाता है।

iii) सामाजिक न्याय के साथ क षि संव द्धि को प्रोत्साहन।

बोध प्रश्न 1

1) क षिक सुधार को आप कैसे परिभाषित करेंगे?

....

....

....

....

....

2) भारत मे भूमि सुधारों के मुख्य उद्देश्य क्या थे?

....

....

....

....

....

3) स्वतंत्रता पूर्व की क षिक संरचना में परिवर्तन क्यों जरूरी थे?

....

....

....

....

....

3.3 भूमि सुधारों के उपाय

स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने देश में चल रहे क षिक संबंधों के गहन अध्ययन के लिये जे.सी. कुमारप्पा की अध्यक्षता में क षिक सुधार समिति का गठन किया।

1949 में इस समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, स्वतंत्रता पश्चात् काल में क षिक सुधारों की नीति के विकास पर इस रिपोर्ट का गहन प्रभाव रहा है। समिति ने राज्य और जोतकार के बीच के मध्यस्थों को हटाने और कुछ शर्तों के साथ भूमि उसे जोतने वाले को देने की सिफारिश की।

आइए स्वतंत्रता के पश्चात् किये गये विविध क षि सुधार उपायों का विश्लेषण करें। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भूमि सुधारों के तात्पर्य भूमि पट्टेदारी प्रथा में किये गये सुधारों से है। ये कदम है (i) मध्यस्थों का हटाया जाना, (ii) भू-जोतों की उच्चतम सीमा सुनिश्चित करना, और (iii) अतिरिक्त भूमि का भूमिहीनों या अर्ध भूमिहीन किसानों के बीच पुनर्वितरण। इसके अतिरिक्त आदिवासी भूमि के अन्य लोगों को हस्तांतरण के रोकने और बिखरे हुए खेतों की चकबंदी के लिये किये गये विशेष उपाय भी क षिक सुधारों की विस्त त परिभाषा के भीतर आते हैं।

3.3.1 मध्यस्थों का उन्मूलन

कुमारप्पा समिति की सिफारिशों के अनुरूप, भारत में सभी राज्यों ने 1950 के दशक में पट्टेदारी व्यवस्था से मध्यस्थी को समाप्त करने के कानून बनाये। विभिन्न राज्यों में पारित कानूनों की प्रक ति और प्रभाव एक में काफी अतंर भी रहे हैं। पश्चिमी बंगाल और जम्मू कश्मीर में मध्यस्थ पट्टेदारी की समाप्ति के साथ-साथ ही भू-धारण पर सीमा भी लागू हुई। अन्य राज्यों में मध्यस्थों को अपनी निजी जुताई वाली भूमि को बिना किसी सीमा में तय कर उसे अपने अधिकार में रखने की अनुमति थी। वहां भू-धारण सीमा कानून केवल 1960 के दशक में ही पारित हो पाये थे। परिणाम स्वरूप मध्यस्थों के पास वैधानिक और अवैधानिक रूप से भूमि के हस्तांतरण के लिये पर्याप्त समय था। यही नहीं कुछ राज्यों में कानून केवल कुछ पट्टेदारी हितों जैसे 'सैराती महालो' इत्यादि पर ही लागू था न कि क षि भूमि पर। अतः जमींदारी के औपचारिक रूप से समाप्त होने पर भी बहुत से बड़े मध्यस्थ बने रहे। इस पर भी यह अनुमान लगाया जाता है कि 1950 और 60 के मध्य में मध्यस्थों की कानूनन समाप्ति के बाद लगभग 200 लाख क षकों को देश में सरकार के साथ सीधे सम्पर्क में लाया गया।

3.3.2 काश्तकारी में सुधार

क षिक सुधार समिति ने काश्तकारों द्वारा जुताई की किसी भी व्यवस्था के विरुद्ध सिफारिश की ओर यह कहा कि विधवाओं, अव्यवस्कों और अपंग व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य भू स्वामियों द्वारा भूमि का पट्टे पर दिये जाने का निषेध होना चाहिये। इस विचार को विविध पंचवर्षीय योजनाओं में और सशक्त किया गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अनुसार मध्यस्थ पट्टेदारी की समाप्ति और काश्तकार के साथ राज्यों के सीधे सम्पर्क से जोतने वाले को क षिक व्यवस्था में उसका उचित स्थान मिलेगा और उसे बढ़ते क षि उत्पादन बढ़ाने के लिये पूर्ण प्रोत्साहन मिलेंगे।

स्वतंत्रता के तुरंत बाद, यद्यपि मुख्य बल मध्यस्थता की समाप्ति पर था, विद्यमान काश्तकारी कानूनों में पूर्व मध्यस्थों के काश्तकारों की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुये कुछ संशोधन किये गये। किन्तु इन वैधानिक उपायों ने भू-स्वामियों को वैधानिक और वैधानिकतर तरीकों से बड़ी संख्या में बटाईदारों, उप काश्तकारों और काश्तकारों को बेदखल करने के लिये उकसाया। त्रुटिपूर्ण भूमि खातों, मौखिक काश्तकारी, किराये की रसीद की अनुपस्थिति बटाईदारों को काश्तकार के रूप में कानूनी मान्यता का अभाव और काश्तकारी के कानूनों में बहुत से (दण्डात्मक) प्रावधानों का भू-स्वामियों ने सभी प्रकार के काश्तकारों को बेदखल करने के लिये उपयोग किया। इस प्रव ति का विरोध करने के लिये सरकार के लिये आने

वाले वर्षों में कानून बना कर अवैधानिक बेदखली के विरूद्ध पर्याप्त सुरक्षा प्रदान करने और काश्तकार को पट्टेदारी की सुरक्षा सुनिश्चित करना आवश्यक हो गया था।

कुल मिलाकर पट्टेदारी में विविध राज्यों के द्वारा अपनाए गए, उपायों की चार विशिष्ट श्रेणियां बनीं। सर्वप्रथम, तो कई राज्यों के काश्तकारी कानून (आंध्र प्रदेश (तेलंगाना), बिहार, हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश) में अपंग भू-स्वामियों के अतिरिक्त सभी का क षि भूमि का पट्टे पर देना निषेध कर दिया गया जिससे वास्तविक जोतने वाले का भूमि पर स्वामित्व बना रहे। किंतु इन सभी राज्यों में छिपे रूप में पट्टेदारी जारी रही।

दूसरे, केरल राज्य ने बिना किसी अपवाद को ध्यान में रखे क षि पट्टेदारी निषेध की। तीसरे, पंजाब, हरियाणा और गुजरात ने पट्टेदारी का एकदम निषेध नहीं किया, बल्कि, काश्तकारों को कुछ सुनिश्चित वर्षों मे निरंतर अधिकार के बाद जुताई की गई भूमि को खरीदने का अधिकार दे दिया। हालाँकि इन राज्यों में छोटे और बड़े किसानों द्वारा पट्टेदारी जारी रही। वास्तव में विपरीत पट्टेदारी की ओर प्रव ति, जिसमें बड़े किसानों ने पट्टेदारी वाली भूमि सीमांत किसानों से ली, का चलन साठ के दशक से हरित क्रांति के आगमन पर हुआ।

चौथे पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, तमिलनाडू और आंध्र प्रदेश के आंध्र क्षेत्र में क षि भूमि की पट्टेदारी निषेध नहीं की गई। किन्तु बटाईदारों को पट्टेदार के रूप में मान्यता भी नहीं दी गई। पश्चिमी बंगाल ने तो 'आपरेशन बरगा' प्रारंभ होने के बाद 1979 में ही बटाई फसलदारों को काश्तकार के रूप में मान्यता दी है।

लगभग सभी राज्य सरकारों ने किराये के नियंत्रण का विधान रखा (केरल को छोड़ कर जहाँ पट्टेदारी पूर्णतया निषेध थी)। वैधानिक और उचित किराया उत्पाद के 1/4 से 1/6 भाग के बीच में माना गया था। किंतु वास्तविक किराया हमेशा वैधानिक या उचित किराये से हमेशा अधिक ही रहा। कई स्थानों पर, जहाँ छोटे या सीमांत किसानों ने बड़े किसानों से भू-पट्टदारीपर भूमि ली, स्थिति शोषणपूर्ण थी। इस ने वास्तविक भूमि जोतने वालो को भूमि की दक्षतापूर्वक जुताई से हतोत्साहित किया।

3.3.3 भू-धारण सीमा का निर्धारण

'भू-जोतों पर सीमा' से तात्पर्य वैधानिक रूप से तय उस अधिकतम आकार से है जिससे अधिक भूमि कोई व्यक्तिगत किसान या किसान परिवार नहीं रख सकता। अन्य भूमि सुधार उपायों की तरह, ऐसी सीमा का उद्देश्य सामाजिक न्याय के साथ आर्थिक उन्नति को प्रोत्साहित करना था। यह भारत के योजनाकारों और नीति निर्माताओं ने भली-भांति पहचान लिया था कि एक बिंदु से परे बड़े पैमाने पर खेती भारतीय स्थिति में न केवल अनार्थिक है अपितू अन्यायपूर्ण भी है। छोटे फार्म में संसाधन प्रयोग की आर्थिक दक्षता भी है। छोटे फार्मों में रोजगार उत्पत्ति एवं अधिक न्यायसंगत आय वितरण के द्वारा संसाधन प्रयोग कुशलता और सामाजिक समता को बढ़ाने की प्रव ति होती है। सी.एच. हनुमंथ राव के अनुसार बड़े फार्मों की अपेक्षा छोटे फार्म अधिक रोजगार के अवसर प्रदान करते हैं। अतः यदि बड़े फार्म अपेक्षाक त क्षेत्र की प्रति इकाई अधिक उत्पादन करते हैं, तो भी वे देश में फैली बैरोजगारी और अर्ध-रोजगार की स्थिति के निवारण में अधिक दक्ष नहीं समझे जा सकते।

1959 में, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (नागपुर प्रस्ताव) ने प्रस्ताव रखा कि 1959 के अंत तक सभी राज्यों में भू-जोतों के आकार पर नियंत्रण का कानून अवश्य लागू हो। इसी के अनुसार उत्तर पूर्वी प्रदेश को छोड़ कर सभी राज्य सरकारों ने 1960 के दशक में भू-जोतों पर सीमा लागू कर दी। पश्चिमी बंगाल और जम्मू कश्मीर ने तो पहले ही 1950 के प्रारंभ में मध्यस्थता की समाप्ति के कानून के साथ भू-जोतों पर सीमा लगा दी थी। फिर भी, 1959 के नागपुर

प्रस्ताव का महत्वपूर्ण प्रभाव यह था कि बहुत-सी राज्य सरकारों ने भू-धारण सीमा कानून तत्काल पास किए। गुजरात क षि भूमि सीमा विधेयक 1960, उड़ीसा भूमि सुधार विधेयक 1969, उत्तर प्रदेश में भू–जोतों पर सीमा विधेयक 1960 का लागू होना, बिहार भूमि सुधारों (सीमा क्षेत्र का सुनिश्चिति करण और अधिशेष भूमि अधिग्रहण विधेयक 1961), कर्नाटक भूमि सुधार विधेयक 1961, महाराष्ट्र क षि भूमि विधेयक (भू-जोतों पर सीमा) 1960, तमिलनाडू का भूमि सुधार (सीमा भूमि का निश्चित करना) विधेयक 1961, और केरल भूमि सुधार विधेयक 1963 आदि सब नागपुर के भूमि सुधार प्रस्तावों का परिणाम थे। फिर भी, पश्चिमी बंगाल और जम्मू कश्मीर के अतिरिक्त सीमा कानून जमींदारी की समाप्ति एक साथ लागू हुए। अतः बहुत से नामी और बेनामी भूमि हस्तांतरण किये गये। इसने संभावित सीमा अधिशेष भूमि, जो पुनर्वितरण के लिये उपलब्ध हो सकती थी, को कम कर दिया। इसके अतिरिक्त बहुत से राज्यों, जैसे, आंध्र प्रदेश, असम, बिहार, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू और कश्मीर, उड़ीसा, पंजाब, उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल ने एक व्यक्ति को सीमा के लिये आवेदन की इकाई के रूप में स्वीकार किया जबकि गुजरात, कर्नाटक, केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान और तमिलनाडू में परिवार को आवेदन देने की इकाई के रूप में मान्यता दी गई। तालिका 3.1 में विविध राज्यों द्वारा निश्चित सीमाओं को प्रस्तुत कर रहे हैं।

तालिका 3.1

1960-1970 के दौरान भू-जोतों पर लगाई गयी सीमा

राज्य	**सीमा का स्तर (है०)**
आन्ध्र प्रदेश	10.93 से 131.13
असम	20.23
बिहार	9.71 से 29.14
गुजरात	4.05 से 53.14
हरियाणा	12.14 से 24.38
जम्मू और कश्मीर	9.21
केरल	6.07 से 15.18
मध्य प्रदेश	10.12
उड़ीसा	8.09 से 32.37
पंजाब	12.14 से 24.28
राजस्थान	8.09 से 135.97
तमिल नाडू	12.14 से 48.56
उत्तर प्रदेश	16.19 से 32.37
पश्चिम बंगाल	10.12

तालिका में यह तो स्पष्ट देखा जा सकता है कि कई राज्यों में सीमा काफी ऊंची थी। इसके अतिरिक्त भूमि की निम्नलिखित श्रेणियों को सीमा कानूनों से बाहर रखा गयाः

1) चाय, काफी, रबड़, कोको और इलायची के बागानों के अंतर्गत भूमि
2) गुलाब, चमेली, केसर, ताड़ की क षि के लिये प्रयुक्त भूमि, जब ऐसी भूमि के जोतने वाले के पास क षि के लिये इसके अतिरिक्त भूमि न हो (उत्तर प्रदेश)
3) गन्ने के फार्म
4) सहकारी बागान कॉलोनी
5) कुण्ड मत्स्यकी
6) 4 हैक्टर तक का बागान क्षेत्र (पंजाब और हरियाणा)
7) सहकारी खेती और सहकारी संस्थाओं, जिनमें भूमि गिरवी रखने वाले बैंक भी आते है, के पास की भूमि
8) धार्मिक, समाज सेवी और शिक्षा संस्थानों द्वारा अधिक त भूमि
9) बहादूरी के लिये उपहार मिली भूमि
10) गन्ने फैक्टरियों के अधिकार की भूमि
11) राज्य एवं केन्द्र सरकार के अधिकार की भूमि
12) सार्वजनिक क्षेत्र के औद्योगिक या व्यवसायिक उपक्रम के अधिकार की भूमि
13) ग्राम सभा, भू-दान और ग्रामदान समिति के अधिकार की भूमि
14) किरायेदारी कानून के अंतर्गत गैर-क षि और औद्योगिक विकास के लिये सुरक्षित क्षेत्र की भूमि
15) पशु प्रजनन, डेरी और ऊन के फार्मों के लिये निश्चित फार्म
16) सार्वजनिक क्षेत्रक या व्यावसायिक उपक्रम, शोध फार्म या निजी वनों में की अन्य भूमि की विभिन्न श्रेणियाँ

सीलिंग कानूनों द्वारा दी गयी इन छूटों ने भूमि के वर्गीकरण के फेरबदल द्वारा कानून को तोड़ने की समस्याओं में, बढ़ोतरी की। सीमा अधिशेष भूमि के पुनर्वितरण के लिये उपलब्ध आकार भी बाद में भी कमी आ गई।

3.3.4 भू-दान और ग्राम दान

भू-दान आंदोलन 1951 में प्रारंभ हुआ, इसके तत्काल बाद आंध्र प्रदेश के तेलगांना प्रदेश में किसान आंदोलन और उसके कुछ वर्षों बाद 1957 मे ग्राम दान आंदोलन प्रारंभ हुआ। इसका उद्देश्य भू-स्वामियों और पट्टेधारियों को अपने भूमि अधिकारों का त्याग करने के लिये तैयार करना था जिसके बाद सारी भूमि का समतापूर्ण वितरण कर उसे संयुक्त जुताई के उद्देश्य के लिये ग्राम संस्था की संपत्ति बनाना था। विनोबाभावे ने भू-दान और ग्राम दान के द्वारा भूमि निजी स्वामित्व को दूर करने की आशा की और कहा कि भूमि के न्यायिक वितरण, जोतों के समेकन और उनकी संयुक्त जुताई निश्चित करने के लिये यह आंदोलन बहुत प्रभावी होगा।

किन्तु ये आंदोलन अपने लक्षित उद्देश्यों को पाने में असफल ही रहे। हद भूमि अधिग्रहरण और भूमि वितरण दोनों में ही इनकी सफलता सीमित रही।

भू-दान से प्राप्त, 42.6 लाख एकड़ कुल भूमि में से 17.3 लाख एकड़ को अस्वीक त कर दिया गया क्योंकि यह जुताई के योग्य नहीं थी। लगभग 11.9 लाख एकड़ वितरित किया गया और 13.4 लाख एकड़ वितरण के लिये शेष रही। अधिकतर मामलों में, गांव के भू-स्वामियों ने केवल वही भूमि दान की जो या जुताई योग्य नहीं थी या जिस पर उनका काश्तकार या सरकार से विवाद था। वास्तव में भू-स्वामियों ने अपनी विवादित भूमि को एक समझौते के फार्मूले की तरह देना बेहतर समझा क्योंकि वर्तमान कानून में उन्हें इस भूमि को पाने की बहुत कम आशा थी।

ऐसी भूमि दान के बदले, भू-स्वामियों को आगत सहाय्य और अन्य प्रकार सुविधायें मिली जो किसी भी तरह से जुताई के लिये अयोग्य भूमि को देने के लिये कम फुसलाने वाला नहीं है। और फिर, ग्राम दान आंदोलन में यह प्रावधान कि भूमि का निजी स्वामित्व समाप्त होना है, से केवल भू-स्वामियों के भूमि बेचने का अधिकार ही नियन्त्रित होता था (हालांकि निषेध नहीं था)। बच्चों के ऐसी भूमि पर उत्तराधिकार के अधिकार सुरक्षित थे।

3.3.5 आदिवासी भूमि की सुरक्षा

सभी सबंद्ध राज्यों ने आदिवासियों के भूमि से अलगाव को निधेष करने के कानून बनाये। सभी अनुसूचित क्षेत्रों में आदिवासी से गैर आदिवासी जनसंख्या को भूमि का हस्तांतरण कानूनी रूप से निषिद्ध था। किंतु वैधानिक त्रुटियों और प्रशासनिक कमियों के कारण बड़े स्तर पर आदिवासियों का भूमि से प थक्कीरण जारी रहा। वास्तव में, निर्धनता और कर्जे के कारण भूमि को साहूकारों के पास गिरवी रखने, सिंचाई, बांध और अन्य सार्वजनिक उद्देश्यों के लिये आदिवासी भूमि का अधिग्रहण आदिवासी भूमि के हस्तातंरण के लिये बहुत सीमा तक उत्तरदायी थे। भूमि आदिवासियों की जीविका का मुख्य स्रोत हैं और उनमें ऊर्ध्व गतिशीलता नही हैं। अतः सार्वजनिक उद्देश्य के लिये आदिवासी भूमि का व्यापक रूप से अधिग्रहण बन्द होना चाहिये।

3.3.6 जोतों की चकबन्दी

'जोतों की चकबंदी' से तात्पर्य है एक जोतकार के सभी भू-खंडों को एक खंड में लाना या वखंडित भूमि का एकीकरण और पुर्नवितरण। भूमि पर जनसंख्या के बढ़ते दवाब के कारण और गैर क षि क्षेत्रक में कार्य के सीमित अवसरों के कारण भू-जोतों के विखण्डन और उप-विभाजन की प्रवत्ति बढ़ रही है, जिससे सिंचाई प्रंबधन, भूमि सुधार और विभिन्न भूखंडों की व्यक्तिगत देखभाल का कार्य बहुत कठिन हो जाता है।

स्वतंत्रता के बाद तमिलनाडू केरल और मणिपुर, नागालैंड त्रिपुरा और आंध्र प्रदेश के कुछ भाग को छोड़ कर जोतों के समेकन के लिये कानून लागू किए गए। किंतु विधान की प्रक ति और प्राप्त सफलता की सीमा भिन्न रही। जब कि पंजाब में (हरियाणा मिला कर) यह आवश्यक बनाया गया, दूसरे राज्यों में, कानून ने बहुसंख्यक भू-स्वामियों की सहमति से स्वेच्छा से समेकन का प्रावधान रखा।

सामान्य तौर पर, चकबंदी विधेयक में प्रावधान थाः (i) एक निश्चित क्षेत्र से नीचे विखंडन का निषेध, (ii) हस्तांतरण को विधिवत करने के लिये न्यूनतम क्षेत्र सुनिश्चित करना, (iii) जोतों के आदान प्रदान द्वारा समेकन की योजनायें, (iv) सांझे क्षेत्र के लिये भूमि का निर्धारण, (v) आदान प्रदान में कम बाजार मूल्य की जोतों को पाने वाले व्यक्ति को मुआवजे की प्रक्रिया, (vi) समेकन योजनाओं को चलाने के लिये प्रशासनिक तंत्र, (vii) आपत्तियों, अपीलों और जुर्माने का प्रावधान।

पर्याप्त राजनैतिक और प्रशासनिक सहयोग की कमी के कारण जोतों की चकबंदी की प्रगति बहुत संतोषप्रद नहीं रही (पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश को छोड़कर जहाँ समेकन का कार्य पूर्ण किया गया)। किंतु इन राज्यों में भी बढ़ते जनसंख्या दवाब के कारण बाद में हुए जोतों के विखण्डन के कारण पुनःचकबंदी की आवश्यकता पैदा हो गयी है।

बोध प्रश्न 2

1) 1950 में जमींदार की समाप्ति के क्या प्रभाव रहे?

....

....

....

....

....

2) भू-जोतों पर सीमा का क्या अर्थ है? इसका क्या उद्देश्य है? किस हद तक भू-जोतों की सीमा का उद्देश्य प्राप्त हो सका है? इस कार्य में असफलता के क्या कारण रहे हैं?

....

....

....

....

....

3) जोतों की चकबंदी की योजना क्यों असफल रही हैं?

....

....

....

....

....

3.4 उचित फार्म व्यवस्था का चुनाव

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद फार्म व्यवस्था के चुनाव पर वाद विवाद था। कुमारप्पा समिति (1949) ने विचार प्रकट किया कि क षक द्वारा स्वयं जुताई ही सर्वाधिक, फिर भी, छोटे किसानों को सहकारी या सयुंक्त खेती की योजना के अन्तर्गत संगठित करना चाहिये। इसके अतिरिक्त सयुंक्त खेती और सरकारी खेती को सुधारी गई बंजर भूमि के विकास के लिये अपनाना चाहिए। इनके माध्यम से वहां भूमिहीन क षि श्रमिकों को बसाया भी जा सकता था। पहली पंचवर्षीय योजना के अनुसार, छोटे भू-स्वामियों के द्वारा सहकारी खेती दक्षता को सुनिश्चित करती थी। दूसरी पंचवर्षीय योजना ने निश्चित किया कि सहकारी खेती के विकास के लिये कदम उठाये जाने चाहिये। तीसरी पंचवर्षीय योजना ने इस प्रस्ताव पर सहमति दी किंतू यह भी बात रखी कि भूमि सुधार कार्यक्रमों के परिपालन के साथ देश के बहुसंख्य जोतकारों के पास किसान स्वामित्व वाली भूमि होगी। इसे प्रोत्साहित किया जाना

चाहिये और उनके स्वेच्छा आधार पर वित्त, विपणन, प्रक्रमण, वितरण और उत्पादन के लिये स्वयं को संगठित करने में मदद करनी चाहिये।

3.5 क षिक संरचना में परिवर्तन

स्वतंत्रता के बाद 1950 और 1960 के दशकों में बहुत से भूमि सुधार उपाय किये गये जो स्वरूप और प्रभाव में बहुत क्रांतिकारी समझे गये। जमींदारी प्रथा की समाप्ति के साथ उत्पादन का सामन्तवादी तरीका भी समाप्त हो गया। पट्टेदारी के अन्तर्गत क्षेत्र का भाग अनुपात भी घटा।

फिर भी, पट्टेदारी में हुए सुधार सकारात्मक प्रभाव पैदा करने में असफल रहे, क्योंकि, इच्छानुसार काश्तकारों की बहुत बड़ी संख्या को भूमि से बेदखल कर दिया गया। जोतों के समेकन के लाभ भी पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश तक सीमित रहे।

अतः 1950 और 1960 के दशकों में स्वतंत्रता बाद के भूमि सुधारों के पहले दौर के मिले जुले परिणाम ही रहे। इसे इस प्रकार से ही सफल कहा जा सकता है कि मध्यस्थों का सफाया हुआ और उससे क षि उत्पादकता में सुधार के लिये आधार तैयार हुआ। फिर भी, असमान क षिक संरचना अपने स्थान पर बनी रही। 1953-54 में लगभग 8% स्वामित्व जोतों मे कुल क्षेत्र का 51% आता था जबकि 1971 में लगभग 90% जोतों में कुल भूमि का 54% आता था। अखिल भारतीय स्तर पर बहुत से राज्यों में गिनी गुणांक द्वारा मापित समग्रित अनुपात में मामूली गिरावट 1960 के दशक में आई, किन्तु बिहार, पंजाब और हरियाणा, तमिलनाडू, उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल में यह बढ़ा। दूसरे शब्दों में, भू-स्वामित्व के विषय में असमान शक्ति संरचना की ओर बढ़ती हुई प्रव ति पायी गई (तालिका 3.2)। यद्यपि जोतों का औसत आकार 1953-54 में 2.39 है० से घट कर 1971 में 2.21 है० हो गया है, फिर भी कई राज्यों में, फार्मों के औसत आकार में व द्धि भी हुई है।

तालिका 3.3 : राज्य द्वारा स्वामित्व भूधारण में केन्द्रीकरण अनुपात

राज्य	1961	1971
आन्ध्र प्रदेश	0.764	0.732
बिहार	0.701	0.712
गुजरात	0.683	0.683
केरल	0.756	0.702
मध्य प्रदेश	0.632	0.621
महाराष्ट्र	0.707	0.682
कर्नाटक	0.663	0.663
उड़ीसा	0.684	0.645
पंजाब और	0.749	0.776
हरियाणा	NA	0.753
राजस्थान	0.654	0.607
तमिल नाडू	0.749	0.751
उत्तर प्रदेश	0.621	0.631
पश्चिम बंगाल	0.666	0.672
ऑल इंडिया	0.720	0.710

स्रोत : टी.हक और ए.एस.सीरोही (1986)

3.6 भू-धारण प्रणाली

स्वामित्व जोतों के आकार वर्गों द्वारा कुल अधिक त क्षेत्र के वितरण की सबसे पहली व्यापक तस्वीर 1953-54 वर्ष से संबंधित व्यापक तस्वीर राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (8वॉ दौर) द्वारा प्रस्तुत की गई।

भू-धारण/जोतों के प्रतिमान की चर्चा में हम स्वामित्व जोतों के आकार वितरणों के साथ जुताई या संचालित जोतों (फार्मों) को भी सम्मिलित करते हैं। स्वामित्व जोतों से तात्पर्य एक परिवार के अधिकार के क्षेत्र से है। दूसरी ओर जुताई और संचालित जोतों से तात्पर्य एक परिवार द्वारा जोते या संचालित क्षेत्र से है (संचालित जोत = स्वामित्व जोत – पट्टे पर दी गई भूमि + पट्टे पर ली गई भूमि)। स्वामित्व की जोतें और जुताई वाली जोतें या तो एक एकल भू-खंड के रूप में या विभिन्न स्थानों में बिखरे कई भू-खंडों में हो सकती हैं। जब भू-धारण कई बिखरे भू-खंडों में है उसे 'विखण्डित जोत' और ऐसी जोतों की उत्पन्न करने वाली प्रक्रिया विखंडन कहलाती है। भारत में भू-धारण के विखंडन की सीमा की तस्वीर देने का यहाँ प्रयास किया गया है।

हमारा उद्देश्य 1947-48 के भारतीय क षि क्षेत्रक में जोतों के वितरण की ओर ध्यान केन्द्रित करना है, क्योंकि ऐसा वितरण न केवल भारतीय क षि अर्थव्यवस्था की संरचना का महत्वपूर्ण पक्ष है अपितु यह अन्य आगतों की संरचना, जोतों के प्रतिमान से प्रभावित दूसरे आगतों के प्रयोग की व्याख्या भी करता है।

3.6.1 जोतों के स्वामित्व की पद्धति

जोतों के स्वामित्व के प्रतिमान पर ध्यान केन्द्रित करते हुये यह देखा जा सकता है कि 1953-54 में लगभग 3100 लाख एकड़ भूमि ग्रामीण परिवारों के अधिकार में थी। यह कुल भौगोलिक क्षेत्र का 38.4 प्रतिशत और भू-आक तिक रूप से उपयोग योग्य भूमि का 61% था। ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि का एक भाग, निस्संदेह रूप से शहरी परिवारों के स्वामित्व में भी था। इस कुल अधिक त क्षेत्र (3100 लाख एकड़) पर 660 लाख परिवार का स्वामित्व था।

ग्रामीण क्षेत्रों में इस प्रकार भू-जोत (स्वामित्व) का औसत आकार केवल 4.72 एकड़ था। किन्तु जब हम जोतों के आकार वितरण को देखते है स्थिति बदतर दिखाई देती है।

ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग 22 प्रतिशत परिवारों के पास कोई भूमि नहीं थी। ये परिवार मुख्यतः क षि श्रमिकों के थे जिनके पास कोई भूमि नहीं थी। छोटे जुताई काश्तकारों के अगले 24.9 प्रतिशत परिवारों के पास कुल मिलाकर केवल 1.4 प्रतिशत भूमि ही थी इनमें से प्रत्येक के पास एक एकड़ से कम आकार का क्षेत्र था। इसके विपरीत, एक प्रतिशत से कम परिवारों के अधिकार में कुल क्षेत्र का 16 प्रतिशत था और इन में से प्रत्येक के पास 50 एकड़ या उससे ऊपर भूमि थीं। यदि हम इस एक प्रतिशत से निम्नतर समूह को भी जोड़ लें तो लगभग 3.4 प्रतिशत परिवारों का कुल क्षेत्र के 34 प्रतिशत पर स्वामित्व था। निम्नतम आकार समूह में (0.01 से 0.99 एकड़) जोतों का औसत आकार लगभग 0.26 एकड़ था, जबकि 50 एकड़ से ऊपर के आकार समूह में औसत लगभग 87.4 एकड़ था। यह इंगित करता है कि भू-जोतों के स्वामित्व में बहुत अधिक असमानता थी।

भू-धारण के स्वामित्व में सर्वाधिक असमानता दक्षिण भारत में दिखाई देती रही है। वहाँ केन्द्रीकरण अनुपात 0.74 था और उत्तर भारत तथा पश्चिम भारत में विषमता सबसे कम थी, जहाँ केन्द्रीकरण अनुपात 0.64 थे। भू-जोतों का औसत आकार दक्षिण भारत में सबसे कम था (लगभग 3.42 एकड़), जबकि मध्य भारत में सबसे अधिक था (लगभग 8.29 एकड़)।

भू-जोत स्वामित्व वितरण में ऐसी अतिशत असमानता ने क षि अर्थव्यवस्था को किस हद तक प्रभावित किया? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है। यह ज्ञातव्य कि जुताई की दक्षता जो भूमि के साथ, अन्य उचित संयोगों पर निर्भर हैं (कम से कम सैद्धान्तिक रूप में), स्वामित्व के प्रतिमान से मुक्त होती है।

3.6.2 संचालित जोतों की धारण पद्धति

वह अवधारणा, जो क षि संचालन की दक्षता के लिये अधिक उचित है, 'संचालित' या 'जुताई' भू-धारण की अवधारणा है। इस पर इस खंड में विचार किया जायेगा। सैद्धांन्तिक रूप में स्वामित्व के अधिक प्रतिकूल वितरण के साथ भी, पट्टे पर देने और पट्टे पर लेने की प्रक्रिया के द्वारा, दक्ष तकनीक साथ कम असंगत या उत्पादित और पैमाने के प्रतिफलों के अनुरूप संचालित जोतों का एक प्रतिमान प्राप्त करना संभव हो सकता है। एक सत्य यह भी है, कि यदि बड़े भू-स्वामियों द्वारा बहुत कम भूमि पट्टे पर दी जाती और छोटे किसानों द्वारा बहुत कम पट्टे पर ली जाती हो तो संचालित जोतों का प्रतिमान स्वामित्व प्रतिमान जैसा ही दीखता, उस दशा में बहुत अधिक छोटे–छोटे खेत (संचालित जोतें) और खेत इतने बड़े होते कि उनमें दक्षता संभव नहीं हो पाती।

तालिका 3.3 दर्शाती है कि, यद्यपि जोतों के केन्द्रीकरण में भूमि सुधार कानून से कुछ गिरावट आई, लेकिन भूमि वितरण में भारी विषमता ही रही। 1953-54 में जोतों का निम्नतम 60 प्रतिशत वर्ग 15.5 प्रतिशत क्षेत्र का प्रयोग कर रहा था जबकि 1960-61 में निम्नतम 62 प्रतिशत जोतें 19 प्रतिशत क्षेत्र का प्रयोग कर रही थी। दूसरी ओर 1953-54 में उच्चतम 5.8 जोतें 36.6 क्षेत्र में संचालित थी जबकि 1960-61 में उच्चतम 4.5 प्रतिशत जोतें 29 प्रतिशत क्षेत्र का प्रयोग कर रहीं थीं।

तालिका 3.3 : संचालित क षि जोतों का आकार वितरण, 1953-54 और 1960-61

	1953-54		1960-61	
आकार (एकड़)	**कुल जोतों का प्रतिशत**	**संचालित क्षेत्र का प्रतिशत**	**कुल जोतों का प्रतिशत**	**संचालित क्षेत्र का प्रतिशत**
बहुत छोटा (0.99 तक)	19.7	1.1	17.1	1.3
छोटा (1.00-4.99)	40.3	14.4	44.6	17.9
मध्यम (15.00-24.99)	6.7	16.8	6.0	17.0
बड़ा (25.00-49.99)	4.3	19.6	3.5	17.4
बहुत बड़ा (50.00 से ज्यादा)	1.5	17.0	1.0	11.6
कुल	**100.0**	**100.0**	**100.0**	**100.0**

बोध प्रश्न 3

1) स्वतंत्रता के बाद भारत में किस प्रकार की फार्म व्यवस्था का सर्वाधिक उपयुक्त समझा गया?

....

....

....

....

....

2) सहकारी खेती से आपका क्या तात्पर्य है?

....

....

....

....

....

3) क षिक सुधारों का क षिक संरचना पर क्या प्रभाव पड़ा?

....

....

....

....

....

4) स्वामित्व जोतों और संचालित जोतों में भेद करें।

....

....

....

....

....

5) 1953-54 की तुलना में 1961-62 में पट्टे पर दिये गये क्षेत्र (leased in area) में गिरावट के कारण बताइए।

....

....

....

....

3.7 सारांश

1950 और 1960 के दशकों में क षिक सुधारों की दिशा में किये महती प्रयत्नों के बाद भी क षिक संरचना की स्थिति अत्यंत असंतोष जनक रही। क षिक संबधों के लिये गठित योजना आयोग के कार्य दल के अनुसार : 'यद्यपि मध्यस्थ पट्टेदारी की समाप्ति के लिये बने कानुनों को तत्परता से लागू किया गया, किन्तु, काश्तकारी सुधार और काश्तकारी कानून नीति की घोषित कसौटी पर खरे नहीं उतरे। बटाईदार के रूप में अति शोषक काश्तकारी देश के कई भागों में बनी रही। ऐसे काश्तकारी प्रबंधन न केवल सामाजिक और आर्थिक अन्याय को बढ़ावा देते हैं बल्कि, क षि के आधुनिकीकरण में बाधा भी डालते हैं। इसके अतिरिक्त हरित क्रांति के परिणामस्वरूप जहाँ अमीर क षकों की दशा सुधरी, वहीं, श्रमिक और निर्धन काश्तकारों की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया। वास्तव में, इन्हीं असफलताओं ने भूमि संबंधी विवादों को, जिसमें नक्सली आंदोलन भी सम्मिलित है, कई स्थानों पर बढ़ावा दिया।

3.8 शब्दावली

भू-दान और ग्रामदान : इसका संबंध 1951 में विनोवा भावे द्वारा प्रारम्भ किये गये भूमि सुधार कार्यक्रमों से है। इसमें भू-स्वामियों को उनके भू-अधिकारों को त्यागने के लिये राजी किया गया जिसके बाद सारी भूमि समान वितरण या संयुक्त क षि के लिये गांव की संपत्ति बन गई।

जोतों की सीमा : इसका संबंध अधिकतम सीमा निर्धारण से है, जिससे अधिक भूमि कोई अपने पास नहीं रख सकता।

जोतों की चकबंदी : इसका तात्पर्य एक क षक के बिखरे हुए भू-खंडों को एक साथ संयुक्त खेत के रूप में एकत्र करने से है।

जोतने वाले को भूमि : इसका अर्थ भूमि पट्टेदारी की उस व्यवस्था से है जिसमें वास्तविक जोतकार या क षक को स्वामित्व या भोगाधिकार भी दिया जाये।

महालवारी व्यवस्था : भू-काश्तकारी की उस व्यवस्था से है जिसमे 1833 अधिनियम के IX विधान के अनुसार सम्पूर्ण ग्राम के भू-अधिकार निश्चित किये गये। इसमें प्रत्येक किसान को अपनी भूमि के आकार के अनुसार गांव की कुल राजस्व मांग में योगदान देना था। यह पंजाब और संयुक्त प्रांत के कुछ भागों में प्रचलित थी।

आश्रयदाता-काश्तकार संबंध : इसका तात्पर्य शोषक क षिक संबंधों से है जिसमें भू-स्वामी काश्तकारों या श्रमिकों का शोषण करता है फिर भी उनकी भू-स्वामियों पर निर्भरता के कारण काश्तकार या वास्तविक कामगार संबंधों को तोड़ नहीं सकते।

रैयतवारी व्यवस्था : भूमि पट्टेदारी की वह व्यवस्था है जिसमे प्रत्येक रैयत को कानून द्वारा भू-स्वामी के रूप में मान्यता मिली। जिसमें हस्तांतरण या गिरवी रखने या भूमि को आगे किराये पर देने के भी अधिकार थे। यह मुख्यतः बम्बई और मद्रास के क्षेत्रों में 1822 के अधिनियम के VII विधान के अंतर्गत किया गया।

जमींदारी व्यवस्था : इसका तात्पर्य भू-पट्टेटारी की उस व्यवस्था से है जिसमें मध्यस्थों के भूमि संबंधी अधिकार की रचना 1793 में लार्ड कार्नवेलिस (Cornwalis) ने स्थायी बन्दोबस्त द्वारा की गई थी। ये बाद में अस्थायी बंदोबस्त व्यवस्था में भी बने रहे।

3.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Haque, T and A.S. Sirohi, 1986, *Agrarian Reforms and Institutional Changes in India*, Concept Publishing Company, New Delhi.

National Commission on Agriculture, 1976. *Report on Agrarian Reforms*. No.XV, Government of India, New Delhi.

Planning Commission, 1973, *Task Force on Agrarian Relations*, Government of India.

3.10 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

बोध प्रश्न 1

1) भाग 3.1 और 3.2 देखें और उत्तर दें।

2) भूमि सुधार के उद्देश्य भाग 3.2 के अंत में दिये गये हैं।

3) भाग 3.2 पढ़ें और उत्तर दें।

बोध प्रश्न 2

1) उप-भाग 3.3.1 देखें और उत्तर दें।

2) उप-भाग 3.3.3 देखें और उत्तर दें।

3) उप-भाग 3.3.6 में कारणों का विवरण देखें।

बोध प्रश्न 3

1) भारत में क षक द्वारा स्वयं जुताई ही भू-धारण की सर्वाधिक उपयुक्त व्यवस्था मानी गयी है।

2) इसमें छोटी जोतों के किसानों को एकत्र करके उनकी संयुक्त रूप से जुताई की जाती है।

3) भाग 3.5 देखें और उत्तर दें।

4) भेद भाग 3.6 के दूसरे अनुच्छेद में दिया गया है।

5) उप-भाग 3.6.2 पढ़िये और उत्तर दें।

इकाई 8 ग्रामीण औद्योगिकीकरण कार्यक्रम

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 ग्रामीण उद्योगों की प्रकृति

8.3 ग्रामीण उद्योगों की भूमिका

8.4 ग्रामीण शिल्पकार

8.4.1 ग्रामीण शिल्पकारों की मुख्य विशेषताएं

8.4.2 शिल्पकारों की समस्याएं

8.5 खादी और ग्रामीण उद्योग

8.6 कृषि आधारित और कृषि प्रसंस्करण उद्योग

8.6.1 कृषि आधारित उद्योगों की परिभाषा

8.6.2 कृषि आधारित उद्योगों के विशिष्ट लक्षण

8.6.3 कृषि प्रसंस्करण उद्योगों के लिए सम्भावनाएं

8.7 भारत में ग्रामीण उद्योगों की समस्याएं

8.8 सहायता के सरकारी उपाय

8.9 सरकारी नीति का प्रभाव

8.10 ग्रामीण उद्योग नीति के लिए सुझाव

8.11 सारांश

8.12 शब्दावली

8.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

8.14 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

8.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप जानेंगे:

- ग्रामीण उद्योगों की प्रकृति और विशिष्टताएं;
- भारत के आर्थिक विकास में ग्रामीण उद्योगों की भूमिका;
- ग्रामीण शिल्पकारों के सम्मुख आने वाली समस्याएं;
- खादी और ग्राम उपयोग समिति की भूमिका;
- खादी और ग्रामीण उद्योग समिति की भूमिका; तथा
- ग्रामीण औद्योगिकरण कार्यक्रम में सरकार की भूमिका।

8.1 प्रस्तावना

पशुपालन, डेरी व्यवसाय, मुर्गीपालन, मछली-पालन और वानिकी खेती बाड़ी की अनुषांगिक गतिविधियां हैं। पिछली दो इकाईयों में हमने इन गतिविधि क्षेत्रकों के विभिन्न पक्षों का परीक्षण किया है। सहायक गतिविधियों के साथ ग्रामीण उद्योग, जिनमें कृषि प्रसंस्करण गतिविधियां भी सम्मिलित हैं, का विकास स्वयं कृषि के विकास के लिये आवश्यक है। विशेषकर जब 75% जोतों का क्षेत्रफल औसतन एक हैक्टर हो तब तो इनका महत्व और भी बढ़ जाता हैं। परिणामस्वरूप अधिकतर कृषकों को गरीबी रेखा से ऊपर उठाने के लिये पूरक आय की

आवश्यकता होती है। ग्रामीण उद्योग कृषि आय का एक अच्छा विकल्प है। इस इकाई में हम कुटीर औद्योगिकरण के स्वरूप, प्रकृति और वर्तमान अवस्था का अध्ययन करेंगे ।

8.2 ग्रामीण उद्योगों की प्रकृति

कुटीर उद्योगों में वे सभी उद्योग सम्मिलित हैं जो ग्रामीणों द्वारा अपने घर या घर के आस-पास पूर्णकालिक या अंशकालिक व्यवसाय के रूप में चलाये जाते हैं। ये मुख्यतः स्थानीय कच्चे माल, कौशल और थोड़ी सी पूंजी पर आधारित होते हैं। अधिकतर कुटीर उद्योग एक पारम्परिक व्यवसाय की भांति ही चलाये जाते हैं। विस्त त रूप में ग्रामीण उद्योग तीन समूहों में वर्गीकृत किया जा सकते हैं :

1) कुटीर उद्योग
2) कृषि आधारित उद्योग
3) लघु उद्योग

कुटीर उद्योग– यह सामान्य तौर पर ग्रामीण और अर्ध नगरीय क्षेत्रों के पूर्णकालिक या अंशकालिक व्यवसाय के रूप में कृषि से जुड़े हुए है।

कृषि आधारित, कृषि प्रसंस्करण उद्योग– ये उद्योग कृषि उत्पादों की प्रसंस्करण या फिर कृषकों की आगत आवश्यकताओं से जुड़े हैं। ग्रामीण कृषि आधारित उद्योग सामान्यतः या तो कुटीर या लघु स्तर पर संचालित किये जाते हैं।

लघु उद्योग– ऐसे उद्योग उन व्यक्तियों के द्वारा चलाये जाते हैं जिसके पास अपने जीवन निर्वाह के लिये पर्याप्त साधन तो होते हैं पर वे लाभपूर्ण के स्तर पर औद्योगिक इकाइयों को चलाने के लिये सर्वदा पर्याप्त नहीं होते। छोटे उद्योग बड़े उद्योगों से भिन्न होते हैं क्योंकि इनमें वही औद्योगिक इकाइयां आती हैं जिनमें एक करोड़ से कम पूंजी (capital) लगी होती है। ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित अधिकतर छोटे उद्योग वे हैं जो बहुत छोटे उद्योगों के रूप में चिन्हित किये जा सकते हैं। राजकीय शब्दावली में ये वो इकाईयां हैं जिनमें 25 लाख से कम की पूंजी लगी होती है।

8.3 ग्रामीण उद्योगों की भूमिका

भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था में ग्रामीण उद्योगों की निर्णायक भूमिका है। जैसा कि निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट है:

1) **रोजगार क्षमता–** ये उद्योग निवेशित धन की प्रति इकाई अधिकतम रोजगार प्रदान करते हैं। श्रम-पूंजी अनुपात इन उद्योगों में बड़े उद्योगों की अपेक्षा ऊँचा होता है। ऐसे देश में जहां श्रम बाहुल्य हो व पूंजी दुर्लभ, वहां यही अपेक्षित है कि उत्पादन विकेन्द्रित और छोटी इकाईयों में बंटा हो।

2) **कच्चे माल की स्थानीय उपलब्धि–** इन उद्योगों में आवश्यक कच्चा माल ग्रामीण क्षेत्रों में उपलब्ध होता है। यदि उत्पादन प्रक्रिया गांवों में ही हो सके तो परिवहन व्यय न्यूनतम होगा। साथ ही गांवों के ऐसे संसाधन जो अभी तक अप्रयुक्त हैं इन उद्योगों की स्थापना द्वारा प्रयोग में आयेंगे।

3) **आर्थिक समानता–** ये उद्योग ग्रामीण जनता में रोजगार व द्धि के द्वारा उनकी क्रय शक्ति में व द्धि करते हैं जो कि अब तक एक बड़ी सीमा तक केवल नगरीय क्षेत्र तक

सीमित है। विकेन्द्रित संरचना एक न्याय संगत (equitable) समाज की रचना के लिये मार्ग बना सकती है।

4) **बचत का संग्रहण–** गांवों में उचित वित्तीय संस्थाओं के अभाव में लोगों की बचत बेकार ही नहीं पड़ी रहती है अपितु वे अनुत्पादक उपभोग और अनावश्यक मुकद्दमेबाजी में बेकार गंवा दी जाती है। यदि ग्रामीण उद्योग स्थापित हो तो ये उत्पादक माध्यमों में निवेश की जा सकती है।

5) **जीवन स्तर में सुधार–** भारतीय गांव अभी तक बहुत पिछड़े हुये हैं। ये उद्योग निम्नलिखित प्रक्रिया (Process) द्वारा ग्रामीण जनता के जीवन स्तर को ऊँचा करेंगे: (i) ग्रामीण कामगारों को उनके घरों में रोजगार देकरः (ii) अपेक्षाकृत सस्ते दामों पर उपभोक्ता सामग्री देकर, (iii) सड़कों और बिजली जैसी सामाजिक व आर्थिक अतिरिक्त पूंजी (overhead capital) के निर्माण को प्रोत्साहन देकर, और (iv) शैक्षिक और वित्तीय संस्थानों आदि की स्थापना करके। इस प्रकार ये उद्योग हमारे गांवों के और उनके द्वारा सम्पूर्ण देश की जनता के बहुमुखी विकास में सहायक होंगे।

6) **अन्य लाभ–** ये उद्योग औद्योगिकरण के अनेक दुष्प्रभावों जैसे प्रदुषण, अतिनगरीकरण और नगरीय जीवन संबंद्ध बुराईओं से हमारी रक्षा करते हैं।

विकेन्द्रित ग्रामीण उद्योगों के लाभ 6 अप्रैल 1948 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव को अपनाकर उसमें स्वीकार किये गये और बाद में प्रत्येक नीति वक्तव्य में दोहराए गये हैं।

बोध प्रश्न 1

1) ग्रामीण उद्योग की व्याख्या कीजिए।

....

....

....

2) भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था में ग्रामीण उद्योगों का महत्व बताये।

....

....

....

8.4 ग्रामीण शिल्पकार

भारत में ग्रामीण शिल्पकारों की अनुमानित जनसंख्या 850 लाख के लगभग है। ग्रामीण शिल्पकार पारम्परिक गतिविधियों जैसे बढ़ईगिरी, सुनार, जुलाहे और चिनाई (Masonry) में लगे हैं। इसके अलावा रेडियो मरम्मत वाहन, वैल्डिग मरम्मत आदि आधुनिक तकनीकी बिजली उद्योग से जुड़े कार्यकलापों में भी लगे हैं। अधिकतर शिल्पकार घरेलू उपयोग की वस्तुएं बनाते हैं। कई मामलों में ये वस्तुओं विशिष्ट सुरूचिपूर्ण गुणवत्ता की होती है। जैसे–जैसे नये कौशल प्राप्त किये जाते हैं ये कई विशेष प्रकार्य भी कर सकते हैं जिससे टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं की सेवा और रखरखाव में सहायता मिलती है। उत्पादकों की इस श्रेणी को दिये गए प्रोत्साहन की रोजगार और अतिरिक्त उत्पादन के रूप में अर्थव्यवस्था को महत्वपूर्ण लाभ में परिणति होती है।

8.4.1 ग्रामीण शिल्पकारों की मुख्य विशेषताएं

ग्रामीण शिल्पकारों के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं:

i) ग्रामीण शिल्पकारों का एक मुख्य लक्षण है कि उनके कार्य में किसी बड़े स्तर की मशीनों का बहुत कम उपयोग होता है।

ii) ये व्यक्तिगत रूप से कार्य का निरीक्षण करते हैं।

iii) ये अपने व्यवसाय में मदद के लिये आमतौर पर परिवार से बाहर के किसी मजदूर को नहीं रखते।

iv) ये सामान्यतः एक ही प्रकार के पसंद और प्राथमिकता वाले ग्राहकों के लिये प्रबन्ध करते हैं। अपवाद (Exception) के तौर पर सीमित आकार के बाजार के लिये भी प्रबन्ध करते हैं

v) ये सामान्य तौर पर किसी स्थिर चारदीवारी (premises) में कार्य नहीं करते।

vi) उनके कार्य का स्तर मुख्यतः कच्चे माल की उपलब्धता पर निर्भर करता हैं। छोटे शिल्पकारों में यह सामान्य चलन है कि वे पहले दौर के उत्पादन की बिक्री की मदद से कच्चा माल खरीदते हैं वरना, कई बार कच्चा माल खरीदने के लिये उस अग्रिम का प्रयोग करते हैं जो उन्हें ग्राहकों से माल के आदेश के समय मिलता है या उन मध्यस्थों (Intermediaries) से मिलता है जो शिल्पकारों का माल व्यापारियों अथवा अंतिम उपभोक्ताओं को बेचते हैं और लाभ कमाते हैं।

vii) शिल्पकारों की बाजार में टिके रहने की कम क्षमता को देखते हुये व्यवसाय चलाने के लिये उचित दर पर पूंजी की उपलब्धता उनके लिये महत्वपूर्ण होती है।

संक्षेप में, औसत सम्पति और ग्रामीण शिल्पकारों द्वारा प्रति इकाई मूल्य व द्धि बहुत कम है। इन व्यवसायों में लगे शिल्पकारों का बहुत बड़ा भाग गरीबी रेखा से नीचे जीवन व्यतीत करता है।

8.4.2 शिल्पकारों की समस्याएं

शिल्पकारों की मुख्य समस्याएं हैं:

1) अधिकतर शिल्पकारों के लिये कच्चा माल प्राप्त करना एक कठिन कार्य बनता जा रहा है।

2) शिल्पकारों के तैयार माल को बेचना और भी कठिन है। इसमें मध्यस्थों (middle man) की एक लम्बी श्रंखला है जो बहुत कम सकारात्मक भूमिका निभाते हैं।

3) शिल्पकार विशेषकर छोटे शिल्पकार दीर्घ काल से वित्त के संस्थानगत स्रोतों तक पहुंच से वंचित है।

शिल्पकारों की इन समस्याओं का सुव्यवस्थित सहकारी समितियों द्वारा निदान हो सकता था। किन्तु विभिन्न राज्यों में शिल्पकारों की सहायता के उद्देश्य से स्थापित कुछ सहकारी समितियां या तो निष्क्रिय हो चुकी है या होने के मार्ग पर है। बहुत सी सहकारी समितियों ने प्रबंध कौशल और गतिशीलता के अभाव का प्रदर्शन किया है। इसी प्रकार बहुत सी सहकारी समिति सामूहिक लाभ की अपेक्षा व्यक्तिगत लाभ के लिये व्यक्तिगत इकाई की भांति कार्य करने की प्रव त्ति के कारण नष्ट हुई हैं। स्वामित्व प्रतिष्ठानों द्वारा नियंत्रण का प्रभाव सहकारी आन्दोलन के लिये हानिकारक सिद्ध हुआ है।

8.5 खादी और ग्रामीण उद्योग

1920 में महात्मा गांधी ने प्राथमिक रूप से राजनैतिक विचार के साथ सामान्यतः विदेशी माल, विशेषरूप से वस्त्रों के, बहिष्कार के लिये खादी के प्रयोग की आवाज उठाई। इससे प्रत्येक व्यक्ति को असहयोग आंदोलन के एक भाग के रूप में स्व-अनुशासन और स्व-बलिदान के लिये अवसर देने की आशा थी। तभी से वास्तविक अनुभव और परीक्षणों के आधार पर वैचारिक उपगमन और संस्थागत संरचना में बहुत से परिवर्तन आये हैं। इस प्रक्रिया में खादी भारत की सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संरचना में व्याप्त हो गई।

गांधी जी की खादी की धारणा के विविध पहलू – 'सम्पूर्ण औद्योगिक प्रणाली का योग' इस प्रकार हैः

- स्वराज्य की कुंजी
- जन शिक्षा का माध्यम
- विभिन्न वर्गों/श्रेणियों के व्यक्ति के मध्य संपर्क सूत्र
- शारीरिक श्रम और प्रतिष्ठा का प्रतीक
- जीवन यापन साधनों के अधिक समान वितरण में सहायक
- विदेशों में धन के अपवहन पर (drain) नियंत्रण
- पश्चिम में व्याप्त "शारीरिक बिमारी" के लिये व्यावसायिक उपचार
- अहिंसा का प्रतीक
- विश्व शांति के लिये, और
- गांवों के पुनर्निमाण के लिये औजार।

संस्थागत स्तर पर यह कार्यक्रम न्यायसंगत धारणा और सहकारी प्रयत्नों के माध्यम से लागू किया गया "जिससे बिना लाभ और बिना शोषण" की विशिष्टताएं तीव्र प्रकाश में आये। बाद में निर्वाह भत्ता देने पर जोर दिया गया।

उपर्युक्त आधारभूत धारणाएं राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में खादी और ग्रामीण उद्योगों में आज भी मान्य हैं। पंचवर्षीय योजनाओं की शुरुआत के साथ सम्भवतः पहली बार, सम्पूर्ण भारत की द ष्टि से एकात्मक ढंग से ग्रामीण और लघु उद्योगों की कठिनाइयों और विकास संबंधी समस्याओं पर विचार करने का प्रयत्न किया गया। ग्रामीण जनसंख्या को अतिरिक्त रोजगार और आय बढ़ाने के अवसर प्रदान करने के लिये इन उद्योगों की पुनर्स्थापन का एक ध्येय था।

खादी और ग्राम उद्योग आयोग

संगठनात्मक द ष्टि से छः सकल भारत मंडलों की स्थापना ग्राम और लघु उद्योगों के नियोजित विकास की ओर महत्वपूर्ण कदम था। इनकी स्थापना लघु उद्योगों, हैण्डलूम उद्योगों, हस्त शिल्प, नारियल जटा और रेशम उत्पादन के विकास के लिये मार्गदर्शन और एक सीमा तक समन्वित कार्यक्रम लागू करने के विचार से हुई।

सम्पूर्ण भारत खादी और ग्राम उद्योग मंडल को संसद के एक विधेयक द्वारा अप्रैल 1,1957 में खादी और ग्राम उद्योग आयोग (KVIC) में रूपान्तरित कर दिया गया।

खादी और ग्राम उद्योग आयोग के प्राथमिक प्रकार्य, खादी और ग्राम उद्योगों के विकास के लिये कार्यक्रम की योजना बनाना, आयोजन करना और लागू करना, थे। खादी और ग्राम

उद्योग आयोग के पास आयोग द्वारा प्रोत्साहित किये जाने वाले उद्योगों की सूची है।

खादी और ग्राम उद्योग आयोग के प्रकार्य बेहद और भिन्न है। यह कच्चे माल और संशोधित उपकरणों को संरक्षित रखता है और उनकी किफायती मूल्यों पर शिल्पकारों को आपूर्ति करता है। इसका उद्देश्य उत्पादन की तकनीक और उत्पादन की गुणवत्ता में सुधार लाना है। दूसरे, यह शिल्पकारों के उत्पादों को व हत्त्र बाजार के लिये उपयुक्त आयोजन आधार प्रदान करता है। कार्यक्रमों के परिपालन के लिये सहायता के नमूने और संस्थागत रूपरेखा, मुख्यतः सहकारिताओं और पंजीकृत संस्थाओं द्वारा प्रदान की जाती है। ये सहकारिताएं गरीब परिवारों की आवश्यकताओं के अनुरूप और उन्हें घर के निकट कार्य के अवसर उपलब्ध कराने मे सहायक होते हैं।

ग्रामीण शिल्पकारों द्वारा प्रयोग किये जाने वाले पारम्परिक तरीकों में तकनीकी सुधारों पर जोर दिया गया है जिससे (1) उनकी उत्पादकता बढ़े, (2) उत्पादों की गुणवत्ता में सुधार आये, (3) उन्हें उनके व्यवसाय से विस्थापित किये बिना उनकी आय को बढ़ाया जा सके। गहन प्रयोगशाला, शोध और क्षेत्र परीक्षणों के परिणामस्वरूप नई मशीनों, उपकरणों और औजारों (पॉवर द्वारा प्रचालित या अन्य ढंग से) की एक नई श्रंखला विकसित की गई है और एक बड़े स्तर पर प्रस्तुत की जा रही है, जिससे उत्पादन की लागत घटे, उत्पादों की गुणवत्ता सुधरे और इस प्रकार उत्पादकता तथा शिल्पकारों की आय बढ़े। देशभर में मध्यवर्ती तथा उपयुक्त तकनीक के अधिष्टापन में खादी और ग्राम उद्योग आयोग एक पथ प्रदर्शक अभिकरण रहा है। छः और बारह तकली नये मॉडल चरखे, चावल की पॉलिश करने वाले और छिलका उतारने वाले यंत्रों, छोटे विलायक निष्कर्षण संयन्त्रों, सिंचाई के पाइपों, चमड़े की वस्तुओं (बेहतर ताना बाना) मलमल का उत्पादन, ढाका की मलमल की स्म तियां को ताजा करती है। मक्खी पालन के नये वैज्ञानिक तरीके, ऊर्जा प्रदान करने के नये बायो गैस संयन्त्रों को लगाना और अधिक उपजाऊ खाद, कुछ यादगार कदम सीमा चिन्ह है, जो KVIC द्वारा विभिन्न उद्योगों में बेहतर तकनीक को विकसित करने और लोकप्रिय बनाने के लिये उठाये गये हैं।

अतः हमारे देश में जहां नियोजित विकास के पांच दशकों के बाद भी एक चौथाई से अधिक जनसंख्या गरीबी की रेखा से नीचे रहती है, खादी और ग्रामीण उद्योग क्षेत्रक द्वारा प्रदत्त रोजगार का स्तर और आय इस वर्ग के लोगों को गरीबी रेखा से ऊपर लाने में विशेष रूप से योगदान दे रहा है।

बोध प्रश्न 2

1) भारत में ग्रामीण काश्तकारों के मुख्य लक्षणों का विवेचन करें।

....

....

....

2) भारत में ग्रामीण शिल्पकार किन-किन समस्याओं का सामना करते हैं ?

....

....

....

....

1) भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था में खादी और ग्रामीण उद्योगों के महत्व की विवेचना करें।

....

....

....

8.6 कृषि आधारित और कृषि प्रसंस्करण उद्योग

ग्रामीण अर्थव्यवस्था में लघु उद्योग क्षेत्र का निर्माण कृषि आधारित और कृषि प्रसंस्करण उद्योग करते हैं। ये उद्योग कृषि और उद्योग क्षेत्रकों के बीच की कड़ी प्रदान करते हैं। हाल के वर्षों में इन उद्योगों ने गैर सरकारी संस्थाओं, नीति निर्माताओं और सरकार का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। एक मुख्य विकास यह है कि इनसे विविध कृषि आधारित उद्योगों की सक्षमता को सुधारने और आगे विकास की संभावनाओं के अन्वेषण की बड़ी पहल होगी।

कृषि आधारित उद्योगों के विस्त त समूह में बहुत सी गतिविधियां है। यह खाद्य प्रसंस्करण, वनस्पति तेल उत्पादन, उद्यान कृषि उत्पादों, डेरी और मवेशी उत्पादों, मछली और मछली उत्पादों तथा उपभोक्ता वस्तुओं से संबंधित है। गतिविधियों के प्रत्येक समूह में विषयों की लम्बी सूची है। उदाहरण के लिये मात्र खाद्य प्रसंस्करण ही में 29 या इससे अधिक कार्य आते हैं।

8.6.1 कृषि आधारित उद्योगों की परिभाषा

कृषि क्षेत्रक विभिन्न उद्योगों को कच्चा माल प्रदान करता है। उदाहरण के लिये यह चीनी उद्योग, वस्त्र उद्योग, जूट उद्योग रबड़ उद्योग, चाय, कॉफी आदि को कच्चा माल देता है।

पांरपरिक रूप से कृषि आधारित उद्योग वे उद्यम हैं जो कृषि के कच्चे माल का प्रसंस्करण करते हैं। रिजर्व बैंक की कृषि साख पुनरावलोकन समिति, जो खुसरो समिति के नाम से जानी जाती है, कृषि प्रसंस्करण उद्योगों की परिभाषा इस प्रकार दी हैः

कृषि प्रसंस्करण उद्योग वे हैं जो कृषि के कम से कम 50% कच्चा माल प्राप्त करते हैं और जहां किये गये प्रसंस्करण के परिणाम से हुई मूल्य व द्धि उत्पादन के अंतिम मूल्य के 50% से अधिक नहीं है।

इस समिति ने कृषि संसाधन उद्योगों को तीन विस्त त श्रेणियों में बांटा हैः

- फसल उत्पादन
- लकड़ी उत्पादन, और
- पशुधन उत्पादन

प्रत्येक श्रेणी में बहुत सी उपश्रेणियां है और उन्हें फिर से इन समूहों में बांटा गया है–

- खाद्य प्रसंस्करण
- गैर खाद्य प्रसंस्करण

8.6.2 कृषि आधारित उद्योगों के विशिष्ट लक्षण

1) कृषि आधारित उद्योग फैक्टरी क्षेत्रक के समस्त उद्योगों के 39% के लगभग हैं; जिसमें खाद्य और गैर खाद्य उद्योगों का अनुपात क्रमशः 18% और 21% है।

2) कुल स्थिर पूंजी में कृषि आधारित उद्योगों का अंश केवल 11.63% है। गैर कृषि उद्योग के 86.2 लाख रु० की तुलना में एक औसत कृषि आधारित उद्योग में केवल 17.7 लाख प्रति फैक्टरी की अचल पूंजी लगी है।

3) एक कृषि आधारित उद्योग के पास की प्रति फैक्टरी चल पूंजी के रूप में औसतन 16.2 लाख रु० है जिसकी तुलना में गैर कृषि आधारित उद्योग के पास 35.2 लाख है।

4) कृषि आधारित उद्योगों में फैक्टरी क्षेत्रक द्वारा स जित प्रत्यक्ष रोजगार का 36.43% मिल रहा है जो इन उद्योगों के श्रम का उपयोग करने वाले और पूंजी की बचत वाले चरित्र को स्पष्ट करता है।

5) कृषि आधारित उद्योग में लगे व्यक्तियों की संख्या प्रति फैक्टरी की द ष्टि से गैर कृषि आधारित उद्योग में लगे श्रमिकों की संख्या से कुछ ही कम है।

6) कृषि आधारित औद्योगिक क्षेत्रक से कुल फैक्टरी क्षेत्रक के कुल उत्पाद का 26% और सकल मूल्य योग का 21% प्राप्त होता है। खाद्य और गैर खाद्य उद्योगों का प्रतिशत अंश लगभग बराबर है, अर्थात फैक्टरी क्षेत्रक द्वारा उत्पादित उत्पादन का लगभग 13 प्रतिशत।

7) कृषि आधारित उद्योग की तुलना में गैर कृषि आधारित उद्योग में एक व्यक्ति के लिये प्रत्यक्ष रोजगार पैदा करने में तिगुनी पूंजी से भी अधिक की आवश्यकता होती है, अर्थात् प्रति कर्मचारी कुल पूंजी गैर कृषि आधारित उद्योग में 1.55 लाख रु० है जबकि कृषि आधारित उद्योग में यह केवल 48 हजार रु० है। एक श्रम बहुल और पूंजी अभाव वाली अर्थव्यवस्था में इस पूंजी श्रम अनुपात के नीतिगत आशय स्पष्ट है।

8) कृषि आधारित उद्योग अपेक्षाकृत अधिक चल पूंजी का प्रयोग करते हैं, जैसा कि इनमें गैर कृषि उद्योगों से तुलना में कुल पूंजी में चल पूंजी के उच्चतर अनुपात से स्पष्ट होता है।

9) स्थिर पूंजी की प्रति इकाई कुल मूल्य योग के रूप में आंकलित उत्पादकता, गैर कृषि आधारित उद्योग की अपेक्षा कृषि आधारित उद्योगों में दुगनी है। कृषि आधारित उद्योग औसत रूप में निवेशित एक रुपया 70 पैसे का कुल मूल्य योग देता है जबकि कि गैर कृषि आधारित उद्योग में यह 35 पैसे है।

10) प्रति व्यक्ति मूल्य व द्धि गैर कृषि आधारित उद्योगों में सद श मूल्य व द्धि का 46.8% है। प्रति कर्मचारी उत्पाद के औसत मूल्य के मामले में कृषि आधारित उद्योग गैर कृषि उद्योगों से अधिक पीछे नहीं है।

11) यद्यपि कृषि आधारित उद्योग में लगे कर्मचारियों को गैर कृषि उद्योगों के कर्मचारियों की तुलना में कम पारिश्रमिक मिलता है फिर भी क षि आधारित उद्योगों में कुल उत्पादन में श्रम का अंश भाग अन्य उद्योगों से अधिक बनता है। एक सीमा तक ग्रामीण श्रमिक ग्रामीण क्षेत्रों के निकट काम करते हैं जिससे उनके निम्नतर पारिश्रमिक का असली मूल्य निश्चय ही ग्रामीण क्षेत्रों से बाहर कमायी उसी मात्रा से अधिक होगा।

8.6.3 कृषि प्रसंस्करण उद्योगों के लिए संभावनाएं

उद्योगों का आर्थिक विकास की द ष्टि से महत्व है। विकासात्मक महत्व को इन उद्योगों की आय स जन और ग्रामीण क्षेत्रों में, विशेषकर ग्रामीण समाज के विभिन्न आधार वाले वर्ग में, रोजगार उत्पन्न करने की उपयुक्तता सही समझी जा सकती है।

इसी क्षमता के कारण KVIC ने 96 कार्यकलापों को चुना है जिन्हें ग्रामीण उद्योगों के रूप में चलाया जा सकता है। इनमें निम्नलिखित सम्मिलित हैंः

- संवेष्टन और विपणन, अनाजों, दालों, मसालों आदि का प्रसंस्करण
- खजूर का गुड़ और खांड का उत्पादन
- मधुमक्खी पालन
- फल और सब्जी प्रसंस्करण, परिरक्षण और डिब्बाबंद (आचार समेत)
- क्च्ची घानी तेल उद्योग
- नारियल जटा के अतिरिक्त अन्य रेशे
- वन पादपों और फलों का औषधीय उपयोग के लिये एकत्रिकरण
- मंज्जा, चटाई और मालाओं आदि का उत्पादन
- काजू प्रसंस्करण और
- दोने बनाना

कृषि प्रसंस्करण मुख्यतः छः क्षेत्रों/समूहों से संबंध है जो निम्नलिखित हैंः

- प्राथमिक खाद्य प्रसंस्करण
- वनस्पति तेल
- उद्यान कृषि उत्पादों
- डेरी और पशुधन उत्पादों
- मछली और मत्स्य उत्पादों
- उपभोक्ता वस्तुओं/प्रक्रमित भोजन/खाद्य पदार्थ

प्रत्येक समूह में प्रसंस्करण के माध्यम से उत्पादित उत्पादों की एक विस्त त श्रं खला है।

1) प्राथमिक खाद्य प्रसंस्करण

प्राथमिक खाद्य प्रसंस्करण कृषि प्रसंस्करण से संबंधित सभी क्रियाओं में किसी हद तक सबसे महत्वपूर्ण क्रिया है। क्रियाएं जैसे धान की दराई, आटा बनाना और दाल बनाना आदि प्राथमिक क्रियाएं अग्रणी हैं। बड़ी संख्या में चावल की मिलें बनी हैं और आज चावल निर्यात की महत्वपूर्ण मद बन गया है। भारतीय बासमती की विदेशों में बहुत मांग है। इसलिये इस क्रिया के विस्तार के लिये बहुत गुंजाइश है। एक कृषि आधारित उद्योग के रूप में चावल प्रसंस्करण वर्षों के अंतराल में परिपक्व हुआ है। चावल मिलें लगाने के वित्त प्रबंध की व्यवस्थायें और प्रक्रियाएं, मौसमी चल पूंजी संबंधी आवश्यकता और निर्यातों के लिये माल-प्रणालन (Channelizing) सरल और कारगर बन गये हैं।

चावल मिल समुदाय वित्त प्राप्त करने के निर्देशों और निर्यात आवश्यकताओं से पूर्णतः अवगत है। कृषि आधारित उद्योगों के समूह के अन्य कार्यकलाप अपेक्षाकृत कम विकसित है।

2) वनस्पति तेल प्रसंस्करण

वनस्पति तेल को एक पकाने के माध्यम के रूप में बड़ी घरेलू मांग है। पारम्परिक तौर पर मूंगफली, तोरिया, सरसों और नारियल, वनस्पति तेल के मुख्य स्रोत रहे हैं।

फिर भी हाल में दो नये तेलबीजों की फसल, सोयाबीन और सूरजमुखी का प्रवेश हुआ है। सूरजमुखी को सीमित सफलता मिली है। सोयाबीन एक मुख्य फसल के रूप में उभरा है और उसने वनस्पति तेल उद्योग को बढ़ावा दिया है।

वनस्पति तेल उद्योग की व द्धि का एक उल्लेखनीय लक्षण यह है कि इन वनस्पति तेल निर्माताओं में पूंजी बाजार तक पहुंचने की सशक्त प्रव त्ति है। इसीलिये तेल उद्योग की वित्तीय आवश्यकताओं का बड़ा भाग पूंजी बाजार उपलब्ध करा रहा है। फिर भी इस ढंग से इस उद्योग के विस्तार के कृषि वित्त के लिये मांग पर अपने क्रमप्रापतीय (Cascading) प्रभाव होंगे। किसानों को नयी फसल ऋण सीमाओं की और उर्वरकों के बढ़ते दामों के कारण विद्यमान ऋण सीमाओं में व द्धि की आवश्यकता होगी। सोयाबीन उगाने वाले किसानों की भूमिधार्यताएं (Landholdings) बड़ी होने के कारण उनकी ऋण संबंधी आवश्यकताएं भी अपेक्षाकृत बड़ी होंगी। सोयाबीन को अपनाने वाले नये प्रदेशों के लिये एक प थक वित्तीय पैमाना विकसित किया जाना चाहिये, जिससे सोयाबीन और सूरजमुखी की बुवाई करने वाले किसानों को पर्याप्त वित्त उपलब्ध हो सके।

3) उद्यान कृषि उत्पाद

उद्यान कृषि उत्पादों के विकास पर सरकार निरन्तर अधिक ध्यान दे रही है। इस उद्देश्य के लिये नौ वस्तुओं को चुना गया है। ये हैंः आम, अंगूर, केला, सब्जियां, प्याज, भिण्डी (okra) कुकुटमुत्ता शतावरी (Asparagus) और फूल। अंतर्राष्ट्रीय बाजार में प्रवेश के लिये उत्पादन व द्धि करने के लिये विकास कार्यक्रमों पर बुनियादी जोर दिया जा रहा है। इस संदर्भ में कृषि प्रसंस्करण उद्योगो की भूमिका इस प्रकार होगी।

उत्पादों के ताजा रूप में बढ़ते निर्यात से कुछ आवश्यक प्रसंस्करण की आवश्यकता होगी जिससे शैल्फ जीवन, परिरक्षण और परिवहनीयता में सुधार आये।

एक सीमा तक सभी वस्तुएं ताजा रूप में निर्यात नहीं की जा सकती। इससे घरेलू कृषि प्रसंस्करण उद्योगों की अतिरिक्त उत्पादन के लिये आवश्यकता और गुंजाइश होगी।

कुछ वस्तुएं संसाधित रूप में निर्यात किये जाने पर एक बेहतर बाजार और उच्चतर प्रतिफल पायेगी और इस प्रकार उद्यमी स्वाभाविक रूप से कुछ विशिष्ट उपभोग के लिये तैयार संसाधित उत्पादों के उत्पादन के लिये लालायित होंगे।

उद्यान कृषि उत्पादों के लिये वस्तुओं की गुणवत्ता के लिये प्रायोगिक परियोजना चलाना बेहतर होगा। ये प्रायोगिक परियोजनाएं ऋण देने के लिये फसल चुनने, क्षेत्रों के चिन्हित करने और कृषक चुनने की प्रकृति की होगी।

4) डेरी और पशुधन उत्पाद

डेरी एक ऐसी गतिविधि है जिसमें एक ओर नई तकनीकें विकसित करने में और दूसरी ओर विद्यमान तकनीकों को सफलतापूर्वक अपनाने में भारत की विशिष्टता है। वास्तव में दूध एक ऐसा अद्वितीय पदार्थ है जिसमें विभिन्न स्तरों पर प्रसंस्करण की अदभुत क्षमता है। अब संसाधित दूध का तरल रूप में उपभोग भारत में एक स्वीकार्य आचरण बन गया है। विभिन्न दुग्ध उत्पादों, देशी विधि और विदेशी रूप दोनों में दुग्ध का संसाधन एक प्रमुख कृषि आधारित उद्योग है। भारत ने विकास के सफल नमूनों को डेरी फार्मिग का सामाजिक आर्थिक परिवर्तन के अभिकर्त्ता के रूप में प्रयोग करके विकसित किया है। ऐसी विकास प्रक्रिया के उदाहरण, जिन्हें डेरी फार्मों के माध्यम से बढ़ावा दिया जा रहा है, गुजरात के खेरा जिला दुग्ध उत्पादक संघ (अमूल) और महाराष्ट्र में वर्ण दूध सहकारी संघ में मिलते हैं।

5) मछली और मछली उत्पाद

यद्यपि भारत के पास 4150 लाख टन वार्षिक मछली उत्पादन में 20 लाख वर्ग किलोमीटर से भी अधिक बड़ा अनन्य आर्थिक अँचल उपलब्ध है, फिलहाल उपलब्ध स्रोतों के केवल

30% का ही उपयोग हो रहा है। यह सूचित करता है कि विकास के लिये अच्छी गुंजाइश है। अमरीका और अन्य विकसित देशों, जापान, में झींगों की बढ़ती मांग को द ष्टि में रखते हुये भारत में जल कृषि (aqua culture) अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गयी है। अभिग्रहण मात्स्यिकी (Capture fishing) के द्वारा झींगा उत्पादन का क्षेत्र सीमित है। झींगे के निर्यात के अनुमान भिन्न है। भारत ने अन्य मत्स्य उत्पादों के साथ झींगो और उत्पादों के निर्यात में 4,500 करोड़ रुपये का स्तर प्राप्त कर लिया है।

समुद्रवर्ती राज्यों जैसे गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, केरल, तमिलनाडू, आंध्र प्रदेश, उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल में जल कृषि के विकास के लिये उपयुक्त क्षेत्रा है।

6) **उपभोक्ता पदार्थ और संसाधित खाद्य**

इस श्रेणी में प्रसंस्कारित भोजन की मांग विस्त त हो रही है। भारत में मध्य आय समूह की एक बहुत बड़ी जनसंख्या है। इसके साथ संसाधित भोज्य पदार्थों के उपभोग का स्वाद और स्वीकार्यता तेजी से बढ़ रहे हैं। इससे संकेत मिलता हैं कि एक अवधि के बाद उपभोक्ता भोजन प्रसंस्करण उद्योग कुल उद्योग क्षेत्रक में अपने भाग में व द्धि करने वाला है।

अच्छे खाद्य की बढ़ती मांग और कृषि क्षेत्रक के द्वारा निर्यात के लिये बढ़ते सरकारी दवाबों के कारण कृषि प्रसंस्करण उद्योग कार्यकलापों का एक मुख्य समूह बन जायेगा। इस क्षेत्रक में बड़े रूप में विदेशी निवेश आ रहा है।

बोध प्रश्न 3

1) कृषि आधारित उद्योग क्या है ?

....

....

....

2) भारत में कृषि आधारित उद्योग के विशिष्ट लक्षणों के विषय में बताइये।

....

....

....

3) भारत में प्राथमिक खाद्य प्रसंस्करण उद्योग की संभावनाओं पर प्रकाश डालें।

....

....

....

8.7 भारत में ग्रामीण उद्योगों की समस्याएं

भारत में ग्रामीण उद्योगों की निम्नलिखित समस्याएं हैं:

1) **निम्न तकनीक**

निम्न तकनीक आधार ग्रामीण उद्योगों की व द्धि में एक मुख्य बाधा है। इस बाधा की ओर हमारी योजनाओं में भी संकेत दिया गया है। खादी ग्रामोद्योग आयोग जैसी कुछ संस्थाओं

ने तकनीक सुधारने के लिये कदम उठाये हैं ताकिः

- उत्पादकता में सुधार करके तैयार माल की लागत को कम किया जा सके।
- उत्पादो की गुणवत्ता और विपणनीयता में सुधार आ सके।
- श्रमिकों की कड़ी मेहनत में कमी आये।
- आय में सुधार हो सके।

इन प्रयत्नों ने फल भी दिये है; जिनमें से उल्लेखनीय हैं : छ और बारह तकली वाले, नये प्रकार के चरखे (जिनसे जुलाहों को बड़े रूप में बेहतर रोजगार मिला है।), गैर खाद्य तेलों के प्रसंस्करण की तकनीक का ऐसे साबुनों के निर्माण के लिये प्रयोग जो आर्थिक रूप से प्रतियोगी और गुणवत्ता में आकर्षक हो, बिजली से चलने वाले कोल्हू का विकास, कुम्हारों के लिए बिजली वालाश्शैला चक्र, LYMPO तकनीक जो ग्रामीण स्तर पर ऐसे सीमेंट के उत्पादन को सम्भव बनाती है जो कई प्रयोगों में पोर्टलैंड (portland) सीमेंट का विकल्प बन सकता है और सम्मिश्रित खादी वस्त्रों के लिए पॉलिएस्टर रेशों का प्राकृतिक रेशों के साथ मिश्रण। सिल्क लपेटने के लिए कुटीर चरखों में सुधार और टस्सर सिल्क के लिए त्रिवेदी रिलिंग मशीन, और मांसाहारी खाद्य बनाने के लिए उत्पादन स्तर पर निस्त्वचन (Flaying) और रंगाई के लिए वैज्ञानिक विधियों का विकास, और नारियल जटा के अवशेष से छप्पर बनाना कुछ अन्य उदाहरण हैं।

फिर भी विचार का विषय यह है कि इन सुधारों में ग्रामीण उद्योगों की व द्धि प्रक्रिया को तीव्र बनाने की अदभुत क्षमता होने के बाद भी विकास अपेक्षाकृत धीमा रहा है। इसके अतिरिक्त पर्याप्त आयोजन, आधारिक संरचना, उद्यम शक्ति और साधन सहयोग के अभाव में बहुत सी तकनीकें अभी भी प्रयोगशालाओं और शोध तथा विकास की स्थिति में सीमित हैं। इन तकनीकों को सम्बद्ध लाभभागियों तक पहुंचाने की तीव्र आवश्यकता है।

ऐसे भी कुछ क्षेत्र हैं जहां तकनीकी उन्नति की ओर पर्याप्त शोध एवं विकास नहीं किया गया है। उदाहरण के लिए ग्रामीण ग ह तकनीक (जिसकी बहुत आवश्यकता है, और इसमें ग्रामीण औद्योगिक आधार बनाने की अभूतपूर्व क्षमता है) और बहुत से फलों व सब्जियों का प्रसंस्करण। इन तकनीकों से संबंधित वर्तमान शोध एवं विकास तंत्र बहुत दुर्बल और अशक्त है।

भारतीय कृषि शोध परिषद् जैसी और व्यापक स्तरीय राष्ट्रीय संस्थान बनाने की आवश्यकता है। इसके मार्गदर्शन में प्रत्येक ग्रामीण उद्योग के लिए शौध एवं विकास की राष्ट्रीय संस्थाओं को संगठित किया जाना चाहिए।

तकनीकी विस्तार एक विस्म त और सबसे कम ध्यान दी गई प्रक्रिया है। वर्तमान विस्तार कार्य बहुत खराब है। खण्ड (Block) स्तर पर ग्रामीण उद्योगों का ध्यान रखने के लिए 800 से भी कम विस्तार कर्मचारी हैं। प्रति ब्लॉक 3 कर्मचारियों की दर से भी राष्ट्र में 15,000 से ऊपर कर्मचारियों की आवश्यकता है। पिछले पांच दशकों में हमने कृषि तकनीक को सुधारने और प्रसार में एक अच्छी सफलता प्राप्त की है। अब हमें ग्रामीण उद्योगों में भी ऐसा करने की आवश्यकता है।

2) वित्त

ग्रामीण शिल्पकारों और उद्यमियों की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता ऋण है। उनका स्रोत आधार बहुत दुर्बल होने के कारण उनकी ऋण पर निर्भरता महत्वपूर्ण है हालांकि उनकी ऋण तक कोई सरल पहुंच नहीं है।

अभी तक एक ग्रामीण शिल्पकार/उद्यमी को मिलने वाले ऋण का परिमाण उसकी उधार चुकाने की योग्यता द्वारा निर्धारित होता था। 1971 में ग्रामीण शिल्पकार को केवल 5% वित्त संस्थागत अभिकरणों (Institutional Agencies) से मिल रहा था। वे 70% उधारी के लिये साहूकारों, भूस्वामियों और व्यापारियों पर निर्भर थे। पिछले तीन दशकों में प्राथमिकता क्षेत्रकों को उधार देने के नीति परिवर्तन से बैंकिग व्यवस्था में इस संबंध में निश्चय ही सुधार आए हैं।

ग्रामीण शिल्पकारों के लिए ब्याज की विभिन्न दर योजना, ग्रामीण क्षेत्राों में उद्यमियों के लिए संयुक्त ऋण योजना और हथकरघा बुनने वालों के लिए ;छ ।ठ ।त्क्द्ध योजना, इस प्रव ति को प्रतिबिंबित करती है। शीर्ष स्तर पर इन योजनाओं की रचना ग्रामीण उद्योगों की ऋण आवश्यकताओं को सम्मिलित रूप से पूर्ण करने के लिए की गई है।

फिर भी परिणाम कुछ खास प्रोत्साहनवर्धक नहीं हैं। उदाहरण के लिये शिल्पकारों का संस्थागत आच्छादन बहुत महत्त्वहीन है। कुल अनुमानित वित्त आवश्यकताओं के 9750 करोड़ रू० के मुकाबले केवल 100 करोड़ रूपया ही अर्थात एक प्रतिशत के लगभग ही ग्रामीण काश्तकारों तक पहुंचा है। नाबारड (NABARD) की हथकरघा वित्त योजना भी केवल 32 प्रतिशत बुनकरों तक पहुँच पायी है। शेष बड़े बुनकरों या अन्य निजी स्रोतों पर निर्भर है।

बदलते हुये आर्थिक संदर्भो की प ष्ठभूमि के अनुसार ग्रामीण उद्योगों की वित्त जरूरतें अधिक अनिवार्य बन रही हैं, क्योंकि आज उन्नत तकनीकों को अपनाने की जरूरत, आगतों की प्राप्ति में बढ़ती कठिनाइयों और तैयार उत्पादन के विपणन जैसी समस्याएं है। अतः संस्थागत ऋण व्यवस्था को ग्रामीण उद्योगों की सेवा के लिये और अधिक उत्तर दायित्व लेना होगा।

3) **कच्चा माल**

बहुधा ग्रामीण उद्योगों के लिये कच्चे माल का स्रोत ग्रामीण क्षेत्रक में ही विद्यमान है। फिर भी आगतों की प्राप्ति में बढ़ा हुआ व्यवसायिकरण, ग्रामीण कच्चे मालों पर आधारित शहरी उद्योगों में उच्च तकनीक की व द्धि (उदाहरण के लिये चमड़ा, पट्टियों और परतें, बांस, गैर खाद्य तेल और ऊन) के कारण स्थानीय शिल्पकारों और उद्यमी अपना आगत बाजार नगरीय उद्योगों के हाथों खो बैठे हैं।

बहुत से कृषि उत्पादनों का मध्यवर्ती प्रसंस्करण नगरीय बाजार में स्थानांतरित हो गया है। इस प्रकार से आगत मंहगे हो गये हैं और ग्रामीण उद्यमियों के लिये एक प्रकार से अप्राप्य हो गये हैं। उसे ये उसकी क्रय शक्ति के भीतर दामों पर उपलब्ध नहीं हैं। उदाहरण के लिये गांव का चमड़ा कामगार अपने स्व-रोजगार अवसर से वंचित है क्योंकि वह शहर प्रसंस्करित चमड़ा उचित दाम पर प्राप्त नहीं कर पाता।

अतः आधुनिक तकनीक और बाजार शक्तियों ने ग्रामीण उद्यमियों के स्वरोजगार दर्जे को बहुत गिरा दिया है। यहां तक कि अब वह एक बहुत ही अल्प रोजगारी शिल्पकार बनकर रह गया है। ग्राम का तेली इसका एक जाना पहचाना उदाहरण है।

एक अन्य तथ्य जिसने ग्रामीण काश्तकारों को बहुत प्रभावित किया है, वह है कच्चे माल जैसे कच्चा सिल्क, कपास और वनस्पति तेलों की कीमतों में उतार-चढ़ाव। इन आगतों की आपूर्ति केन्द्रित शहरी बाजारों के नियंत्रण में है। हैण्डलूम के बुनकरों के लिये धागे की उपलब्धता उपरोक्त द श्य पर बहुत आधारित रही है। धागे की आपूर्ति अनियमित और मंहगी हो गयी है। कई बार धागे की अनुपलब्धता के कारण बुनकर खाली बैठने को विवश होता है। यद्यपि

हस्तशिल्पियों की मदद के लिये कुछ संगठनात्मक उपाय किये गये हैं, तथापि, परिणाम बहुत उत्साहवर्धक नहीं है। उदाहरण के लिये बुनकर उन मध्यस्थों पर निर्भर हैं जो उसे उधार पर धागे देने का प्रस्ताव देता है। कुछ समय उपरांत धागा आपूर्ति की यह व्यवस्था बुनकर से उसका रोजगार का दर्जा छीनकर एक वेतन प्राप्त करने वाला बनने को विवश कर देती है। अधिकतम मामलों में यह धागा प्रदान करता अर्थात कच्चा माल आपूर्ति करने वाला मुख्य व्यापारी का स्थान प्राप्त कर लेता है।

अभी तक, ग्रामीण उद्योगों का बाजार स्थानीय मांग तक सीमित था, फिर भी बाजारीकरण और कीमत कम करने और आर्थिक जीवनक्षमता को बनाये रखने के दवाबों के कारण उनके बाजार क्षितिजों के विस्तार की आवश्यकता बढ़ गई है।

4) **विपणन**

हैण्डलूम और खादी जैसे कुछ विशेष उत्पादों के लिये बाजार के एक विशेष खंड को चिन्हित करना और उसका बाजार पर निरंतर ध्यान रखना आवश्यक है जो उनके उत्पादों को सरंक्षण देता रहा है। इसकी परिणति स्रोतों पर दवाब और ग्रामीण उद्योगों की विपणन क्षमता दोनों में व द्धि में हुई है।

दुर्भाग्यवश ग्रामीण उद्योगों के लिए एक राष्ट्रीय विपणन तंत्र विकसित करने की योजना के फलदायी परिणाम नहीं हुए। ग्रामीण विपणन और सेवा केन्द्रों, जो राष्ट्रीय तंत्र के लिए खण्ड स्तर पर आधार बिन्दु के रूप में कार्य करते, वे एक बड़े रूप में सामने नहीं आए। पांच हजार से ऊपर की आवश्यकता है, पर ऐसे केन्द्र चार सौ से भी कम हैं।

खादी और ग्रामीण उद्योगों, और कुछ सीमा तक हथकरघा बुनकर जिन्हें सहकारिताओं से सहयोग मिला है, जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर बहुत से ग्रामीण उद्योग निजी विपणन व्यवस्था पर निर्भर है जो स्पष्टतः शोषक हैं। अतः उचित बाजारी निर्गम के अभाव ने ग्रामीण उद्योगों के लिए एक महत्वपूर्ण प्रेरणाभंग करने वाले तत्व के रूप में कार्य किया है और कुशल हस्तशिल्पियों और उद्यमियों के उत्साह को क्षति पहुंचाई है।

5) **संगठन**

ग्रामीण क्षेत्रों में औद्योगिक क्रियाकलाप अव्यवस्थित रूप से चल रही है। प्रत्येक उद्योग के लिए अलग से एक विशिष्ट संगठनात्मक तंत्र के बावजूद भी ऐसा हुआ है।

सबसे ज्यादा विचलित करने वाला तथ्य यह है कि औपचारिक रूप से इन संगठनों की छतरी के भीतर कहे जाने वाले उद्योगों में भी गुणवत्ता और सेवाओं के परिमाण निरन्तर सीमित हैं। और तो और सहकारिताओं के निर्माण ने भी वास्तविक बुनकरों के एक बड़े भाग के जीवन में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं किए हैं। यह कोई आश्चर्य नहीं है कि बुनकर जनसंख्या का एक बड़ा भाग सहकारिताओं और बड़े बुनकरों के बीच में कोई अन्तर नहीं देख पाता।

बहुउद्देशीय जिला उद्योग केन्द्र कार्यक्रम मध्यम और बड़े स्तर के उद्योगों की मदद के अलावा ग्रामीण एवं लघु उद्योग क्षेत्रक की सेवा करने के लिए बना था। यदि इन केन्द्रों का ग्रामीण उद्योगों से सम्बद्ध कार्यक्रमों में सम्मिलित होना कोई संकेत है तो इनके प्रारम्भ होने से उद्योगों की स्थिति में कोई ठोस परिवर्तन नहीं हुआ है। अब समय है कि इन केन्द्रों की ग्रामीण उद्योगों की उन्नति से सम्बन्धित क्रियाकलापों का मूल्यांकन किया जाए। ऐसे परीक्षण से उपयुक्त नीति परिवर्तन के रूप-रेखा और भविष्य में कार्यान्वयन के लिए आधार तैयार होगा।

8.8 सहायता के सरकारी उपाय

यह सत्य है कि ग्रामीण और छोटे उद्योग भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था का एक अभिन्न भाग है, भारत सरकार द्वारा स्वीकार किया जा चुका है। औद्योगिक नीति प्रस्ताव (The Industrial Policy Resolution) 1948 और उसके बाद की नीति संबंधी कथनों ने बहुत स्पष्ट रूप से ग्रामीण अर्थव्यवस्था में उद्योगों के महत्व और भूमिका को रेखांकित किया है।

इन योजनाओं के अन्तर्गत प्रयुक्त योजना और नीति का अनुसरण करने के लिए सरकार ने ग्रामीण उद्योगों की सहायता के लिए निम्नलिखित कदम उठाए हैं:

1) **ऋण सुविधाएं:** संस्थागत वित्त की आपूर्ति के लिये ग्रामीण और छोटे उद्योगों को प्राथमिकता वाला क्षेत्रक माना जाता है। इसे राज्य सरकारों, राज्य वित्तीय सहकारी समितियों और बैकिंग संस्थाओं से वित्तीय सहायता मिलती है।

2) **कच्चे माल का आबंटन:** कच्चे माल के आबंटन में लघु क्षेत्रक को प्राथमिकता दी जाती है। सहकारी समितियों के अभिकरण के माध्यम से ग्राम्यधारित उद्योग को दुर्लभ कच्चे मालों का वितरण करने के प्रयास किये जाते हैं।

3) **तकनीकी सहायता सलाह:** सेवा संस्थाओं और विस्तार उत्पादन तथा प्रशिक्षण केन्द्रों के तंत्र के द्वारा लघु उद्योग विकास संस्था (SIDO) लघु स्तरीय निर्माताओं को तकनीकी सलाह और सहायता देती है। यह संस्था (SIDO) साधारण सेवा और छोटे उद्योगों की सेवा संस्थाओं और विस्तार केन्द्रों से जुड़ी उपकरण ग ह सुविधायें भी प्रदान करती हैं। यह प्रबन्धन और तकनीकी शाखा के पाठयक्रमों का संचालन भी करती है।

राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (NSIC) जिसकी स्थापना 1955 में हुई थी, रियायती दरों में भाड़ा एवं क्रय आधार (hire purchase) पर छोटे निर्माताओं के लिये मशीने प्राप्त करने की योजना का संचालन करती है। यह सरकारी विभागों और अभिकरणों से लघु उद्योगों के लिये आदेशों की प्राप्ति में भी मदद करती है। अमरीकी, जर्मन और जापानी मदद से आदि प्रारूप (proto type) विकास और प्रशिक्षण केन्द्र राजकोट, ओखला और हावड़ा में छोटे-उद्योगों में लगे व्यक्तियों को प्रशिक्षण देने के लिये खोले गये हैं।

4) **औद्योगिक बस्तियां और जिला उद्योग केन्द्र:** छोटी उद्योग इकाइयों को एक अधिक अनुकूल वातावरण में समायोजित करने के लिये सारे देश में बहुत सी औद्योगिक बस्तियां स्थापित की गयी है, जहां उनके निर्बाध कार्य करने के लिये बहुत सी सामान्य और सांझी सुविधाएं उपलब्ध हैं।

   जिला उद्योग केन्द्रों (DICs) की योजना का प्रारम्भ मई 1978 में हुआ। इस योजना का स्वीकृत उद्देश्य छोटे उद्योगों के विकास के लिये केन्द्रीय बिन्दु प्रदान करना है।

5) **ग्रामीण उद्योग परियोजनाएं:** ग्रामीण उद्योग परियोजनाओं के लिये एक केन्द्रीय प्रायोजित योजना 1962-63 में प्रारम्भ की गई। इसका मुख्य उद्देश्य असत्कारशील ग्रामीण वातावरण में लाभप्रद औद्योगिक इकाइयां स्थापित करने के लिये तकनीकें विकसित करना रहा है। दूसरा लक्ष्य भिन्न प्रदेशों के बीच विकास के स्तरों में दूरता को कम करना और लाभप्रद रोजगार अवसर प्रदान करना है।

6) **खाद्य उद्यान (Food parks):** खाद्य प्रसंस्करण आधारिक संरचना के विकास की योजना के एक भाग के रूप में, सरकार देश के विभिन्न भागों में खाद्य उद्यानों की स्थापना को प्रोत्साहन देती रही है। खाद्य उद्यानों की स्थापना के पीछे विचार यही है

कि छोटे और मध्यम उद्यमियों के लिये पूंजी सघन गतिविधियों, जैसे शीतागार, माल गोदाम, गुणवत्ता नियंत्रण प्रयोगशालाएं, निस्सारी उपचार संयन्त्र इत्यादि में निवेश करना कठिन होता है। ऐसी सुविधाओं के विकास के लिये सहायता खाद्य उद्यानों में खाद्य प्रसंस्करण इकाई को अधिक लागत प्रभावी बना सकते हैं और बेहतर बाजार अभिविन्यास प्रदान करते हैं। सार्वजनिक उद्यम, निजी क्षेत्रक, गैर सरकारी संस्थाएं, सहकारी समितियां आदि सामान्य सुविधाओं के लिये 4 करोड़ रु० के अनुदान के पात्र हैं। सामान्य सुविधाओं में निर्बाध विद्युत आपूर्ति, जल आपूर्ति, शीतागार संयन्त्र, माल गोदाम सुविधाएं, निस्सारी उपचार संयन्त्र, गुणवता नियंत्रण एवं विश्लेषणात्मक प्रयोगशाला आते हैं। देश के विभिन्न राज्यों में अभी तक 20 खाद्य उद्यान स्वीकृत हो चुके है।

7) **विपणन सहायताः** कुटीर और छोटे उद्योगों को सरकार विपणन सहायता देती है। सरकार द्वारा स्थापित विविध मंडलों को कुटीर ओर लघु उद्योगों के उत्पादों के विपणन को सरल बनाने का कार्य सौंपा जाता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक राज्य सरकार ने बड़े शहरों में विक्री डिपो और वाणिज्य केन्द्र स्थापित किये हैं जहां ग्रामीण क्षेत्रों और छोटे नगरों से लाये गये उत्पादों का विपणन होता है।

8) **खादी और ग्राम उद्योग आयोगः** खादी और ग्राम उद्योग आयोग (KVIC) पर ग्राम उद्योग के विकास के लिये योजना, संगठन और कार्यक्रमों के परिपालन का भार है।

8.9 सरकारी नीति का प्रभाव

50 से भी अधिक के वर्षों में, भारत में ग्रामीण औद्योगिकरण की ठोस सच्चाई अभी भी प्रायोगिक चरण में है। ग्रामीण औद्योगिकरण का उत्तरदायित्व बहुत से मंत्रियों और विकासीय अभिकरणों के बीच विस्त त रूप से बिखरा हुआ है। यद्यपि सरकार इनमें से प्रत्येक ग्रामीण क्षेत्रों में निजी उद्योगों की उन्नति पर विशेष ध्यान देने और विभिन्न अभिकरणों के साथ बेहतर सहयोग बनाने के लिये गुहार करती है, तथापि अभी तक केन्द्रीय या राज्य स्तर पर इस दिशा में गंभीर प्रयास नहीं किये गये हैं। परिणामस्वरूप यह कहावत 'सबका कार्य किसी का कार्य नहीं होता' ग्रामीण औद्योगिकरण के क्षेत्र पर लागू होती हैं।

8.10 ग्रामीण उद्योग नीति के लिए सुझाव

ग्रामीण औद्योगिकरण के लिये एक कार्यक्रम में निम्न प्रकार के उद्योगों को लगाने की सम्भाव्यता पर विचार करना चाहिएः

1) **कृषि उत्पादों का प्रसंस्करणः** एक बड़ी संख्या में लोगों को पूर्ण कालिक रोजगार देने के लिये बहुत सी औद्योगिक इकाई लगाई जा सकती हैं। इनसे कृषकों और उनके परिवारों को अंशकालिक/पूरक रोजगार भी मिल सकता है। ऐसे उद्योगों के कुछ उदाहरण कपास का प्रसंस्करण, ओराई (ginning), दूध और दुग्ध पदार्थों का बनाना, जूट निमार्ण और चीनी निकालना है।

2) कृषि उपोत्पादन प्रयोग के लिये उद्योग में विभिन्न कृषि उपोत्पादनों को कच्चे माल के रूप में प्रयोग करने की तकनीकी संभावनाओं के अन्वेषण के लिये यथेष्ट कार्य क्षेत्र है।

3) **ग्राम हस्तशिल्प और कुटीर उद्योगों का विकासः** ग्रामीण उद्योगों का न केवल उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन के लिये आवश्यक पूंजी वस्तुओं जैसे हल, गैंती, बेलचे, पहिया ठेलों के उत्पादन में सहायता के लिये भी प्रयोग किया जा सकता है। कुछ कृषि मशीन के भाग या दूसरे उपकरण पुर्जे विशिष्टता के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में बनाये जा सकते हैं।

4) **व तिक सेवा क्षेत्रकः** ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ व्यवसायों जैसे माली, मोची, लुहार और बढ़ई आदि के युक्तीकरण की आवश्यकता है।

औद्योगिक उत्पादन की उन्नति की योजना निम्नलिखित बिंदुओं पर आधारित होनी चाहिए:

- लोगों के जीवन स्तर में व द्धि जिसके लिये प्रति व्यक्ति आय में मान्य आधार पर तीव्रता लानी होगी।
- आय वितरण में असमानताओं में कमी।
- बेरोजगारी और अर्धरोजगारी में कमी।
- औद्योगिक उन्नति में प्रादेशिक असमानता में कमी और संतुलित प्रादेशिक विकास को प्रोत्साहन।

ग्रामीण औद्योगिकरण के तीव्रीकरण के लिये स्थानीय उपभोग हेतू एक विस्त त प्रकार की उपभोक्ता वस्तुओं जैसे वनस्पति तेल, साबुन, कृषि उपकरण, कपड़ा कुछ यंत्र सामग्री का सामान आदि का उत्थान करना आवश्यक होगा। ग्रामीण समुदाय को आय के बहुल प्रभावों का फल भोगने और वित्तीय व्ययों/लागतों का ग्रामीण उद्योग परियोजनाओं में नियोजन करने में मदद मिलनी ही चाहिए।

बोध प्रश्न 4

1) खाद्य उद्यानों की स्थापना की क्या आवश्यकता है ?

....

....

....

2) ग्रामीण उद्योग के लिये कच्चा माल प्राप्त करना एक बड़ी समस्या क्यों है ?

....

....

....

3) ग्रामीण उद्योगों की सहायता में क्या सरकारी उपाय रहे हैं ?

....

....

....

8.11 सारांश

यह सत्य कि ग्रामीण उद्योग भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था का अभिन्न अंग है, बहुत पहले ही सरकार द्वारा स्वीकार कर लिया गया। औद्योगिकरण नीति प्रस्ताव 1948 और उसके बाद के नीति वक्तव्यों ने बहुत स्पष्ट रूप से ग्रामीण अर्थव्यवस्था में उद्योगों के महत्व और भूमिका को रेखांकित किया था। इस नीति और योजनाओं के दौरान अपनायी गयी योजना के अनुसरण के लिये सरकार ने ग्रामीण औद्योगिकरण कार्यक्रमों को प्रोत्साहन देने के लिये कई कदम उठाये। फिर भी ग्रामीण उद्योग की उन्नति उत्साहवर्धक नहीं है। यदि ग्रामीण

निर्धनता और बेरोजगारी में बड़ा परिवर्तन लाना है तो ग्रामीण उद्योग को ऊंचे रूप में प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है।

8.12 शब्दावली

कृषि प्रसंस्करण उद्योग : वे उद्योग जो कृषि से कम से कम 50% कच्चा माल कृषि क्षेत्र से लेते हैं और उसके द्वारा किये गए प्रसंस्करण के फलस्वरूप जोड़ा गया मूल्य अधिक से अधिक 50% हो।

गैर पारम्परिक वस्तुएं : पारम्परिक कृषि पदार्थों जैसे चाय, कॉफी, रबड़ और मसालों के विपरीत फल, सब्ज़ियां, फूलों, प्रसंस्कारित खाद्य आदि गैर-पारम्परिक कृषि निर्यातों की श्रेणी में आते हैं।

8.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Dhingra, I. C., 2003, *Special and Preferred Sector Finance*, Sultan Chand and Sons, New Delhi

Reserve Bank of India, *Report on Currency and Finance*, various issues

Government of India, *Indian Economic Survey*, various issues

Planning Commission, 2003, *Tenth Five-Year Plan 2002-07*, Governmnet of India

8.14 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

बोध प्रश्न 1

1) कृपया 8.2 भाग देखें और उत्तर दें।

2) कृपया 8.3 भाग देखें और उत्तर दें।

बोध प्रश्न 2

1) मुख्य लक्षणों में स्थानीय रूप से उपलब्ध संसाधनों, निम्न मशीनीकरण घरेलू श्रम का प्रयोग और निम्नस्तर के संचालन सम्मिलित हैं।

2) शिल्पकारों की मुख्य समस्याएं कच्चे माल प्रापण और उत्पादन के विपणन से संबंधित हैं। वित्तीय संस्थाओं से ऋण की उपलब्धता एक अन्य समस्या है।

3) भाग 8.5 देखें और राष्ट्रीय विकास, आय और रोजगार उत्पत्ति में खादी के योगदान के विषय में देखें ।

बोध प्रश्न 3

1) इस प्रश्न के उत्तर में आप कृषि आधारित और कृषि प्रसंस्करण उद्योगों को परिभाषित करें।

2) उप-भाग 8.6.2 देखें ।

3) उप-भाग 8.6.3 देखें। विशेष रूप से प्राथमिक खाद्य प्रसंस्करण।

बोध प्रश्न 4

1) खाद्य उद्यान खाद्य प्रसंस्करण उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए बनाए गए हैं। कुछ आधारित संरचना से संबंधित सुविधाएं एक उद्योग के लिए आवश्यक है किन्तु ग्रामीण उद्यमियों के लिए व्यवहार्य नहीं है। यह सुविधाएं खाद्य उद्यान में मिलती हैं।

2) कच्चे माल की अनुपलब्धता के कारणों में वनों का क्षय, वित्त सुविधाओं का अभाव और कच्चे माल की कीमतों में उतार-चढ़ाव है। भाग 8.7 देखें।

3) भाग 8.8 देखें।

इकाई 9 भूमि उपयोग एवं फसल पद्धति

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 भूमि उपयोग प्रतिमान

9.2.1 भूमि उपयोग का वर्गीकरण

9.2.2 भूमि उपयोग प्रतिमान में परिवर्तन

9.3 भारत में कृषि भूमि का उपयोग

9.3.1 वैज्ञानिक फसल प्रारूप

9.3.2 वैज्ञानिक भू प्रयोग के लिए सरकारी हस्तक्षेप

9.4 भारत में म दा दशायें

9.5 भूक्षरण

9.5.1 जल द्वारा भूक्षरण

9.5.2 वायु क्षरण

9.5.3 लवणीकरण

9.5.4 जलग्रस्तता

9.6 भारत में फसल पद्धतियां

9.6.1 फसल प्रणाली के प्रकार

9.6.2 फसल प्रणालियां भिन्न क्यों

9.7 वर्तमान फसल प्रणालियां

9.7.1 खरीफ मौसम की फसल प्रणालियां

9.7.2 रबी मौसम की फसल प्रणालियां

9.8 फसल पद्धतियों में परिवर्तन

9.8.1 फसल पद्धतियों को प्रभावित करने वाले कारक

9.8.2 फसल पद्धतियों में उभरती समस्याएं

9.9 वर्तमान प्रव ति के दीर्घकालीनऽप्रभाव

9.9.1 उर्वरकों और कीटनाशकों के प्रयोग में व द्धि

9.9.2 जल की मांग में व द्धि

9.9.3 वन क्षेत्रों का अवक्षय

9.10 सारांश

9.11 शब्दावली

9.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.13 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

9.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप जानेंगे:

- भूमि उपयोग के तथ्य की व्याख्या;
- भूमि प्रयोग की श्रेणियों से परचित करना;
- भूमि प्रयोग पद्धति में परिवर्तन की व्याख्या;
- कृषि उत्पादन की पद्धति की व्याख्या;

- समय के साथ फसल पद्धति में आए परिवर्तनों के विषय में जानकारी प्राप्त करना; तथा
- फसल पद्धति में परिवर्तनों के प्रभावो के विषय में जानकारी प्राप्त करना।

9.1 प्रस्तावना

किसी भी देश में अधिकतर भूमि को जोतने की परिधि सीमित होती है। भौतिक दशायें, विकास का स्तर, भौगोलिक स्थिति, जनसंख्या का आकार और व द्धि, संस्थागत ढांचा इत्यादि कारक एक अर्थव्यवस्था में भूमि उपयोग की प्रकृति निर्धारित करते हैं। भूमि की गुणवत्ता, लोगों की खान-पान संबंधी आदतों और भिन्न फसलों की आपेक्षिक लाभ देयता को ध्यान में रखकर ही कृषि के लिये उपलब्ध क्षेत्र का प्रयोग विभिन्न फसलों के लिये किया जाता है। अतः जैसे-जैसे भोजन की आदतों, सापेक्ष मूल्यों और उत्पादकता में परिवर्तन आता है, समय के साथ फसल की प्रतिमान प्रकृति में भी परिवर्तन आता है। फिर भी किसी देश में ऐसे परिवर्तन भूमि उपयोग योजना के अनुरूप होने चाहिये।

इस इकाई में हम भारत में भूमि प्रयोग और फसल प्रतिमानों, के विषय में जानेंगे (विशेष रूप से स्वतंत्रता पश्चात् के दौरान)। हम इन प्रतिमानों में परिवर्तनों के संभावित कारणों की भी चर्चा करेंगे।

9.2 भूमि उपयोग प्रतिमान

विस्त त रूप से भूमि उपयोग प्रतिमान से तात्पर्य भिन्न पारिस्थितिकीय परिद श्यों के अन्तर्गत भूमि संसाधनों का उपयोग है। किसी विशेष समय में एक देश भूमि उपयोग प्रतिमान वहां की भौतिक, आर्थिक और संस्थागत रूपरेखा को एकत्रित करके निर्धारित होता है। दूसरे शब्दों में भारत के विभिन्न प्रदेशों में विद्यमान भूमि उपयोग प्रतिमान विभिन्न कारकों जैसे भूमि की भौतिक विशिष्टता, संस्थागत ढांचा, अन्य उपलब्ध संसाधनों (पूंजी, श्रम इत्यादि) की संरचना की क्रिया और प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप विकसित हुआ है। इसके अतिरिक्त आर्थिक विकास के अन्य पक्षों अर्थात परिवहन, उद्योग, व्यापार आदि से संबंधित पक्षों के संबंध में प्रदेश की भौगोलिक स्थिति भी भूमि उपयोग प्रतिमान को प्रभावित करती हैं। हाल के वर्षों में वर्तमान भूमि उपयोग प्रतिमान और प्रव त्तियों के सूक्ष्म परीक्षण से हमें भारतीय आर्थिक द श्य को समझने में मदद मिलेगी।

9.2.1 भूमि उपयोग का वर्गीकरण

भूमि प्रयोग के परिप्रेक्ष्य से भारत में कुल भूमि को पांच श्रेणियों में बांटा जा सकता है। ये हैं :

1) वन
2) कृषि के लिये अनुपलब्ध क्षेत्र
3) बिना जुती भूमि (परती भूमि को प थक)
4) परती भूमि
5) कृषि योग क्षेत्र

कृषि के लिये अनुपलब्ध क्षेत्र में सामान्यतः औद्योगिक और गैर कृषि प्रयोगों वाले क्षेत्र के साथ-साथ बंजर और बिना जुती भूमि भी सम्मिलित है। बिना जुती भूमि के शीर्षक के अन्तर्गत हम चारागाह, चारागाही भूमि, व क्ष आवरण और बंजर भूमि को रखते है। दूसरी ओर परती भूमि वह भूमि है जो कृषि योग्य है परन्तु क षि नहीं की गई है। खेती की गई भूमि शुद्ध बीजित क्षेत्र (net sown area) को दर्शाती है।

अब हम वर्ष 1995 के लिये भूमि उपयोग प्रतिमान को देखेंगे। भारत का कुल क्षेत्र 3287.30 लाख हैक्टर है। भूमि उपयोग वर्गीकरण के लिये 1995 के उपलब्ध आंकड़े 3048.30 लाख के लिये है। जिसमें वन क्षेत्र 22.43% (683.90 लाख हैक्टर) है। तालिका 9.1 में आप देखेंगे कि कुल भौगोलिक क्षेत्र का सबसे बड़ा भाग 1428.20 लाख हैक्टरश्शुद्ध बीजित क्षेत्र (46.8%)ऽघिरा हुआ है। दूसरी ओर गैर कृषि क्षेत्र जिसमें गैर कृषि उपयोगों और बंजर तथा बिना जुती भूमि भी आते है कुल क्षेत्र का 13.6% है। दूसरे बिना जुती भू भाग, परती भूमि के अलावा जिनमें (1) स्थायी चारागाह और अन्य चराई वाली भूमि, (2) विविध व क्ष फसलों और बाग के अन्तर्गत भूमि जो शुद्ध बीजित क्षेत्र में सम्मिलित नहीं है, (3) बंजर भूमि आते हैं, 290.80 लाख हैक्टर है (कुल क्षेत्र का 9.6 प्रतिशत)। इनमें से 112.40 लाख हैक्टर स्थायी चारागाह और अन्य चराई क्षेत्र के अन्तर्गत है, 36.30 लाख हैक्टर में विविध व क्ष और उपवन और 142.10 लाख हैक्टर भूमि बंजर है। परती भूमि 233.30 लाख हैक्टर यानि 7.6 प्रतिशत का क्षेत्र घेरे हुये है।

9.2.2 भूमि उपयोग प्रतिमान में परिवर्तन

1995 में जो तस्वीर हम देखते हैं वह 1950 से बहुत भिन्न है। आप 1995 और 1950 के भूमि उपयोग प्रतिमान की तुलना तालिका 9.1 द्वारा कर सकते हैं। तालिका के कुछ विशिष्ट लक्षण इस प्रकार हैंः

1) वन आवरण के अन्तर्गत क्षेत्र 1950 में 14.24% था जो 1995 में बढ़कर 22.43% हो गया है।

2) कृषि के लिये उपलब्ध क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने वाला शुद्ध बीजित क्षेत्र 1950 में 41.77% से बढ़कर 1995 में 46.85% हो गया है। यह अतिरिक्त क्षेत्र को जोतने के कारण संभव हो सका है।

3) कृषि के लिये अनुपलब्ध क्षेत्र 1950 के 16.71% से घटकर 1995 में 13.54% हो गया है। यहां, गैर कृषि उपयोगों के लिये क्षेत्र बढ़ा है जबकि बंजर भूमि का क्षेत्र घटा है। इसका तात्पर्य है कि बंजर भूमि का एक बड़ा भाग आर्थिक उपयोग के काम लाया गया है।

4) परती भूमि के अलावा बिना जुती भूमि का क्षेत्र कम हुआ है। इस संदर्भ में महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि विविध व क्ष, फसलों, व क्षारोपण इत्यादि के अन्तर्गत का क्षेत्र 6.97% से घटकर 1.19% हो गया है।

सकल फसल क्षेत्र में 562.60 लाख हैक्टर (1950 में 1318.90 लाख हैक्टर से 1995 में 1881.50 लाख हैक्टर तक) की सुस्पष्ट व द्धि है। फसल की मात्रा में 110.7 से 131.7 की व द्धि रवी और ग्रीष्म में जुतने वाले क्षेत्र का एक संकेत है। बड़ी, मध्य और छोटी सिंचाई परियोजनाओं का विकास एवं निर्माण के परिणामस्वरूप ऊंची फसल मात्रा और कृषि के अन्तर्गत अधिक क्षेत्र आना संभव हुआ है।

राष्ट्रीय वन नीति में स्पष्ट है कि वन के अन्तर्गत क्षेत्र को देश के कुल भौगोलिक क्षेत्र के 33% तक स्थिरतापूर्वक बढ़ाया जाये। अब वहां कृषि योग्य भूमि के विस्तार के लिये पारिस्थितिकीय स्थिति में असंतुलन पैदा किए बिना कोई गुंजाइश नहीं है। सिंचाई सुविधाओं में विस्तार से अधिक मात्रा में खेती और सूखी खेती की वैज्ञानिक विधियों से बढ़ती जनसंख्या की खाद्य आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है।

तालिका 9.1

भूमि के प्रकार	1950		1965	
	क्षेत्र	प्रतिशत	क्षेत्र	प्रतिशत
क) कुल भौगोलिक क्षेत्र	328.73		328.73	
ख) भूमि उपयोग के लिए रिपोर्ट की गई क्षेत्र (=1+2+3+4+5)	284.32		304.85	
1) वन ो	40.48	14.24	68.39	22.43
2) कृषि के लिए अनुपलब्ध क्षेत्र	47.52	16.71	41.28	13.54
i) गैर-कृषि उपयोग क्षेत्रो	9.36	3.29	22.51	7.38
ii) बंजर और अकृष्य भूमिो	38.16	13.42	18.77	6.16
3) परती भूमि के अतिरिक्त अन्य अकृष्य भूमिो	49.45	17.39	29.08	9.54
i) स्थाई चारागाह व अन्य चराई की भूमि ो	6.68	2.35	11.24	3.70
ii) शुद्ध बीजित क्षेत्र से बाहर विविध व क्ष फसलों की भूमि और समूहोंो	19.83	6.97	3.63	1.19
iii) कृषि अवशेषो	22.96	8.08	14.21	4.66
4) परती भूमि ो	28.12	9.89	23.3	7.64
i) चालू परती के अतिरिक्त परती भूमि	17.44	6.13	9.77	3.20
ii) चालू परती	10.68	3.76	13.53	4.44
5) शुद्ध बीजित क्षेत्र	118.75	41.77	142.82	46.85
ग) सकल फसल क्षेत्र	131.89		188.15	
घ) कृषि तीव्रता (%)	111.07		131.70	

स्रोतः कृषि सांख्यिकी पर एक नजर : 1999, भारत सरकार

9.3 भारत में कृषि भूमि का उपयोग

1993-94 में 426.80 लाख हैक्टर में चावल, 252 लाख हैक्टर में गेहूं, 335 लाख हैक्टर में मोटे अनाज और 1014.90 लाख हैक्टर में कुल अनाज बोया जाता था। 234 लाख हैक्टर में दाल, 1248 लाख हैक्टर में खाद्यान्न, 294 लाख हैक्टर में फल, 42 लाख हैक्टर में सब्जी, 285 लाख हैक्टर में तेल बीज, 836 लाख हैक्टर में रेशे, 4.2 लाख हैक्टर में तम्बाकू , 37.4 लाख हैक्टर में गन्ने, 23.6 लाख हैक्टर में मसाले और 106.40 लाख हैक्टर में अन्य फसलें उगाई जाती थीं।

9.3.1 वैज्ञानिक फसल प्रारूप

उपलब्ध भूमि संसाधनों से कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिये, वैज्ञानिक विधि से फसल लगाने के प्रतिमान के प्रयोग की आवश्यकता थी। फसल बोने की प्रणाली में इस विषय में बहुत

सम्भावनाएं हैं। फसल लगाने की तकनीक को अपनाना और इसका सफलतापूर्वक प्रयोग करना भौतिक, सामाजिक और आर्थिक संसाधनों पर निर्भर करता है, जो आवश्यक पड़ने पर उपलब्ध किए जा सकते हैं। स्थान विशिष्ट और खेत आधारित फसल लगाने की पद्धति में ऐसे कुछ निर्धारकों जैसे भूमि के प्रकार, जल की उपलब्धता, सूर्य की रोशनी की तीव्रता और अवधि, श्रम उपलब्धता, नकदी या वित्त, बिजली स्रोत और बाजार मांग आदि को ध्यान में रखकर विकसित करना चाहिये।

संकलित कृषि प्रणाली में फसलों को मुख्य उद्यम के रूप में लेकर पर्याप्त संसाधन उपयोग करना मूल समस्या है। कैरॉडैंग (Carandang) ने 1980 में परिकल्प की थी कि फसल लगाने की प्रणाली के द ष्टिकोण के दो भाग हैंः फार्म (खेत में) संसाधन और उत्पादन तकनीकी। फार्म संसाधन दो प्रकार के है : भौतिक और सामाजिक-आर्थिक। भौतिक संसाधनों में भूमि, सूर्य का प्रकाश और जल आते हैं। दूसरी ओर सामाजिक–आर्थिक कारकों में बाजार, श्रम, बिजली, पूंजी इत्यादि आते हैं। उत्पादन तकनीक फसलों की प्रकृति और विविधताओं, जोतने वालों, उवर्रकता, खरपतवार प्रबन्ध, कीटनाशक प्रबन्ध, रोग नियन्त्रण, अन्तर खेत अवधि, जल प्रबंन्धन इत्यादि पर निर्भर करती है। कृषि संसाधन और उत्पादन-तकनीक दोनों को वैज्ञानिक आधार पर संकलित करने की आवश्यकता है।

9.3.2 वैज्ञानिक भूमि उपयोग के लिए सरकारी हस्तक्षेप

एक राष्ट्र हजार सालों तक रहता है जबकि मनुष्य कुछ दशकों तक रहते हैं। अतः व्यक्तिगत क्रियाओं को भविष्य की पीढ़ी की संभावनाओं के लिए सीमित नही करना चाहिए। किसी राष्ट्रीय सरकार को भविष्य की पीढ़ियों के हितों की रक्षा के लिए, वर्तमान पीढ़ी के कल्याण के साथ समझौता नहीं करना चाहिये। इसी कारण बेहतर भूमि उपयोग योजना की आवश्यकता होती है, जहां सार्वजनिक और निजी हितों का ध्यान रखा जा सके।

वैज्ञानिक और निर्वाह योग्य भूमि उपयोग को सुविधाजनक बनाने के लिये सरकार को बहुत से विधान बनाने पड़ते है। ये विधान अधिकतम स्वतंत्रता के पश्चात बने है। भूमि उपयोग विधेयक 1947 और 1949 में क्रमशः उत्तर प्रदेश और पंजाब सरकार द्वारा पारित किया गया था। उत्तर प्रदेश म दा संरक्षण विधेयक 1954 बिक्री संरक्षण कार्यक्रमों को धारण करता है। बिहार और पंजाब के राज्यों ने भूमि सुधार विधेयकों को पारित किया है। मध्य भारत भूमि उपयोग विधेयक 1950 अधिक अवधिओं के लिये धरती परती रखने पर प्रतिबंध लगाता है। बम्बई खार भूमि विधेयक 1948 और पंजाब भूमि परिरक्षण, संशोधन विधेयक 1953 भूमि साधनों के दुरूपयोग को रोकने के लिये बनाये गये।

फिर भी ये विधेयक भूमि संसाधन के कुप्रबंधन का नियंत्रण रखने में असमर्थ रहे हैं। अनुचित परिपालन और कानूनों की अस्पष्ट व्याख्या के कारण भूमि के दुरूपयोग की बहुत सी घटनाएं हुई हैं।

9.4 भारत की म दा दशायें

कृषि उत्पादन के लिये मिट्टी एक आवश्यक साधन है। यह उत्पादन व द्धि में सहयोग देती है। आप जानते होंगे कि मिट्टी एक स्थानान्तरणीय प्राकृतिक देन है जो भूमि की ऊपरी सतह पर पाई जाती हैं और उत्पादन का प्राकृतिक माध्यम प्रदान करती है। मिट्टी एक प्राकृतिक वस्तु है जो असंपिंडित धातु और जैविक पदार्थ की तहों में विभाजित है। हर प्रदेश में मिट्टी की गहराई भिन्न-भिन्न है।

भारत की म दा/मिट्टी को कई समूहों में और उप समूहों में वर्गीकृत किया जाता है। मुख्य समूह निम्न प्रकार हैं:

i) **लाल म दा**

लोहे की विविध आक्साइडों की उपस्थिति के कारण मिट्टी का रंग लाल होता है। ये म दाएं उर्वरक में मंद और जैविक पदार्थों में क्षीण होती है। इस प्रकार की म दा तमिलनाडू, कर्नाटक, गोआ, दमन और दिउ, दक्षिण-पूर्वी महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़, उड़ीसा और झारखंड के विस्त त क्षेत्र को समेटे हैं। इसका विस्तार बिहार के संथाल परगना और पश्चिमी बंगाल के बिरभूम जिले से उत्तर प्रदेश में झांसी और हमीरपुर तक मिलता है। तमिलनाडू में लाल म दा सर्वाधिक क्षेत्र घेरती है और कृषि भूमि का लगभग दो तिहाई भाग निर्माण करती है।

ii) **भखरला म दा**

म दा का यह प्रकार पीत लाल या लाल रंग का होता है। ये म दाएं जैविक पदार्थ से भरपूर होती है। भारत में ये म दाएं आन्तरिक रूप से आर्द्र जलवायु में विशेष रूप से पाई जाती है। म दा की यह प्रकार सामान्यतः कर्नाटक की पहाड़ियों के शिखर, केरल, मध्य प्रदेश, उड़ीसा के पूर्वी घाट, महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल और तमिलनाडू में पहाड़ियों के शिखर में पाई जाती है। भखरल म दा की निम्नतर उन्नतांश (lower elevations) पर धान और उच्चतर उन्नतांश पर चाय, रबड़ कॉफी और सिंकोना उगाया जाता है।

iii) **काली म दा**

इस प्रकार की म दा की विशेषता है गहरा रंग, जो गहरे भूरे से गहरे काले तक जाता है। इन म दाओं में ऊंची मात्रा में जैविक पदार्थ पाया जाता है ये म दा गहराई में सतह से गहरे तक होती है। नितान्त रूप से दक्खन (डकन) मुख से व्युत्पन्न काली कपास म दा है। यह महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश के पश्चिमी भाग, आंध्र प्रदेश, गुजरात और तमिलनाडु के कुछ भागों में पाई जाती है। बहुत से काली मिट्टी वाले प्रदेशों में उच्च श्रेणी की उर्वरकता है। लेकिन कुछ विशेषकर उच्चभूमियाँ (uplands) सामान्य रूप से उत्पादक हैं। महाराष्ट्र में ये म दाएं दक्खन (डकन) मुख से व्युत्पन्न है और काफी बड़े क्षेत्र को घेरती है।

iv) **कछारी म दा**

ये म दा गहरे रंग की होती है और इसमें चूना होता है। इसमें पर्याप्त क्षारीयता या लवणता पाई जाती है। ताजे कछार गठन में अधिक खुरदरे होते हैं और थोड़े या न के बराबर समतलता वाले होते है। यह भारत में कृषि में सर्वाधिक अंश का योगदान देने वाला सबसे बड़ा और सबसे महत्वपूर्ण म दा समूह है। इस प्रकार की म दा गंगा और ब्रह्मपुत्र प्रणाली के छोड़े गये निक्षेपणों द्वारा बनती है। कछारी म दा का विस्तार पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश और असम तक है। तमिलनाडू, केरल और गुजरात के तटों के किनारे के डेल्टा प्रदेशों की कछारी म दा दक्षिणी नदियों के तलछट का निक्षेपण है।

v) **मरूस्थल म दा**

इस प्रकार मिट्टी में जैविक पदार्थ बहुत कम होता है। इसका रंग पीले भूरे से लेकर पीत भूरे तक होता है। इसमें बहुत से तत्व जल में घुलनशील खनिज होते हैं। ये म दायें पश्चिमी राजस्थान, हरियाणा, पंजाब में जो सिंधु नदी और अरावली श्रेणी के बीच में है, प्रमुख रूप से पाई जाती है। राजस्थान का मरूस्थल एक व हद मरू मैदान है जिसमें जगह-जगह पर एकाध पहाड़ियां भी हैं। बहुत से भागों में से म दायें विपरीत भौतिक दशाओं के साथ क्षरीय से लवणीय तक भी होती है।

vi) **तराई म दा**

इस प्रकार की म दा हिमालय प्रदेश की पहाड़ियों, जम्मू और काश्मीर, उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिमी बंगाल में पाई जाती है। ये निम्नतर हिमालय श्ंखला से पदार्थों के निम्न गतिशीलता से बनती है।

vii) **भूरी म दाएं**

इस प्रकार म दाएं भूरी और जैविक पदार्थ में मध्यम रूप से परिपूर्ण होती है। इसमें जैविक कार्बन 0.5 से 1 प्रतिशत तक पाया जाता है। यह म दा प्रकृति में हल्के क्षारीयता से विभुत्य होती है।

viii) **लवण एवं क्षारीय म दा**

इसमें घुलनशील लवणों के ऊंची मात्रा पाई जाती है। यह अनुमान लगाया जताा है कि देश में लगभग 70 लाख हैक्टर भूमि लवणता के कारण ही कृषि योग्य नहीं है। इस म दा में लवणीय म दा के तीन मामले सामने आये हैं।

क) लवणीय म दा

इस म दा में शुद्ध अंचल में घुलनशील लवणों के विशाक्त सत पाया जाता है। इसे वेत क्षार भी कहते हैं।

ख) गैर लवणीय या सोडिक म दा

इन म दाओं में किसी बड़ी मात्रा में तटस्थ लवण नहीं मिलते।

ग) लवणीय क्षार म दा

इस समूह की म दा लवणीय और क्षार दोनों हैं इसके कारण फसलों की ऊपज कम होती है।

xi) **पीट म दा**

म दा की यह प्रकार प्रायः खारे जल तलछटों से विकसित होती है। खराब निकासी की दशाओं के कारण इसमें जैविक पदार्थ का ऊंचा जमाव होता है। इस म दा में खाली एल्यूमिना का ऊंचा प्रतिशत पाया जाता है।

9.5 भूक्षरण

भूक्षरण प्राकृतिक संसाधनों की अद्योगति के लिये उत्तरदायी एक मुख्य कारक है। यह अनुमान लगाया जाता है कि तीव्रगामी भूक्षरण ने विश्व के विभिन्न देशों में वर्तमान कृषि क्षेत्र के 30 प्रतिशत को घेरने वाले कुछ 4300 लाख हैक्टर भूमि क्षेत्र को बुरी तरह क्षतिग्रस्त किया है। पहाड़ी क्षेत्र में भूक्षरण तरंगित क्षेत्र की अपेक्षा अधिक तीव्र है। ऊपरी म दा के क्षय के परिणामस्वरूप भारतीय उप महाद्वीप में घटती उत्पादकता एक अत्यंत गंभीर अद्योगामी समस्या है।

9.5.1 जल द्वारा भूक्षरण

भारतीय संदर्भ में जल द्वारा भूक्षरण एक सबसे अधिक गंभीर समस्या है। वर्तमान समय में म दा क्षरण 16.35 प्रति हैक्टर प्रतिवर्ष की दर से हो रहा है जिसका योग 53340 लाख टन प्रतिवर्ष बैठता है। कुल अवक्षयित म दा का लगभग 29 प्रतिशत स्थायी रूप से समुद्र में विलीन हो चुका है। लगभग 10 प्रतिशत जल कुण्डों में जमा है।

9.5.2 वायु क्षरण

वायु क्षरण मरू और अर्ध मरू प्रदेशों, जिसमें राजस्थान, हरियाणा, पंजाब गुजरात के राज्य सम्मिलित हैं, में एक गंभीर समस्या है। अत्यधिक चराई और सीमान्त प्रदेशों में कृषि के विस्तार के कारण प्राकृतिक वनस्पतीय आवरण का निराकरण एक मानव निर्मित कारक है जिसने वायु क्षरण तीव्र किया है। तटीय क्षेत्र जहां रेतीली मिट्‌टी का प्रभुत्व है वहां भी वायु क्षरण प्रचलित है।

9.5.3 लवणीकरण

सिंचाई का एक बड़ा अंश नहर सिंचित क्षेत्र के प्रसार द्वारा प्राप्त किया गया है। लगभग सभी मामलों में भू जल तालिका जो सिंचाई के आरंभ से पहले कई मीटर गहरी थी अब सिंचाई के प्रारम्भ के बाद ऊंची उठ रही है। जब भू जल तालिका सतह के 2 मीटर तक पहुंचती है तो म दा की सतह से जल वाष्पण में विशेष योगदान देती है और म दा के लवणीकरण का कारण बनती है। नहर सिंचाई प्रदेशों का लगभग 50 प्रतिशत लवणीकरण या क्षारीय कारण या दोनों से ग्रस्त है। इन समस्याओं के मुख्य कारण जिन्हें आप इकाई 10 में देखेंगे, अपर्याप्त निकासी और उपलब्ध जल संसाधनों का अकुशल प्रयोग है। सामाजिक, राजनैतिक कारकों ने भी लवणीकरण की समस्या में योगदान दिया है।

9.5.4 जल ग्रस्तता

सिंचित क्षेत्र में म दा की अद्योगति का एक अन्य कारण अधिक जल प्रयोग या नहर के रिसाव के कारण हुई जलग्रस्तता है। इससे न केवल फसल की व द्धि में बाधा आती है अपितु म दा का अवक्षय होता है और उत्पादकता काफी हद तक घटती है। जल ग्रस्तता के विपरीत प्रभाव ने कृषि क्षमता को विशेष रूप से पूर्वी प्रदेश में बहुत प्रभावित किया है यह अनुमानित है कि 80 लाख हैक्टर भूमि देश में जलग्रस्तता का शिकार है।

बोध प्रश्न 1

1) फसल लगाने की तीव्रता क्या है ? फसल लगाने की तीव्रता को बढ़ाने के क्या उपाय हैं?

....

....

....

....

....

2) लाल मिट्‌टी और काली मिट्‌टी के बीच उपलब्धता, उर्वरकता और फसल उगने में भेद बताएं?

....

....

....

....

3) भूमि उपयोग प्रतिमान में कौन से मुख्य परिवर्तन आ रहे हैं ?

....

....

....

....

....

9.6 भारत में फसल पद्धतियां

फसल पद्धति से तात्पर्य एक समय बिन्दु पर विभिन्न फसलों के अन्तर्गत के क्षेत्र का भाग है। भारत में फसल लगाने की क्रियायें वर्ष भर चलती है बशर्ते फसलों के लिये जल उपलब्ध है।

भारत में फसल पद्धति के दो विशिष्ट मौसम हैं – खरीफ मौसम जुलाई से अक्टूबर तक और रबी मौसम अक्टूबर से मार्च तक। मार्च और जून के बीच उगी फसलें जैद कहलाती है। फसले अकेले या मिश्रित (मिश्रित फसल) या एक निश्चित अनुक्रम (आवर्तन फसलों) में उगाई जाती हैं। एक मौसम में एक फसल या दो फसलों को एक अनुक्रम में उगाया जा सकता है। इन फसलों की व्याख्या निम्न प्रकार है।

9.6.1 फसल प्रणाली के प्रकार

i) **एकल फसल (mono cropping)** – एकल फसल या एकाकी खेती से तात्पर्य भूमि के एक टूकड़े पर वर्ष प्रति वर्ष केवल एक फसल उगाने से है। यह जलवायिक और सामाजिक आर्थिक दशाओं या किसान की विशेष फसल उगाने की विशिष्टता के कारण हो सकता है। उदाहरण के लिये वर्षाधीन कृषि के अन्तर्गत मूंगफली या कपास या सोरघम (Sorghum) वर्षा की सीमितता के कारण वर्ष प्रति वर्ष उगाये जाते हैं। नहर सिंचित क्षेत्रों में जल अवशोधन दशा के अन्तर्गत, धान की फसल उगाई जाती है क्योंकि अन्य फसल लगाना संभव नहीं होता।

ii) **बहुल फसल** – भूमि के एक टूकड़े पर एक कलैण्डर वर्ष में दो या दो से अधिक फसलों का उगाना बहुल फसल कहलाता है। यह समय और स्थान के आयामों में फसलों की गहनता है – अर्थात एक वर्ष के भीतर अधिक संख्या में फसलें और एक स्थान के टुकड़े पर अधिक संख्या में फसलें। इसमें अन्तर फसल, मिश्रित फसल और अनुक्रमित फसल आते हैं।

iii) **अन्तर फसल पैदावार** – एक या अधिक फसलों का समसामयिक रूप से निश्चित पंक्ति पद्धति में एक ही धरती के टुकड़े पर उगाना अन्तर फसल कहलाता है। उदाहरणार्थ, सैतारिया और लाल दाल का 5:1 अनुपात में उगाना। अतः स्थान आयाम में फसल गहनता प्राप्त हो जाती है। वर्तमान समय में अन्तर फसल का मुख्य उद्देश्य प्रति इकाई क्षेत्र उच्चतर उत्पादकता के अतिरिक्त उत्पादन में स्थिरता है। अन्तर फसल प्रणाली संसाधनों का कुशलता से प्रयोग करके उनकी उत्पादकता को बढ़ाती है।

सफल अन्तर फसल के लिये मुख्य आवश्यकताएं हैं:

1) अवयव फसलों के शीर्ष पोषण समय परस्पर व्याप्त न हों।

2) अवयव फसलों में सूर्य किरण के लिये कम से कम प्रतिस्पर्द्धा होनी चाहिये।

3) अवयव फसलों में पूरकता विद्यमान हो।

4) अवयव फसलों के परिपक्वन में 30 दिनों का अन्तर होना चाहिये।

iv) **मिश्रित पैदावार** – मिश्रित फसल से तात्पर्य है समसामयिक रूप से दो या अधिक फसलों को बिना किसी पद्धति के परस्पर मिश्रित करके उगाना। भारत के शुष्क भूमि प्रदेशों में यह एक सामान्य रूप से प्रचलित है। एक निश्चित अनुपात में विभिन्न फसलों के बीच मिलायें और बोये जाते है। इसका उद्देश्य अन्न, दाल और सब्जियां की पारिवारिक आवश्यकताओं को पूरा करना है।

v) **क्रमवार पैदावार**– क्रमबद्ध फसल लगाने का अर्थ है एक वर्ष में एक क्रम में दो या अधिक फसलों का उगाना। एक वर्ष में उगने वाली फसलों के आधार पर इसे दुगना, तिगुना या चौगुना फसल लगाना कहते हैं जिसमें क्रमशः दो, तीन या चार फसलें सम्मिलित होती हैं।

इन प्रणालियों के अतिरिक्त चौकी फसल एवं पेड़ी (ratoon) फसल भी प्रचलित है। चौकि फसल में कटाई से पूर्व ही अगली फसल लगाई जाती है। पेड़ी फसल का अर्थ है फसल की कटाई के बाद जड़ों या डंठलों से पुर्न उत्त्पत्ति होना।

vi) **समाकलित कृषि (integrated farming) प्रणाली** – समाकलित कृषि प्रणाली के अन्तर्गत फसल के साथ-साथ बहुत से उद्यमों जैसे डेरी, सुअर पालन, मुर्गीपालन, मछलीपालन और मक्खीपालन इत्यादि का एक सुसंगत मार्ग में जोड़ना भी एक सम्पूर्ण विधि है। इससे ये एक दूसरे के पूरक बनकर संसाधनों के प्रयोग के श्रेष्ठीकरण और लाभ को अधिकतम करने के उद्देश्य को प्राप्त करते हैं। इससे विद्यमान संसाधनों के निवार्हणीय प्रयोग के लिये मिट्टी और वातावरण को कम से कम क्षति पहुंचता है।

9.6.2 फसल प्रणालियां भिन्न क्यों

जलवायु से सम्बन्धित तत्व और कृषकों के साधन दोनों फसल लगाने की पद्धति का निर्धारण करते हैं। यद्यपि फसलों के चयन में जलवायु सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। तथापि फसल के क्षेत्र किसान की आर्थिक परिस्थितियों जैसे सिंचाई जल, आगतों की लागत और उत्पादों के मूल्य से प्रभावित होता है। किसी स्थान पर, प्रचलित फसल प्रणाली मनुष्यों, समुदायों या सरकार या उनके अभिकरणों द्वारा भूतकाल या वर्तमान में लिये गये फैसलों के संचित परिणाम है। उच्चतर फसल गहनता के लिये मूल आवश्यकता जल की उपलब्धता है वह चाहे व ष्टिपात से हो या सिंचाई के द्वारा हो। यह निरंतर महसूस किया जा रहा है कि जल और भूमि सीमारहित नहीं है और इनका बुद्धिमत्तापूर्वक प्रयोग आवश्यक है। ऐसा विशेषकर भारत जैसे देशों के लिये है जहां जनसंख्या का दवाब निरंतर बढ़ रहा है।

भारत जैसे उष्णकटिबंधी देश भाग्यशाली हैं कि वर्ष भर फसल उगाने के लिये तापमान दशायें अनुकूल रहती है। फिर भी यह बहुत कुछ प्राकृतिक व ष्टिपात अथवा सिंचाई सुविधाओं द्वारा जल आपूर्ति पर निर्भर करता है। भारत के बहुत से भागों में लम्बे समय से बहुल फसल लगाने का प्रचलन है। इसी प्रकार सम्मिश्रित फसल भारत में एक प्राचीन कला है। मिश्रित फसल प्रणालियां मौसमी दशाओं या रोगों और कीड़ों के आक्रमण के कारण होने वाली फसलों की क्षति के बीमे के रूप में अपनाई गयी। हाल के वर्षों में यह सिद्ध हो गया है कि इसके अन्य कई लाभ और भी हैं।

भूमि संसाधनों के न्यूनता की समस्या का उत्तर समाकलित कृषि प्रणाली में दिखाई देता है। इससे सीमित साधनों वाले लघु स्तरीय किसानों के पोषण का मानदण्ड सुधरेगा और उनकी आय के स्तर में व द्धि होगी।

बहुत फसल प्रणाली के विषय में हालांकि शोधकर्त्ताओं की सलाह है कि कृषकों के साधनों पर मुख्य जोर दिया जाये ताकि तकनीकी तौर पर मिश्रित फसल लगाने को अपनाया जा सके। धीरे-धीरे बहुल फसल से संबंधित नयी धारणायें आने लगी है और अब लाभप्रद वैज्ञानिक जानकारी एकत्र हुई है। यह जानकारी विभिन्न फसलों के सम्मिलन और फसलों के क्रमबद्ध व द्धि पर हुये विश्लेषण कार्यों पर आधारित है। इस विषय में व ष्टिपात के नमूनों के आधार पर देश के कृषि प्रदेशों को विस्त त रूप से तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है।

1) वह प्रदेश जहां वार्षिक व ष्टिपात 1150 मी०मी० से ऊपर हो।

2) वह प्रदेश जहां वाषिर्क व ष्टिपात 750 से 1150 मी०मी० तक हो।

3) वह प्रदेश जहां वार्षिक व ष्टिपात 750 मी०मी० से कम हो।

असम, केरल, उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल के अधिकतम क्षेत्र पहली श्रेणी में आते हैं। इन प्रदेशों की मुख्य समस्याएं सीमित सिंचाई और खराब निकासी से संबंधित हैं। अधिकतम कृषक चावल की खेती में लगे हैं। तमिलनाडू, उत्तर प्रदेश और आंध्र प्रदेश के बड़े भाग द्वितीय श्रेणी में आते हैं और देश के कुल कृषि जोत क्षेत्र के एक तिहाई भाग को घेरे है। इन क्षेत्रों में छोटी सिंचाई सुविधाओं पैदा करने के लिये बड़ी क्षमता है। त तीय श्रेणी भी कृषि जोत क्षेत्र के लगभग एक तिहाई भाग में फैली है जिसमें आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र और राजस्थान के भाग आते हैं। इन क्षेत्रों में जब तक बड़ी और मध्यम सिंचाई सुविधायें प्रदान नहीं की जाती तब तक एक ठोस सीमा तक फसल लगाने की तीव्रता में व द्धि के लिये आशा कम है।

फसल लगाने की पद्धति निम्नलिखित को प्रभावित करते हैं:

- पारम्परिक सामाजिक प्रचलनों और खान-पान की आदतों से
- कीटों और रोग नियंत्रण की व्यवहारणीय विधि और पारिस्थितिकीय वातावरण के उपयुक्त फसल लगाने से
- वे फसलें जो सर्वाधिक लाभप्रद या उच्च फल देने वाली है।
- उन फसलों का सम्मिलन जो लाभ को अधिकतम और लागत को न्यूनतम करे।

9.7 वर्तमान फसल पद्धतियां

भारत के वर्तमान फसल पद्धति के तीन मुख्य लक्षण हैं : (1) खाद्यान्न फसलों का प्रभुत्व (2) व्यवसायिक फसलों की ओर तनिक झुकाव, एवं (3) कुछ व्यक्तिगत फसलों में उल्लेखनीय व द्धि।

मुख्य फसलों को ध्यान में रखते हुये हम भारत की फसल पद्धति की एक विस्त त तस्वीर प्रस्तुत कर सकते हैं। मुख्य पद्धतियों के दो विशिष्ट समूह हैं खरीफ (मानसून फसले) और रबी (मानसून उपरान्त फसलें। खरीफ फसल में चावल, सोरधम, बाजरा, ज्वार, रागी मूंगफली और कपास इत्यादि आते हैं। किसी प्रदेश की वह फसल जो बीजित क्षेत्र का सर्वाधिक प्रतिशत घेरे, मूल फसल कहलाती है। अन्य संभावित वैकल्पिक फसलें जो प्रदेश में या तो उस मौसम में मूल फसल के विकल्प के रूप में या बाद के मौसम में अनुक्रम में सटीक बैठें, पद्धति कहलाती है।

तालिका 9.2 : 1995 में भारत में फसल लगाने की पद्धति

फसलें	क्षेत्र ‘000 हैक्टर	सकल फसल क्षेत्र में % अंश
चावलो	42965	22.84
गेहूो	25853	13.74
ज्वारो	11722	6.23
बाजराो	10320	5.49
मक्काो	6141	3.26
रागीो	1902	1.01
जौो	894	0.48
अन्य अन्न और बाज़ार ो	1820	0.97
मोटे अन्नो	32799	17.43
कुल अन्नो	101617	54.01
कुल दालेंो	24281	12.91
गन्नाो	4144	2.20
मसाले ो	2645	1.41
कुल फल ो	3040	1.62
आलूो	1070	0.57
प्याजो	392	0.21
कुल सब्जियाो	4506	2.39
मूंगफलीो	7969	4.24
तोरई के बीज और सरसों ो	5769	3.07
तिलो	2212	1.08
अलसीो	894	0.48
अन्य तेल बीजो	10326	5.49
कुल तेल बीजो	27070	14.44
कपासो	7967	4.23
जूटो	760	0.40
मेस्टा (डमेजं) ो	190	0.10
कुल तन्तुो	9014	4.79
तम्बाकूो	408	0.22
अन्य फसलेंो	11322	6.02
कुल फसल क्षेत्रो	188147	100

स्रोत : कृषि सांख्यों पर एक द ष्टि

9.7.1 खरीफ मौसम की फसल प्रणालियां

खरीफ मौसम के फसल लगाने की पद्धति में मुख्यतः चावल या गैर चावल आधारित फसलें आती हैं।

1) **चावल आधारित फसल पद्धति** – इस श्रेणी में चावल सर्वोतम फसल है और भारत में 9% क्षेत्र चावल आधारित फसल पद्धति में आता है। कुल चावल क्षेत्र का लगभग 45% को दक्षिण पश्चिमी मानसून के दो महीनों (जुलाई–अगस्त) में 30 सै०मी० प्रति माह का वर्षण मिलता है और अन्य महीनों में काफी कम। इन भागों के विपरीत पूर्वी और दक्षिणी प्रदेश जिनमें असम, पश्चिमी बंगाल, तटीयवर्ती उड़ीसा, तटवर्ती आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडू और केरल को 10-20 सै०मी० प्रतिमाह मिलता है। इसी फसल पद्धति के अन्तर्गत आते हैं। सकल भारत आधार पर विभिन्न राज्यों में लगभग 30 चावल आधारित फसल पद्धति चिन्हित किये गये हैं।

2) **चावल के अतिरिक्त खरीफ अन्न आधारित फसल पद्धति** – खरीफ की मुख्य फसलों में ज्वार, बाजरा, मक्का मुख्य अन्न हैं। मक्का ऊंची व ष्टिपात वाले क्षेत्रों में उगाया जाता है, ज्वार मध्यम व ष्टिपात वाले क्षेत्रों में और बाजरा कम व ष्टिपात वाले क्षेत्र में उगाया जाता है। दक्षिणी पश्चिम मानसून के मौसम में इन फसलों के अन्तर्गत क्षेत्र का विस्तार इस प्रकार हैः

   मक्का (56 लाख हैक्टर), ज्वार (110 लाख हैक्टर), और बाजरा (124 लाख हैक्टर)।

   रागी एक खरीफ फसल (24 लाख हैक्टर) है और मुख्यतः कर्नाटक, तमिलनाडू और आंध्र प्रदेश में केन्द्रित है। इन राज्यों में इस फसल के अन्तर्गत कुल क्षेत्र का 60 प्रतिशत से भी अधिक आता है।

3) **मक्का आधारित फसल पद्धति** – खरीफ मक्का के अन्तर्गत सबसे बड़े क्षेत्र हैं : उत्तर प्रदेश (140 लाख हैक्टर), मध्य प्रदेश (5.8 लाख हैक्टर) और पंजाब (5.2 लाख हैक्टर)। चार राज्यों नामतः गुजरात, जम्मू और काश्मीर, हिमाचल प्रदेश और आंध्र प्रदेश में मक्का के अन्तर्गत का क्षेत्र 2.4 से 2.8 लाख हैक्टर प्रत्येक राज्य में है जबकि दूसरे राज्यों में इसके अन्तर्गत काफी कम है। सम्पूर्ण भारत में लगभग 12 किस्म के मक्का आधारित फसल पद्धति पहचानी गई है।

4) **खरीफ की ज्वार आधारित फसल पद्धति** – भारत में खरीफ ज्वार के अन्तर्गत क्षेत्र में सबसे ऊंचा स्थान महाराष्ट्र का है (25 लाख हैक्टर)। उसके बहुत निकट दूसरा मध्य प्रदेश का है (23 लाख हैक्टर)। राजस्थान, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और गुजरात राज्यों में से प्रत्येक का 1 और 14 लाख हैक्टर के बीच क्षेत्र इस फसल के अन्तर्गत आता है। ज्वार मुख्यतः उन क्षेत्रों में उगाया जाता है जहां व ष्टिपात 10 से 20 से०मी० प्रति माह के बीच होता है, कम से कम दक्षिण पूर्वी मानसून के 4 महीनों में। सम्पूर्ण भारत में 17 मुख्य फसल पद्धतियां इस श्रेणी में चिन्हित की गई है।

5) **बाजरा आधारित फसल पद्धति** – बाजरा फसल के अन्तर्गत लगभग 124 लाख हैक्टर का क्षेत्र आता है। कुल क्षेत्र में दो तिहाई भाग राजस्थान में है। महाराष्ट्र, गुजरात और उत्तर प्रदेश को मिलाकर 46 लाख हैक्टर क्षेत्र ऐसे हैं जो बाजरा फसल के शेष बचे एक तिहाई भाग का निर्माण करता है। सकल भारत के आधार पर बाजरे की फसल की 20 मुख्य फसल पद्धतियां पहचानी गई है।

6) **मूंगफली आधारित फसल पद्धति** – मूंगफली लगभग 72 लाख हैक्टर क्षेत्र में बोई जाती है। मुख्यतः पांच मूंगफली उत्पादन करने वाले राज्यों में आते हैंः गुजरात (24.4 प्रतिशत), आंध्र प्रदेश (20.2 प्रतिशत), तमिलनाडू (35.5 प्रतिशत), महाराष्ट्र (12.2 प्रतिशत) और कर्नाटक (12 प्रतिशत)। पांच अन्य राज्य जैसे मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान और उड़ीसा को मिलाकर मूंगफली एक मूल फसल के रूप में कुल क्षेत्र का लगभग 17.3% होता है। सम्पूर्ण भारत स्तर पर लगभग नौ मुख्य मूंगफली आधारित फसल पद्धतियां पहचानी गई है।

7) **कपास आधारित फसल पद्धति** – भारत में कपास लगभग 76 लाख हैक्टर में उगाया जाता है। इसमें महाराष्ट्र का अंश 36% (28 लाख हैक्टर) है। उसके बाद गुजरात 21% (16 लाख हैक्टर), कर्नाटक 13% (10 लाख हैक्टर) और मध्य प्रदेश 9% (6 लाख हैक्टर) है। सम्मिलित रूप में कपास के अन्तर्गत 80% क्षेत्र इन चार राज्यों में आता है। अन्य कपास उगाने वाले राज्य हैं पंजाब, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडू, हरियाणा और राजस्थान। सकल भारत में 16 विस्त त रूप से कपास आधारित फसल पद्धतियां पहचानी गई हैं।

9.7.2 रबी मौसम की फसल पद्धतियां

भारत में प्रचलित रबी मौसम के मुख्य फसल पद्धतियां हैः

1) गेहूं और चना आधारित फसल पद्धति

2) ज्वार आधारित फसल पद्धति

क) **गेहूं और चना आधारित फसल पद्धतियां** – ये दोनों फसलें समान जलवायु में उगाई जाती है और प्रायः एक दूसरे का विकल्प बनती है। सम्पूर्ण भारत स्तर पर लगभग 19 फसल पद्धतियां गेहूं की और 7 चने की फसल पद्धति सामने आई है। सम्मिलित रूप में 70 प्रतिशत बीजित क्षेत्र और 76% गेहूं उत्पादन पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में होता है। उसके बाद पश्चिमी भारत में राजस्थान और गुजरात और पूर्वी भारत में बिहार और पश्चिमी बंगाल का स्थान है।

ख) **रबी बाजार आधारित फसल पद्धति** – सम्पूर्ण भारत स्तर पर रबी ज्वार वाली 13 फसल पद्धति पहचानी गई है। इन फसल पद्धतियों में महाराष्ट्र में सर्वाधिक संख्या में है। रबी ज्वार से प्रारम्भ करके, बाजरा, दालें, तेलबीज और तम्बाकू वैकल्पिक फसलों की भांति बोये जाते है।

बोध प्रश्न 2

1) निम्नलितिख में भेद करें।

   i) दोहरी फसल और मिश्रित फसल

   ii) दोहरी फसल और अनुक्रम फसल

   iii) एकल फसल और बहुल फसल

2) उत्तर भारत की मुख्य फसल पद्धतियों की व्याख्या करें।

....

....

....

....

3) खरीफ मौसम में कौन सी महत्वपूर्ण फसल पद्धतियां है ?

....

....

....

....

....

4) चावल आधारित और गैर चावल आधारित फसल पद्धतियों में उपयुक्त उदाहरण के साथ भेद करें।

....

....

....

....

....

9.8 फसल पद्धतियों में परिवर्तन

पिछले 50 वर्षों में भारत में भूमि उपयोग पद्धति और फसल उगाने की पद्धति में थोड़ा परिवर्तन आया है तथा जुताई के उद्देश्य के लिये भूमि का बढ़ता प्रयोग परिलक्षित होता है। तीव्र शहरीकरण से भूमि प्रयोग और फसल पद्धतियां अत्यधिक प्रभावित हुई हैं। कई एकड़ जुताई के लिये अनुपयुक्त भूमि को कृषि कार्य के अन्तर्गत सम्मिलित करके जुताई उपयुक्त भूमि में व द्धि प्राप्त की गई है।

9.8.1 फसल पद्धति को प्रभावित करने वाले कारक

फसल लगाने की पद्धति किसानों के निजी, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक कारकों से प्रभावित होती है। इसके अतिरिक्त प्रदेश के जलवायिक तत्वों का भी इस पर प्रभाव पड़ता है।

मुख्य कारक इस प्रकार हैंः

i) **भूमि धारण का आकार**

भारत में सीमांत और छोटे किसान, कृषक समुदाय के सबसे बड़े क्षेत्रक का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः एक फसल धान का प्रभुत्व है क्योंकि यह घरेलू आवश्यकताओं को पूर्ण करती है तथा निर्वहण कृषि को कायम रखती है।

ii) **निरक्षरता**

निरक्षरता की बजह से ज्यादातर किसान बेहतर फसल लगाने की पद्धति के लिये आवश्यक मिश्रित फसल एवं एकल फसल की वैज्ञानिक विधियों और अन्य तकनीकी जानकारियों से अनभिज्ञ है।

iii) **रोग और नाशक जीव**

फसल पद्धति रोगों और कीट संक्रमण की संभावनाओं पर भी निर्भर करता है।

iv) **पारिस्थितिकीय उपयुक्तता**

किसी विशेष प्रदेश की फसल पद्धति पारिस्थिति की दशाओं (तापमान, व ष्टिपात, आर्द्रता) पर बहुत निर्भर करती है।

v) **नमी की उपलब्धता**

सिंचाई के स्रोत बहुत कुछ फसल पद्धति के प्रकार को निर्धारित करते हैं। उदाहरण के लिये, कम व ष्टिपात क्षेत्र में वर्षाधीन कृषि अधिकतक लाभ करने का सर्वोत्तम मार्ग है।

vi) **वित्तीय स्थिरता**

कृषकों की आर्थिक दशा भी फसल लगाने की पद्धति को प्रभावित करती है। जैसे नकदी फसल (उदाहरण के लिये कपास) में ऊंची पूंजी निवेश सम्मिलित होता है; ये केवल परिसम्पत्ति कृषि में लगाई जाती है। कृषक समुदाय का सीमांत वर्ग कम लागत वाली फसलें अपनाता है।

9.8.2 फसल पद्धति में उभरती समस्याएं

बदलते समय के साथ फसल लगाने की पद्धति में उभरता परिद श्य निम्नलिखित प्रेक्षण की ओर इंगित करता हैः

1) खाद्यान्नों में अनाज की फसलों का प्रभुत्व लोगों की निर्धनता की ओर संकेत करता है। यह निम्न आय वर्ग की मांग को पूरा करती है जिनकी आय का बड़ा भाग अनाज पर व्यय होता है। यहां तक कि दाल, जो इस श्रेणी के लोगों के लिये प्रोटीन का साधन हैं, वे भी एक विशिष्ट स्तर पर नहीं उगाई जाती है। ज्यादातर कृषक सीमान्त और छोटे किसान होने के कारण खाद्यान्नों के शुद्ध क्रेता हैं और नकदी फसल को लगाने के लिये ऊंची लागत को वहन नहीं कर सकते।

2) खाद्यान्नों का प्रभुत्व इस सत्य के साथ कि कृषि उत्पादन का एक विशिष्ट अनुपात छोटे फार्मों में केन्द्रित है, एकत्र होकर एक निष्कर्ष की ओर जाता है कि अधिकतर कृषि निजी उपभोग के लिये की जाती है।

3) अधिकतर बीजित क्षेत्रों में खाद्यान्नों का उत्पादन दर्शाता है कि तकनीकी संभावनाओं की बराबरी पर भूमि की उत्पादकता नहीं बढ़ी है।

4) फसल पद्धति में विशिष्ट परिवर्तनों के उपरांत भी उच्च मूल्य व्यवसायिक फसलों की ओर झुकाव बहुत कम हुआ है। जिसका परिणाम स्वरूप फसल उत्पादन पर नगण्य प्रभाव है।

9.9 वर्तमान प्रव त्ति के दीर्घकालिन प्रभाव

वर्तमान में भारत की फसल पद्धति में अनाज की और झुकाव है और संतुलित खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने में असफल है। कुछ व्यवसायिकरण और तकनीकी उन्नति के उपरांत भी फसल पद्धति में बहुमार्गी कृषि की तस्वीर नहीं दिखती। वर्तमान फसल पद्धति के अन्य सहयोगी पक्ष हैं रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों का बढ़ा हुआ प्रयोग, जल की मांग में व द्धि और वन क्षेत्रों का अवक्षय जिनके विषय में नीचे चर्चा की गई है।

9.9.1 उर्वरकों और कीटनाशकों के प्रयोग में व द्धि

खाद्यान्नों के उच्चतर उत्पादन अधिक रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के प्रयोग का परिणाम है। ऊर्वरकों का प्रयोग 1951-52 के 65.6 हजार टनों से 1997-98 में बढ़कर 17318 हजार टन हो गया। उच्चतर रासायनिक उर्वरक और कीटनाशक प्रयोग से खाद्यान्न में आविषालुता आई है।

वे क्षेत्र, जहां कीटनाशकों का प्रयोग तेजी से बढ़ रहा है, कीड़ों और नाशक जीव में इनके प्रति विरोध दिखाई पड़ रहा है। जिससे जीवन प्रणाली में विघन आया है। इसके अतिरिक्त शंकर जातीय और ऊंची उपज देने वाली प्रकारों का स्थानीय किस्मों के स्थान पर बढ़ते हुये प्रयोग ने स्थानीय किस्मों को लगभग लुप्त कर दिया है।

9.9.2 जल की मांग में व द्धि

पिछले पचास वर्षों में, शुद्ध बीजित क्षेत्र 1180 लाख हैक्टर से बढ़कर 1420 लाख हैक्टर हो गया है। शुद्ध बीजित क्षेत्र और फसल लगाने की तीव्रता में व द्धि ने सिंचाई के लिये जल संसाधनों की मांग में व द्धि की है। प्रतियोगी क्षेत्रक आवश्यक जल से वंचित हो रहे है क्यूंकि कृषि कुल जल उपयोग का 70 प्रतिशत के लगभग उपभोग कर लेती है। गहन फसल पद्धति में सदैव अधिक से अधिक सिंचाई आपूर्ति की आवश्यकता होती है। जिससे सिंचाई के साधनों के विकास के लिये दवाब बढ़ता है।

जल की अधिकतर आवश्यकता से भू जलों के स्तर का ह्रास होता है। सिंचाई की बढ़ती मांग के लिये बड़ी, मध्यम और छोटी सिंचाई परियोजनाओं की आवश्यकता होती है जो बहुत मंहगे पड़ते हैं। सिंचाई परियोजनाओं के निर्माण को कई बार अफसरशाही की बाधाओं और स्थानीय नागरिकों के विरोध का सामना करना पड़ता है क्योंकि सिंचाई परियोजनाओं से विविध सामाजिक और पर्यावरण की समस्याएं उत्पन्न होती है।

9.9.3 वन क्षेत्रों का अवक्षय

वर्तमान फसल पद्धति अधिक से अधिक भूमि को कृषि के अन्तर्गत लाने पर जोर देती है जिससे वन भूमि अवक्षय होता है। 1950-81 के तीस वर्षों की अवधि में वन उन्मूलन के माध्यम से कृषि भूमि में व द्धि हुई है। इस दौरान पुराने फलों के बागों या निजी और ग्रामीण वनों के उन्मूलन के माध्यम से बीजित क्षेत्र में अतिरिक्त 240 लाख हैक्टर की व द्धि हुई है। भू प्रयोग पद्धति अधिकतर खाद्य उत्पादन की ओर अग्रसर हुई है जिससे वानिकी उपेक्षित हो गई है।

बोध प्रश्न 3

1) फसल लगाने की पद्धति को प्रभावित करने वाले कारकों को पहचाने और उनकी व्याख्या करें?

....

....

....

....

....

2) फसल पद्धति में परिवर्तनों से कौन सी समस्याएं आती हैं ?

....

....

....

....

....

9.10 सारांश

भारत में अधिक भूमि को कृषि में लाने की गुंजाइश बहुत कम है। अतः विद्यमान भूमि का ही उपयुक्त प्रयोग करना होगा ताकि इसकी उत्पादकता बढ़े और तदुपरांत कृषि उत्पादन उच्चतर हो। भारत में कुल क्षेत्र का लगभग आधा कृषि को समर्पित है। पिछले पचास वर्षों में भू प्रयोग की पद्धति में कुछ परिवर्तन आये हैं। शुद्ध बीजित क्षेत्र में एक ओर जहां व द्धि हुई है वहीं बिना जुती और बंजर भूमि का अनुपात घटा है। मुख्य फसल जैसे चावल और गेहूं का जुताई के कुल क्षेत्र में न केवल ठोस भाग है अपितू यह अंश बढ़ रहा है। खान-पान की आदतों, जल मांग और जीव वैविध्यता में कमी के लिये इसके कई निहितार्थ हैं।

9.11 शब्दावली

शुद्ध बीजित क्षेत्र : किसी किसान की वह कुल कार्यशील भूमि जिस पर एक कृषि वर्ष में केवल एक गिनती की फसल उगाई जाती है।

सकल फसल क्षेत्र : सकल फसल क्षेत्र वह है जिसमें उपलब्ध भूमि पर एक वर्ष में भिन्न मौसमों में भिन्न फसलें बोई जाती हैं।

फसल सघनता : फसल सघनता कृषकों की वास्तविक भूमि के उपयोग का आकलन करती है। इसमें प्रत्येक फसल या फसलों के समूहों के लिये क्षेत्र और समय के संबंधों का आकलन कुल उपलब्ध भूमि क्षेत्र और समय की तुलना में किया जाता है। यह सकल फसल क्षेत्र के शुद्ध बीजित क्षेत्र से अनुपात (प्रतिशत में) में दिया जाता है। सरल शब्दों में फसल सघनता एक वर्ष में एक खेत में फसलों की संख्या की ओर संकेत करती है।

9.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Governmnet of India, 1999, *Agricultural Statistics at a Glance.*

Planning Commission, 2003, *Tenth Five Year Plan*, Government of India.

Mal, P., 2001, *Infrastructure Development for Agriculture and Rural Development*, Mohit Publications, New Delhi.

Singhal, V., 1996, *Indian Agriculture*, Indian Economic Data Research Centre.

9.13 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

बोध प्रश्न 1

1) फसल लगाने की तीव्रता सकल फसल क्षेत्र के शुद्ध बीजित क्षेत्र से अनुपात द्वारा दी जाती है। एक भू भाग के कई बार जोते जाने से इसमें व द्धि होती है। अतः बहुल फसल और मिश्रित फसल से फसल की तीव्रता बढ़ती है।

2) भाग 9.4 देखें

3) उप-भाग 9.2.2 देखें और उत्तर दें।

बोध प्रश्न 2

1) उप-भाग 9.6.1 देखें

2) भाग 9.7 देखें

3) उप-भाग 9.7.1 देखें

4) उप-भाग 9.7.1 देखें

बोध प्रश्न 3

1) उप-भाग 9.8.1 में दिए गए बिन्दुओं का संक्षेपण करें।

2) उप-भाग 9.8.2 देखें और उत्तर दें।

इकाई 11 वर्षाधीन क षि और क षि जलवायिक मंडलन

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 वर्षाधीन क षि की अवधारणा
    11.2.1 भारत में वर्षा की प्रक ति
    11.2.2 वर्षाधीन क षि की आवश्यकता
11.3 वर्षाधीन क षि : नीतियाँ और सुविधाएं
    11.3.1 वर्षा-जल प्रबंधन
    11.3.2 फसल उत्पादन प्रोद्योगिकि
11.4 क षि जलवायिक मंडलन की आवश्यकता
11.5 भारत में क षि-जलवायिक अंचल
    11.5.1 क षि अनुसंधान परिषद् क त कृषि जलवायिक क्षेत्र
    11.5.2 योजना आयोग द्वारा वर्गीक त क षि जलवायिक क्षेत्र
    11.5.3 राष्ट्रीय म दा सर्वेक्षण एवं भू-प्रयुक्ति प्रायोजन ब्यूरो द्वारा निर्धारित क षि पारिस्थितिक क्षेत्र
11.6 क षि के लिये जैव तकनीकि
11.7 सारांश
11.8 शब्दावली
11.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
11.10 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

11.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप कर सकेंगेः

- वर्षाधीन क षि के महत्व और लक्षणों की व्याख्या;
- सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओ की वर्षाधीन क षि से संबंधित नीतियों, प्रेरणास्त्रोतों; कार्यक्रम और परियोजनाओं का संक्षेप विवरण;
- क षि जलवायिक अंचल के महत्व की व्याख्या;
- विभिन्न अभिकरणों द्वारा वर्गीक त भारत में विविध क षि जलवायिक अंचलों की पहचान;
- वर्षाधीन क षि के क्षेत्र में जैव प्रोद्योगिकि के उपयोग की व्याख्या।

11.1 प्रस्तावना

हमने पिछली इकाई में जाना कि भारत की सिंचाई क्षमता सीमित है और सकल क षि भूमि को सींचा नहीं जा सकता। अतः क षि क्षेत्र का एक बड़ा भाग वर्षा पर निर्भर रहता है। अतः हमें वर्षाधीन खेती पर विचार करना होगा। इस सत्य को जानते हुए कि देश के बहुत से भागों में बहुत कम वर्षा होती है, हमें इन प्रदेशों के लिये अनुकूल तकनीकों को विकसित करना होगा।

वर्षाधीन क षि के महत्व को इस रूप में देखा जा सकता हैः

- भारत में कुल क षित क्षेत्र का 74% भाग वर्षाधीन है और क षि उत्पादन में इसका बहुत

बड़ा योगदान रहता है। 1440 लाख है० क षित क्षेत्र में से केवल 370 लाख है० (26%) ही सिंचित है, शेष वर्षा पुष्ट है।

- वर्षाधीन क्षेत्र का कुल खाद्यान्न उत्पादन में 44% और दाल और तेल-बीजों में 75% का योगदान है।
- औद्योगिक रूप से महत्वपूर्ण फसलों जैसे कपास और मूंगफली की खेती तो पूरी तरह से वर्षाधीन होती है।

11.2 वर्षाधीन क षि की अवधारणा

वर्षाधीन क षि का अर्थ है फसल उत्पादन के क्रम का पूर्णतया वर्षा जल पर निर्भर होना। निम्न वर्षा वाले मरु और अर्ध मरु जलवायु में फसलों को हल्के से ले कर अति तीव्र नमी अभाव का अपने जीवन चक्र में सामना करना पड़ता है। वर्षाधीन फसल से तात्पर्य भली भांति जल निष्कासन व्यवस्था वाली म दा पर उगाई गई फसल से है जहाँ भू जल म दा की उन तहों में बहुत नीचे होता है जो फसल की जड़ों से वर्ष भर घिरी रहती है। अतः फसल की जल संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति पूरी तरह प्राक तिक वर्षा से होती है, अर्थात, म दा की उपरी सतह की नमी (जो वर्षा से प्राप्त होती है), ही फसल के लिये नमी का प्राथमिक स्रोत होती है।

11.2.1 भारत में वर्षा की प्रक ति

भारत के विभिन्न भागों में वर्षा की मात्रा में विस्त त भिन्नता है। यह पश्चिमी राजस्थान में 10 सै० मी० तक निम्न और मेघालय में 1000 सैं० मी० तक ऊँची है। भारत में औसत वार्षिक वर्षण 4000 लाख है० मी० तक होता है, जिसमें से 700 लाख है० मी० वाष्पण द्वारा नष्ट हो जाता है। शेष 3300 लाख है० मी० में से 1500 लाख है० मी० म दा द्वारा सोखा जाता है जब कि 1800 लाख है० मी० बह जाता है। हम केवल 200 लाख है० मी० का ही जल कुंडों और जल समूहों द्वारा उपयोग करने योग्य रहे हैं। अतः 1600 लाख है० मी० जल नदियों के द्वारा समुद्र में जाकर मिल जाता है।

कुल वर्षा का लगभग 80 प्रतिशत जुलाई से सितम्बर के काल (लगभग 90 दिनों) में प्राप्त होता है। व ष्टिपात की मात्रा और वर्षा काल में इसका वितरण फसलों की पैदावार और उत्पादन को निर्धारित करता है। (i) मानसून का देरी से आगमन (ii) मानसून अवधि के दौरान कई सप्ताह वर्षा नहीं होना, और (iii) मानसून का समय से पहले ही समाप्त होना आदि कारक फसलों पर विपरीत प्रभाव डालते हैं।

वर्षा पर निर्भर क्षत्रों में 'फसल उगाने वाली अवधि' का निर्धारण व ष्टिपात की मात्रा, इसका वितरण और म दा की जलरोधी क्षमता द्वारा होता है। आप यह जान कर चकित होंगे कि भारत में फसलों की उपजाऊ अवधि 30 दिन से 300 दिन तक भिन्न होती है। अतः हमें व ष्टिपात और म दा की गुणवत्ता को ध्यान में रखते हुये फसल और फसल पद्धति को चुनना होगा।

व ष्टिपात की मात्रा पर निर्भर करते हुये वर्षा पुष्ट क्षेत्रों में क षि के चार प्रकार होते हैं :

i) मरु क्षेत्र जहाँ 50 सै० मी० प्रति वर्ष से कम व ष्टि हो

ii) 50-75 सै० मी० के मध्य वार्षिक वर्षण वाले अर्ध मरु क्षेत्र

iii) अर्ध आर्द्र क्षेत्र, जहाँ वर्षण 75-150 सै० मी० के बीच रहता है

iv) आर्द्र क्षेत्र जहाँ वार्षिक व ष्टि 150 सै० मी० से ज़्यादा होती है।

मरु और अर्ध मरु क्षेत्रों मे फसल उगाने की अवधि में लम्बे शुष्क दौर होते हैं। इन क्षेत्रों में फसल की क्षति बहुत प्रायिक है। अर्ध आर्द्र क्षेत्रों में भी शुष्क दौर होते हैं किन्तु फसल के नाश की संभावना अपेक्षाक त कम होती है। आर्द्र क्षेत्रों में फसल के नाश की संभावना बहुत कम है किन्तु वर्षा जल की निकासी एक मुख्य समस्या है।

वर्षा पुष्ट क्षेत्रों मे दो महत्वपूर्ण कारक उत्पादन व द्धि में सहायक रहते हैंः (1) म दा की गुणवत्ता ओर (2) उपयुक्त किस्मों की उपलधता। वर्षा पुष्ट क्षेत्रों में फसल की पैदावार बढ़ाने के लिये दो दिशाओं में प्रयत्न किये गये हैंः (i) देश के क ष्य क्षेत्र को विभिन्न समरूप क षि-जलवायु क्षेत्रों में विभाजित किया गया है, (ii) साथ ही भिन्न क षि जलवायिक प्रदेशों के लिये उपयुक्त फसल पद्धति विकास के लिये शोध और विकास (R&D) प्रयत्न किये गये हैं। इस विषय में क षि में जैव प्रोद्योगिकि के प्रयोग ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन दो पक्षों के बारे में हम इसी इकाई में बाद में चर्चा करेंगे।

11.2.2 वर्षाधीन क षि की आवश्यकता

सूर्य की रोशनी की प्रचुरता व मध्यम म दा उर्वरण वाले विस्त त भौगोलिक क्षेत्र को उपयोग करने का वर्षाधीन क षि ही एकमात्र मार्ग है। इन क्षेत्रों की उत्पादक क्षमता का उचित प्रयोग नहीं हुआ है। इसीलिए ये क्षेत्र आर्थिक रूप से पिछड़े रहे हैं। परिणाम स्वरूप क षक समुदाय में प्रादेशिक रूप से आर्थिक और सामाजिक असमानताएं बढ़ी हैं।

वर्षाधीन खेती का दर्शन इस सिद्धान्त पर आधारित है कि जल कि उपलब्धता सीमित है और फसल उत्पादन के लिये प्राक तिक वर्षा जल की कुशलता को अधिकतम करने की आवश्यकता है। वर्षा पुष्ट क्षेत्रों में क षि के लिये वैज्ञानिक द ष्टिकोण की आवश्यकता भी इसीलिए अनुभव की गई है कि अनाव ष्टि तो न्यूनाधिक अवश्यसंभावी है। वर्षा पर निर्भर क्षेत्रों में फसल के म दा और जल की उपलब्धता से सामंजस्य पर जोर देना होगा। सिंचित खेती में ऐसा आवश्यक नहीं होता। वर्षाधीन खेती के दो आयाम हैं :

- उन फसलों की खेती और प्रबंधन जो कम वर्षा वाले वर्षों में भी लाभप्रद हों। ऐसे समय अनाव ष्टि सहन करने और कुशल जल प्रयोग मुख्य आवश्यकताएं होती है।
- उन फसलों की खेती और प्रंबधन जो अच्छे वर्षा वाले सालों मे प्रदत्त पर्यावरणीय दशाओं का उत्तम और कुशल उपयोग करने में सक्षम हों।

वर्षाधीन क्षेत्रों में जल उपलब्धता की अनिश्चित प्रक ति के कारण फसल की क्षति का जोखिम अधिक होता है। ऐसे जोखिमों को लघु कालिक उच्च पैदावार वाली किस्मों HYV और जल कुशल फसलों को अपना कर कम किया जा सकता है। नाइट्रोजन व फासफोरस युक्त उर्वरकों के मध्यम उपयोग से जल कुशलता में सुधार होता है। यह पाया गया है कि उर्वरक फसल को अनाव ष्टि के दुष्प्रभावों को सहन करने में मदद करता है। यह फसल को अनाव ष्टि के दुष्प्रभाव से शीघ्र मुक्ति पाकर पुनरूज्जीवित होने में भी सहायक होता है। आप जानते होंगे कि अपत ण फसलों की नमी और पोषक तत्वों को सोख जाते हैं। इस कारण, पहले 30 से 40 दिनों तक खेत को अपत ण से मुक्त रखना महत्वपूर्ण होता है। ये अपत ण फसल की पैदावार को 50 प्रतिशत तक क्षति पहुंचा सकते हैं।

11.3 वर्षाधीन क षि : नीतियाँ और सुविधाएं

1960 के दशक में भारत ने क षि शोध व्यवस्था का व्यापक प्रसार किया। इस काल में मुख्य विषय क षि उत्पादन को बढ़ाना था। अतः अधिक उपजाऊ ओर सिंचित क्षेत्रों के लिये उपयोगी फसलों के विकास पर जोर दिया गया। इस दशक की विकास युक्ति हरित क्रांति में प्रतिबिंबित होती है।

फिर 1970 के दशक में वर्षाधीन क्षेत्रों के विकास पर जोर दिया गया। 1970 में देश के भिन्न क षि जलवायिक प्रदेशों का प्रतिनिधित्व करने वाले 23 केन्द्रों पर वर्षाधीन क षि के लिये सम्पूर्ण भारत में संयोजित शोध परियोजनाओं को प्रारम्भ किया गया। वर्तमान में भारत के पास विश्व की शक्तिशाली शोध व्यवस्थाओं मे से एक है। यहां 49 शोध संस्थानों, 30 राष्ट्रीय शोध केन्द्रों, 29 क षि विश्वविद्यालयों और 10 परियोजना निदेशालायों का जाल फैला है और एक बड़ी संख्या में अखिल भारतीय स्तर पर संयोजित परियोजनाएं हैं जिनमें 24000 से भी अधिक क षि वैज्ञानिक और शिक्षक कार्य कर रहे हैं।

वर्षाधीन क षि के विकास के लिये किये गये प्रयत्नों ने जिन बातों पर जोर दिया है वे हैं (i) वर्षा जल और म दा प्रबंधन, (ii) फसल उत्पादन तकनीक। वर्षाधीन क्षेत्रों में उत्पादन बढ़ाने के लिये सरकार ने वर्षा जल के उपयोग के लिये बहुत से उपाय किये है। देश में जल समूहों के विकास पर बहुत सी योजनाएं और परियोजनाएं चल रही हैं।

11.3.1 वर्षा-जल प्रंबधन

योजनाकारों को बोध हो गया है कि परंपरागत हरित क्रांति क्षेत्रों से उत्पादन में और व द्धि प्राप्त करना बहुत कठिन है। दूसरी हरित क्रांति के लिये आवश्यक है कि सूखे क्षेत्रों को हरा बनाया जाये। अतः अब वर्षा पर निर्भर क्षेत्रों की ओर ध्यान स्थानांतरित हो गया है (विशेष कर पूर्वी और मरु प्रायद्वीपीय भारत में)। वर्षाधीन क्षेत्रों की क्षमता के उपयोग के लिये कार्यक्रम और परियोजनाएं प्रारम्भ की गयी हैं। उनके उद्देश्य इस प्रकार हैः

i) लगभग 2400 लाख टन वार्षिक खाद्यान्न उत्पादन की प्राप्ति के प्रयास करना और खाद्यान्न पैदावार के वार्षिक उतार चढ़ावों को कम करना;

ii) विस्त त वर्षाधीन क्षेत्रों और सिंचित क्षेत्रों के बीच प्रादेशिक अन्तरों को कम करना;

iii) व क्षों, पौधों और घास के उचित मिश्रण के द्वारा पर्यावरणीय संतुलन की पुनर्प्राप्ति; और

iv) ग्रामीण समुदाय के लिये रोजगार की उत्पत्ति और बड़े स्तर पर ग्रामीण क्षेत्रों से पहले से ही घनी आबादी वाले नगरों और कस्बों की और प्रसवन को कम करना।

ये परियोजनाएं इस प्रकार हैं :

i) वर्षाधीन क्षेत्रों के लिये राष्ट्रीय जलसंभर विकास परियोजना (NWDPRA)

वर्षाधीन क्षेत्रों के लिये राष्ट्रीय जलसंभर विकास परियोजना (NWDPRA) 1990-91 में प्रारम्भ हुई। इसके अंतर्गत 25 राज्य और दो केंद्र शासित प्रदेश आते हैं। इस परियोजना का प्रारम्भ वर्षाधीन क्षेत्रों में पारिस्थितिकी संतुलन के पुनर्भरण और निर्वाहणीय जैवमात्रा उत्पादन के उद्देश्य से हुआ। यह केन्द्रित हैः क) प्राक तिक संपदाओं के सर्वव्यवहार्य प्रोद्योगिकि के माध्यम से एकीक त एवं न्यूनतम लागत पर संरक्षण, उन्नयन और उपभोग पर; ख) जलसंभर के लाभभागियों और क षकों को योजना में प्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित करके वर्षाधीन क्षेत्रों में निर्धनता से त्रस्त ग्रामीण समुदाय के लिये रोजगार के अवसर पैदा करना और स्वंय सेवी समूहों का विकास कर जलसंभर के परियोजना कार्यो को पूर्ण करना।

इस परियोजना के अंतर्गत 28 लाख हैक्टर क्षेत्र का 1100 करोड़ रु० की लागत से उपचार करने का लक्ष्य रखा गया था।

ii) विश्व बैंक द्वारा सहायता प्राप्त जलसंभर विकास परियोंजनाएं

एकीक त जलसंभर विकास परियोजनाएं 1991-92 से चल रही हैं। इस परियोजना का मुख्य उद्देश्य था परिष्क त उत्पादन विधियों और म दा एवं आर्द्रता संरक्षण तकनीकों के उचित प्रयोग के द्वारा प्राक तिक वातावरण की अधोगति को धीमा करना और सुधारना।

iii) **क षि विकास परियोजना (ADP)**

विश्व बैंक की सहायता से क षि विकास कार्यक्रम (ADP) को विभिन्न राज्यों में परिचालित किया गया है जिससे क षि विकास ओर वर्षाधीन क षि की निवार्हणीयता को बढ़ाया जा सके।

iv) **DANIDA के अनुदान आश्रित वर्षाधीन क षि परियोजनाएं**

1990-91 मे कर्नाटक राज्य में डेनमार्क सरकार के सहयोग से एकीक त जलसंभर विकास परियोजना प्रारम्भ की गई। यहाँ से यह विभिन्न राज्यों में फैली। इस परियोजना के दूसरे चरण का प्रांरभ 1995 में हो चुका है।

v) **यूरोपीय आर्थिक समुदाय द्वारा सहायता प्राप्त परियोजना**

यूरोपीय आर्थिक समुदाय द्वारा सहायता प्राप्त एकीक त जलसंभर प्रंबधन परियोजना 1989 से संचालन में है।

vi) **स्विस विकास कारपोरेशन द्वारा सहायता प्राप्त परियोजना**

इस परियोजना में कर्नाटक में चल रहे सहभागी एकीक त जलसंभर विकास परियोजना (PIDOW) के द्वारा कर्नाटक के 5 जिलों मे 5 जलसंभरों के विकास का उद्देश्य है। अन्य राज्यों में इसके विस्तार किया जा रहा है।

11.3.2 फसल उत्पादन प्रोद्योगिकि

फसल उत्पादन तकनीकों के विकास की दिशा में किये गये प्रयत्न उच्च पैदावार और उचित किस्मों के बीजों और उपकरणों के विकास पर केन्द्रित हैं। वर्षाधीन प्रदेशों के कम वर्षा को ध्यान में रखते हुए विभिन्न प्रकार की लघु कालिक फसलों में ज़वार, मक्कई, कपास, दाल इत्यादि का विकास हो रहा है। यद्यपि इन फसलों में चारा कम पैदा होता है फिर भी, क षक इन्हें सरलता से अपनाते हैं, क्योंकि इनकी पैदावार अच्छी है। उर्वरकों का प्रयोग संभव है और फसल प्रबंधन के अच्छे परिणाम मिलते हैं।

दांतों वाला लांगल विकसित किया गया है। यह उपयोग में सरल और पशु शक्ति के लिये उपयोगी है। छोटे व सीमांत क षकों के लिये यह बहुत मंहगा नहीं है और इससे बीजण गति भी बढ़ती है। इसके लिये एक तिहाई श्रम की आवश्यकता होती है और यह पारंपरिक बीजण की अपेक्षा दस गुने क्षेत्र का कार्य करता है। यह 400 रु० तक की लागत पर स्थानीय तौर पर उपलब्ध सामान द्वारा बनाया जा सकता है।

फसल की विविधताओं में व द्धि के अतिरिक्त उचित फसल पद्धति पर भी शोध हो रहे हैं। संसाधनों के श्रेष्ठतम प्रयोग पर हुये शोधों ने कई वैकल्पिक भूमि प्रयोगों का विकास किया है, जो फसलों में जोखिम को बांट कर स्थायित्व लाते हैं। इसमें चारागाही पर आधारित फसलें क षि के साथ अनुकूलन में सम्मिलित होती हैं। क षि वानिकी, बागवानी आदि वैकल्पिक भूमि उपयोग व्यवस्था के सटीक उदाहरण हैं। बहुमूल्यी फसलें, जो भोजन पैदा करती है, ईंधन और चारे की निर्बाध आपूर्ति सुनिश्चित करती हैं और पर्यावरण की मित्र है, उन्हें चिन्हित किया गया है। उत्पादकता में स्थायित्व के अतिरिक्त, वैकल्पिक भूमि उपयोग व्यवस्थाएं अनाव ष्टि के प्रभाव को भी कम करती हैं।

बोध प्रश्न 1

1) वर्षाधीन क षि की क्या आवश्यकता है?

....

....

....

....

....

2) वर्षाधीन क्षेत्रों के विभिन्न प्रकार क्या हैं?

....

....

....

....

....

3) वर्षाधीन क्षेत्रों के विकास के लिये कौन सी महत्वपूर्ण परियोजनाएं हैं?

....

....

....

....

....

11.4 क षि जलवायिक मंडलन की आवश्यकता

क षि जलवायिक मंडलन से तात्पर्य समान जलवायु दशाओं वाले भू-क्षेत्र से है। वर्षा की सीमा, म दा की गुणवत्ता, आर्द्रता स्तर इत्यादि एक विशेष प्रकार की फसलों के लिये उसे उपयोगी बनाते हैं।

जलवायु वर्गीकरण का उद्देश्य हैः (i) जलवायु का विधिपूर्वक अध्ययन, (ii) इसके सामान्य स्वरूपों और परिस्थितिकी दशाओं को समझना। इससे क षि क्षमता का अधिक विश्वसनीय अनुमान लगाने और प्रत्येक जलवायु अंचलों में अनुकूल तकनीक के स्थानान्तरण से सम्बंधी समस्याओं का समाधान करने में सहायता भी मिलती है। ये तो संभव नहीं होगा कि प्रत्येक क षि जलवायु अंचल के प्रत्येक फार्म पर प्रत्येक परीक्षण को दोहराया जा सके। अतः एक प्रतिनिधि स्थल चुना जाता है तथा वहां प्राप्त परिणाम उसी के समान दशाओं वाले दूसरे स्थलों पर समान रूप से व्यवहारिक मान लिए जाते हैं।

क षि जलवायु अंचलों के निर्धारण से भूमि और जल विकास की युक्तियाँ ढूढ़ने में मदद मिलती है ताकि संतुलित क षि विकास की प्राप्ति संभव हो सके। यह स्थान विशेष पर अधारित शोध और विकास युक्तियों के विकास में भी सहायक होती है। परिणामस्वरुप सभी प्रदेशों के लिये उचित फसल वैविध्य और फसल पद्धतियों को चुना जाता है। इससे गैर फसल आधारित क षि क्रियाओं, जैसे, वानिकी पशुपालन और मछली पालन की योजना बनाने और प्रत्येक प्रदेश के लिये उचित विकास परियोजनाओं और वित्तीय संसाधनों को तय करने में मदद मिलती है।

आप इकाई 13 में देखेंगे कि 1960 और 1970 के दशक में हरित क्रांति का परिणाम क षि विकास में विस्त त प्रादेशिक असंतुलन के रूप में हुआ। वर्षाधीन क्षेत्र हरित क्राांति से अछूते रहे जिससे क षि जलवायु मंडल पर आधारित क षि योजना की आवश्यकता पड़ी।

समष्टि स्तरीय योजना के परिप्रेक्ष्य से क षि जलवायु अंचलन के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं: (i) विभिन्न अंचलों की क्षमता और संभावनाओं के आधार पर, राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न पदार्थों की मांग एवं आपूर्ति मे संतुलन की प्राप्ति, (ii) क षकों की शुद्ध आय में व द्धि, (iii) अतिरिक्त रोजगार का स जन, विशेषकर भूमिहीन श्रमिकों के लिये, तथा (iv) भूमि जल और वनों के दीर्घकालिक निर्वाहणीय और वैज्ञानिक उपयोग के लिये रूपरेखा का विकास।

अतः क षि जलवायिक अंचलों में योजना के महत्वपूर्ण पक्ष इस प्रकार हैं :

क) *फसल योजना* – भूमि विशेष पर उसकी उपयुक्तता को मूल्यांकित करते हुए उच्च मूल्यवान फसलों का प्रवेश और क षि का विविधता

ख) *सिंचाई योजना* – क षि और जलवायु की दशाओं पर आधारित योजनाओं का विकास।

ग) *शोध और विकास* – जलवायु की दशाओं और भूमि की स्थिति को ध्यान रखते हुए स्थान विशिष्ट के अनुरूप ऊँची पैदावार वाली फसलों और पशुधन का विकास

क षि के लिये नवीं योजना युक्ति वर्षाधीन क्षेत्रों के विकास के लिये एक 25 वर्ष के परिप्रेक्ष्य वाली योजना पर आधारित है। प्रादेशिक तौर पर भिन्न योजनाओं पर जोर दिया जा रहा है। व हद स्तर पर इन प्रदेशों को चार क षि आर्थिक प्रदेशों में बांटा जा रहा है।

क) उच्च उत्पादकता मंडल, जहाँ या तो सिंचाई का ऊंचा स्तर या कम वर्षा वाली न्यून सिंचित स्थितियाँ हैं। सामान्यतः इन प्रदेशों में निर्धनता का प्रभाव भी कम मिलता है।

ख) न्यून उत्पादकता मंडल, जहाँ अपेक्षाक त अधिक वर्षा, मध्यम से कम सिंचाई और ऊँची उत्पादकता क्षमता है। किन्तु वर्तमान में निधर्नता की अधिकता होती है।

ग) न्यून उत्पादकता मंडल जहाँ कम वर्षा, न्यून सिंचाई, भू जल का नीचा स्तर ओर निर्धनता बहुत व्यापक हो।

घ) क षि परिस्थिति में दुर्बल मंडल जहाँ निम्न उत्पादकता जल का भारी अपवहन और म दा क्षरण हो। इन क्षेत्रों में उत्तर पश्चिमी हिमालय, उत्तर पूर्वी राजस्थान के मरुस्थल और अनाव ष्टि उन्मुख गुजरात के क्षेत्र आते हैं।

11.5 भारत में क षि जलवायिक अंचल

मुख्य क षि परिस्थितिकीय प्रदेशों की म दा की गुणवत्ता, जलवायु की दशाओं और प्राक तिक वनस्पति के विषय में रूपरेखा प्रस्तुत करने के लिये कई प्रयास किये गये हैं। विभिन्न अभिकरणों ने क षि परिस्थिकीय प्रदेशों के वर्गीकरण का प्रयत्न किया है। उनमें से कुछ अभिकरण इस प्रकार हैं:

i) भारतीय क षि अनुसंधान परिषद (ICAR) द्वारा वर्गीक त क षि पारिस्थितिकी क्षेत्र

ii) योजना आयोग द्वारा वर्गी क त क षि पारिस्थितिकी क्षेत्र

iii) म दा सर्वेक्षण और भूमि उपयोग योजना के लिये राष्ट्रीय ब्यूरो (NBSS & LUP) द्वारा निर्धारित किये गये क षि पारिस्थितिकी क्षेत्र।

11.5.1 भारतीय क षि अनुसंधान परिषद् क त क षि जलवायिक क्षेत्र

इन अंचलों की हम नीचे चर्चा करेंगे:

भारतीय क षि अनुसंधान परिषद् ने भारत को आठ क षि पारिस्थितिकीय क्षेत्रों में वर्गीक त किया है। ये इस प्रकार है :

i) **आर्द्र पश्चिमी हिमालय क्षेत्र** : इसमें जम्मू कश्मीर, हिमाचल प्रदेश ओर उत्तरांचल आते हैं। इसकी विशिष्टिता ऊँचे पर्वत और नीची घाटियाँ हैं। यह क्षेत्र दक्षिण में गर्म उष्णकटिबंधी अर्ध आर्द्र से ले कर उत्तर के शीतोषण-शीत-मरु जलवायु तक फैली है। यहाँ वर्षा 80 सै० मी० से 100 सै० मी० तक होती है।

ii) **आर्द्र बंगाल असम घाटी** : यह गंगा ब्रह्मपुत्र के कछारी मैदान का प्रतिनिधित्व करती है और पश्चिमी बंगाल और असम इसमें शामिल हैं। इसकी विशिष्टता कछारी सतहों, अर्ध स्थिर रेतीले टीले, पश्चिम में कंकरीले अवशेष और डेल्टा क्षेत्र में बहुत सी संकरी खाड़ियां और दलदली क्षेत्र हैं। व ष्टिपात 220 सै०मी० से 400 सै०मी० तक होता है।

तालिका 11.1 : भारतीय क षि अनुसंधान परिषद् द्वारा निर्धारित क षि जलवायिक क्षेत्र

क षि जलवायिक क्षेत्र	औसत वार्षिक व ष्टिपात (से.मी.)	म दा प्रकार
1) आर्द्र–पश्चिमी हिमालय क्षेत्र	80-100 से.मी.	रेतीली लोम, लोमी और क्षारीय उप मेन्योर लोमी भूरी पहाड़ी म दा
2) आर्द्र बंगाल असम घाटी	220-400 से.मी.	मखरली, लाल और भूरी म दा
3) आर्द्र पूर्वी हिमालय प्रदेश और खाड़ी द्वीप	200-400 से.मी.	लाल पीत मखरली और लवणीय लेटराइट
4) अर्ध आर्द्र संतुलन गंगा कछार मैदान	30-200 से.मी.	मखरली, लवणीय और क्षारीय मदा
5) अर्ध आर्द्र पूर्वी और दक्षिण पूर्वी उच्चभूमि	100-180 से.मी.	मिश्रित काली, लाल, पीली, लाल रेतीली, काली मखरली म दा
6) पश्चिमी मरूभूमि	10-65 से.मी.	मखरली, काली, लेटराइट, मिश्रित लाल और काली म दा
7) अर्ध मरू लावा पठार और केन्द्रीय उच्च भूमि	330-750 से.मी.	मखरली, काली लेटराइट मिश्रित लाल और काली म दा
8) अर्ध मरू पश्चिमी घाट	60-300 से.मी.	काली, लाल, लैटराइट और कछारी म दा

iii) **आर्द्र पूर्वी हिमालय प्रदेश और खाड़ी द्वीप**: इसमें अरुणाचल प्रदेश, नागालैंड, मणिपुर, मिज़ोरम, त्रिपुरा, मेघालय और अंडमान निकोबार द्वीप आते हैं। इसमें विभिन्न ऊंचाई की पूर्वी हिमालय और अराकान पर्वतों की श ंखलाएं आती हैं। वर्षा 200 सै० मी० से 400 सै० मी० तक रहती है।

iv) **अर्ध आर्द्र सतलुज गंगा कछार मैदान**: यह पंजाब, उत्तर प्रदेश के मैदान, दिल्ली और बिहार से मिल कर बना है। यहां 30 सै० मी० से 200 सै० मी० तक वर्षा होती है। निरंतर बाढ़ के कारण बिहार में म दा बहुत बेहाल है।

v) **अर्ध आर्द्र से आर्द्र पूर्वी और दक्षिण पूर्वी उच्चभूमि :** इसमें उड़ीसा, आंध्र प्रदेश और छत्तीसगढ़ आते हैं। इसकी विशिष्टता तंरगित स्थलाकृति, वनस्पतिहीन पहाड़ियाँ, पठार, नदी घाटी और उच्च भूमियाँ हैं। यहाँ व ष्टिपात 100 सै०मी० से 180 सै०मी० तक होता है।

vi) **पश्चिमी मरु भूमि :** इसमें हरियाणा, राजस्थान, गुजरात और दादरा व नगर हवेली सम्मिलित हैं। इसकी विशिष्टता रेतीले टीलों वाले कछारी मैदान, लवणीय नीचा क्षेत्र

और ग्रेनाइट की पहाड़ियाँ हैं। इस क्षेत्र में 10 सै०मी० से 65 सै० मी० तक व ष्टिपात होता है।

vii) **अर्ध मरु लावा पठार और केन्द्रीय उच्चभूमियाँ :** यह महाराष्ट्र गोवा, दमण द्वीव और मध्य प्रदेश का क्षेत्र है। यहाँ व ष्टिपात 70 सै०मी० से 125 सै० मी० के बीच होता है (पश्चिमी धाट को छोड़ कर जहाँ यह 330 से 750 सै०मी० तक होता है)। मुख्य म दा समूहों में कछारी, काली, कंकरीली, मिश्रित लाल और काली और पीत भूरी हैं।

viii) **आर्द्र से अर्ध मरु पश्चिमी घाट और कर्नाटक पठार :** इसमें कर्नाटक, तमिलनाडू, केरल, पाँडिचेरी और लक्ष्यद्वीप समूह के क्षेत्र आते हैं। व ष्टिपात 60 सै०मी० से 300 सै० मी० तक होता है। मुख्य म दा समूह काली, लाल, कंकरीली और कछारी हैं।

11.5.2 योजना आयोग द्वारा वर्गीक त क षि जलवायिक क्षेत्र

योजना आयोग ने सातवीं योजना में भारत को 15 क षि जलवायिक अंचलों में विभक्त किया जो म दा की गुणवत्ता, भौगोलिक बनावट, जलवायु, फसल पद्धति और सिंचाई के विकास तथा खनिज संसाधनों पर आधारित हैं। ये हैंः

1) पश्चिमी हिमालय क्षेत्र
2) पूर्वी हिमालय क्षेत्र
3) निम्नतर गंगा मैदानी क्षेत्र
4) मध्यम गंगा मैदानी क्षेत्र
5) ऊपरी गंगा मैदानी क्षेत्र
6) गंगा पार मैदानी क्षेत्र
7) पूर्वी पठार और पहाड़ी क्षेत्र
8) केन्द्रीय पठार और पहाड़ी क्षेत्र
9) पश्चिमी पठार और पहाड़ी क्षेत्र
10) दक्षिणी पठार और पहाड़ी क्षेत्र
11) पूर्वी तट पठार और पहाड़ी क्षेत्र
12) पूर्वी तट मैदान और घाट क्षेत्र
13) गुजरात मैदान और पहाड़ी क्षेत्र
14) पश्चिमी शुष्क क्षेत्र
15) द्वीप क्षेत्र

11.5.3 राष्ट्रीय म दा सर्वेक्षण एवं भू-प्रयुक्ति प्रायोजन ब्यूरो द्वारा निर्धारित क षि पारिस्थितिक क्षेत्र

राष्ट्रीय म दा ब्यूरो ने भौतिक स्वरूप, म दा और जैव जलवायिक दशाओं पर आधारित 21 अंचलों वाला भारत का क षि पारिस्थितिक प्रादेशिक मानचित्र तैयार किया है। ये निम्नलिखित हैंः

i) **मरु पारिस्थितिक पारितंत्र**

1) पश्चिमी हिमालय उथली अद्यकचरी मिट्टी वाले शीत मरु पारिस्थितिक प्रदेश।

2) पश्चिमी मैदान, मरुस्थल और लवणीय म दा वाले गर्म मरु पारिस्थितिक प्रदेश।

3) दक्षिणी पठार, मिश्रित लाल और काली म दाओं वाले गर्म मरु पारिस्थितिक प्रदेश।

ii) **अर्धमरु पारितंत्र**

4) उत्तरी मैदान और केन्द्रीय उच्च भूमियाँ, जलोदक व्युत्पन्न म दाओं वाले गर्म अर्ध मरु पारिस्थितिक प्रदेश।

5) केन्द्रीय उच्चभूमियाँ और प्रायद्वीप, मध्यम और गहरी काली म दाओं वाले अर्ध मरु पारिस्थितिक प्रदेश।

6) दक्खन पठार, उथली और मध्यम काली म दा के साथ गर्म अर्ध मरु पारिस्थितिक प्रदेश।

7) दक्खन पठार और पूर्वी घाट, लाल और काली मिट्टी के साथ गर्म अर्ध मरु प्रदेश।

8) पूर्वी घाट और दक्खन पठार, लाल उपजाऊ म दा के साथ गर्म अर्ध मरु पारिस्थितिक प्रदेश।

iii) **उप-आर्द्र पारितंत्र**

9) उत्तरी मैदान, जलोदक व्युत्पन्न म दा के साथ गर्म आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश

10) केन्द्रीय उच्च भूमियाँ, मध्यम और गहरी काली म दाओ के साथ गर्म उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।

11) दक्षिण पठार, लाल और पीली म दाओं के साथ गर्म उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।

12) पूर्वी पठार, लाल और पीली म दाओं के साथ गर्म उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।

13) पूर्वी पठार और पूर्वी घाट, लाल उपजाऊ म दा वाले गर्म उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।

14) पूर्वी मैदान, जलोदक व्युत्पन्न म दाओ वाले गर्म उप आर्द्र प्रदेश।

15) पश्चिमी हिमालय राखीय म दा और भूरे वन वाले ऊष्ण और उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।

iv) **आर्द्र प्रति आर्द्र पारिस्थितिक तंत्र**

16) असम और बंगाल के मैदान, जलोदक व्युत्पन्न म दाओं के साथ गर्म आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।

17) पूर्वी हिमालय के ऊष्ण प्रति आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश, भूरी पहाड़ी म दाओं के साथ।

18) उत्तर पूर्वी पहाड़ी के ऊष्ण आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश लाल और कछारी म दाओं के साथ

v) **तटीय पारितंत्र**

19) पूर्वी तटीय मैदान, जलोदक व्युत्पन्न म दाओं के साथ गर्म उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।

20) पश्चिमी घाट और तटीय मैदान, लाल कंकरीली और जलोदक व्युत्पन्न म दाओं के साथ गर्म आर्द्र-प्रति आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।

vi) **द्वीप पारितंत्र**

21) अंडमान निकोबार और लक्ष्यद्वीप समूह, लाल उपजाऊ और बालू म दा के साथ गर्म-आर्द्र

तालिका 11.2 : राष्ट्रीय म दा सर्वेक्षण और भू-प्रयुक्ति प्रायोजन ब्यूरो द्वारा क षि जलवायिक क्षेत्र विभाजन – व ष्टिपात और म दा किस्में

क्र. सं.	क षि जलवायिक प्रदेश	औसत वार्षिक व ष्टिपात	क्षेत्र % में	वार्षिक व द्धि काल (दिनों में)
1)	पश्चिमी हिमालय उथली अद्यकचरी मिट्टी वाले शीत मरु पारिस्थितिक प्रदेश।	15	4.7	90
2)	पश्चिमी मैदान, मरुस्थल और लवणीय म दा वाले गर्म मरु पारिस्थितिक प्रदेश।	30	9	90
3)	दक्षिण पठार, मिश्रित लाल और काली म दाओं वाले गर्म मरु पारिस्थितिक प्रदेश।	40-50	1-4	90
4)	उत्तरी मैदान और केन्द्रीय उच्च भूमियाँ, जलोढक व्युत्पन्न म दाओं वाले गर्म अर्ध मरु पारिस्थितिक प्रदेश।	40-80	10	90-150
5)	केन्द्रीय उच्चभूमियाँ (मालवा) और काठियावाडी पठार : मध्यम और गहरी काली म दाओं वाले अर्ध मरु पारिस्थितिक प्रदेश।	60-90	5.6	90-150
6)	दक्षिण पठार, उथली और मध्यम काली म दा के साथ गर्म अर्ध मरु पारिस्थितिक प्रदेश।	60-100	10	90-150
7)	दक्षिण पठार और पूर्वी घाट, लाल और काली मिट्टी के साथ गर्म अर्ध मरु प्रदेश।	60-100	6.9	120-150
8)	पूर्वी घाट (तमिलनाडु) और दक्षिण पठार, लाल लोभी म दा के साथ गर्म अर्ध मरु पारिस्थितिक प्रदेश।	60-100	6.9	120-150
9)	उत्तरी मैदान, जलोदक व्युत्पन्न म दा के साथ गर्म आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश	100-120	3.7	150-180
10)	केन्द्रीय उच्च भूमियाँ, मध्यम और गहरी काली म दाओ के साथ गर्म उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।	100-150	4.2	150-180
11)	दक्षिण पठार, लाल और पीली म दाओं के साथ गर्म उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।	100-150	4.2	150-180
12)	पूर्वी पठार (छतीसगढ़), लाल और पीली म दाओं के साथ गर्म उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।	120-160	8.5	150-180

13)	पूर्वी पठार (छोटा नागपुर) और पूर्वी घाट, लाल लोम म दा वाले गर्म उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।	100-160	2.8	180-210
14)	पूर्वी मैदान, जलोदक व्युत्पन्न म दाओ वाले गर्म उप आर्द्र प्रदेश।	140-160	2.8	180-210
15)	पश्चिमी हिमालय राखीय म दा और भूरे वन वाले उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।	160-220	5.4	150-210
16)	असम और बंगाल के मैदान, जलोदक व्युत्पन्न म दाओं के साथ गर्म आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।	140-200	3.6	270
17)	पूर्वी हिमालय ऊष्ण-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश भूरी पहाड़ी म दाओं के साथ।	200	2.4	270
18)	उत्तर पूर्वी पहाड़ी ऊष्ण-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश लाल और कछारी म दाओ के साथ।	160-260	3.3	270
19)	पूर्वी तटीय मैदान, जलोदक व्युत्पन्न म दाओं के साथ गर्म उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।	120-160	2.5	150-210
20)	पश्चिमी घाट और तटीय मैदान, लाल मखरली और जलोदक व्युत्पन्न म दाओं के साथ गर्म आर्द्र-प्रति आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।	200	3	270
21)	अंडमान निकोबार और लक्षद्वीप समूह, लाल लोम और बालू म दा के साथ गर्म प्रति आर्द्र	160-300	0.3	270

बोध प्रश्न 2

1) क षि जलवायवी मंडलन का क्या उद्देश्य है?

....

....

....

....

....

2) भारत में चार–मुख्य क षि आर्थिक क्षेत्र कौन से हैं?

....

....

....

....

3) आर्द्र बंगाल असम बेसिन के मूल लक्षण क्या हैं?

....

....

....

....

....

11.6 क षि के लिये जैव तकनीकि

जैव प्राद्योगिकि (bio-technology) से तात्पर्य उपयोगी उत्पादों के उत्पादन के लिये जीवित जीवों के उपयोग से है। सूक्ष्म जीवों जैसे शैवाल, वैक्टिरिया, फंगस, खमीर और उच्चतर पौधों और पशुओं की कोशिकाएं फसलों के नये प्रकार के उत्पादन के लिये प्रयोग किये जा सकते हैं। संकर प्रकारों की फसलें, जो हम आज देखते हैं, जैव तकनीकों की ही उपज हैं।

'जैव प्रोद्योगिकि' शब्द 'जीव विज्ञान' और 'प्रोद्योगिकि' के संयोजन द्वारा व्युत्पन्न है। यह जैविक अंगों के मनुष्य के लिये उपयोग उत्पादों/सेवाओं के उत्पत्ति से संबंधित है। इसके दो महत्वपूर्ण लक्षण हैंः

- जैविक इकाइयों, उनके अवयवो और संघटकों का उपयोग, और
- मानवीय कल्याण की व द्धि के लिये कुछ उत्पादों और सेवाओं की उत्पत्ति

जैव प्रोद्योगिकि ने मानव की गतिविधियों जैसे उद्योगों, औषधि, क षि और पर्यावरण तथा उनके माध्यम से मानव के कल्याण स्तर को प्रभावित किया है। इसे गुणवत्ता वाले उत्पादों, मानवीय उपभोग और गुणवत्ता पूर्वा पशु और पौदप जीवन के संचरण मे व द्धि के लिये महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में बड़े पैमाने पर प्रयोग किया गया है इसने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को निश्चित रूप से प्रभावित किया है।

जैव प्रोद्योगिकि का क षि विकास में अनेक योगदान हैः आर्थिक महत्व के पादपों के तीव्र दर से बहुगुणन, जीवाणु युक्त पौधों के उत्पादन, अन्यथा अव्यवहार्य अन्तर्जातीय संकर के बचाव, संकरीकरण के द्वारा लैंगिक अक्षमता वाले संयोगों से संकरों का उत्पादन, इत्यादि। प्रकाश संश्लेषी दक्षता, नाइट्रोजन स्थिरीकरण दक्षता, बीज भंडारण, प्रोटीन की पोषकता संबंधी गुणवत्ता में जैव प्रोद्योगिकि के माध्यम से सुधार के लिये प्रयत्न हो रहे हैं। पादप-उत्तक-संवर्धन का प्रयोग उच्च उत्पादन, उत्पादन की विभिन्न प्रजातियों, रोग रोधण और फसलों के शीघ्र परिपक्वन के लिये किया जा रहा है।

सरकारी उपाय

जैव प्रोद्योगिकि के महत्व को अनुभव करते हुये केन्द्र सरकार ने देश में जैव प्रोद्योगिकि के कार्यक्रमों की प्रोत्साहन योजना और संयोजन के लिये विज्ञान एवं टेक्नॉलोजी मंत्रालय में जैव प्रोद्योगिकि विभाग 1986 में स्थापित किया। इस विभाग का मुख्य कार्य एकीक त विकास योजना और कार्यक्रमों के विकास, शोध विकास के और विशिष्ट क्षेत्रों के चिन्हन, विकसित शोध के लिये आधारिक संरचना और प्रशिक्षित मानव शक्ति तैयार करना है। जैव प्रोद्योगिकि उद्योग को रुढ़ और आधुनिक में विभक्त किया जा सकता है। रुढ़ जैव प्रोद्योगिकि उद्योग, टीके, एंटीबायोटिक, जैव उर्वरकों, जैव की कीटनाशकों और किण्वन उत्पादों जैसे खमीर, पनीर, एल्कोहल, साइट्रिक एसिड, लैक्टिक एसिड और ग्लूकोज से संबंधित है। आधुनिक जैव प्रोद्योगिकि उद्योग अनुवांशिक रूप से अभियान्त्रित उत्पादों से संबंधित है। पिछले पांच

सालों में 250 करोड़ रु. से अधिक निवेश वाली 100 से अधिक परियोजनाओं को सरकार ने प्रारम्भ किया है। राज्य स्तरीय क षि महाविद्यालयों और क षि शोध से संलग्न राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं के अतिरिक्त, निजी क्षेत्रक की बहुत सी इकाइयाँ भी जैव प्रोद्योगिकि के शोध में रुचि रखती हैं। 1992 में जैव प्रोद्योगिकि उत्पादों का उपभोग 1874 करोड़ रु. तक गया था, जिनमें पशु और मानवीय स्वास्थ्य से संबंधित उत्पाद 73% क षि उत्पाद 4% और औद्योगिक उत्पाद 23% तक मात्रा में रहे।

बोध प्रश्न 3

1) क षि के लिये जैव प्रोद्योगिकीय शोध के क्या लाभ हैं?

....

....

....

....

....

2) सरकार द्वारा क षि में जैव प्रोद्योगिकि के प्रयोग को प्रोत्साहित करने के लिये क्या उपाय किये गये हैं?

....

....

....

....

....

11.7 सारांश

यह सत्य है कि सभी कृषि योग्य क्षेत्रों को सींचा नहीं जा सकता। अतः कृषि योग्य क्षेत्र के बड़े अनुपात में हमें प्राक तिक व ष्टिपात पर निर्भर रहना पड़ता है। समस्या यह है कि भारत में वर्षाधीन क्षेत्र व ष्टिपात की मात्रा और म दा गुण के विषय में काफी विविधताएं हैं। अतः एक समान फसल प्रकार या फसल पद्धति का चुनाव समस्या का हल नहीं है। वर्षाधीन क्षेत्रों के विकास के लिये हमें जलवायिक दशा को सही रूप से समझना है, जलवायु के लिये उपयुक्त फसल प्रकार को विकसित करना और उत्पादन तकनीकों को प्रयोगशाला से भूमि पर स्थानांतरित करना होगा।

भारत में क षि योजना ने प्रादेशिक रूप से भिन्न विकास युक्ति को अपनाया है। देश में कई संस्थाओं ने एक सद श क षि जलवायिक अनुक्षेत्रों का वर्गीक त किया गया है। प्रत्येक प्रदेश के लिये शोध और विकास के प्रयत्नों द्वारा उचित फसल और फसल पद्धितयों को विकसित किया जा रहा है। ऊंची पैदावार, जल दक्षता, रोग रोधण और लघु कालिक फसलों के विकास में जैव प्रौद्योगिकि ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

11.8 शब्दावली

क षि जलवायिक क्षेत्र : समान जलवायिक दशाओं वाले क्षेत्र।

जैव प्रौद्योगिकि : उपयोगी उत्पादों के निर्माण के लिये जीवित जीवों का उपयोग करने की प्रविधियां।

11.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Planning Commission, 2003, *Tenth Five Year Plan*, Government of India.

Mal, P., 2001, *Infrastructure Development for Agriculture and Rural Development*, Mohit Publications, New Delhi.

Singhal, V., 1996, *Indian Agriculture*, Indian Economic Data Research Centre.

11.10 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

बोध प्रश्न 1

1) भारत में सिंचाई की संकुल संभावित क्षमता सीमित है अतः 74% प्रदेश में क षि प्राक तिक व ष्टिपात पर निर्भर करती है।

2) उप-भाग 11.2.1 देखें

3) उप-भाग 11.3.1 देखें और उत्तर दें

बोध प्रश्न 1

1) क षि जलवायवी मंडलन के अध्ययन का उद्देश्य जलवायु अध्ययन द्वारा समुचित विकास युक्ति की खोज और उचित फसल योजना को अपनाने के लिये होता है।

2) भाग 11.4 देखें और उत्तर दें

3) आर्द्र बंगाल असम बेसिन कंकरीली और कछारी म दाओं के कारण विशिष्ट है। इस प्रदेश में व ष्टिपात 220 सें०मी० और 400 सें०मी० के बीच होता है।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 11.6 देखें और उत्तर दें

2) भाग 11.6 देखें और उत्तर दें

इकाई 9 भूमि उपयोग एवं फसल पद्धति

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 भूमि उपयोग प्रतिमान
- 9.2.1 भूमि उपयोग का वर्गीकरण
- 9.2.2 भूमि उपयोग प्रतिमान में परिवर्तन

9.3 भारत में कृषि भूमि का उपयोग
- 9.3.1 वैज्ञानिक फसल प्रारूप
- 9.3.2 वैज्ञानिक भू प्रयोग के लिए सरकारी हस्तक्षेप

9.4 भारत में म दा दशायें
9.5 भूक्षरण
- 9.5.1 जल द्वारा भूक्षरण
- 9.5.2 वायु क्षरण
- 9.5.3 लवणीकरण
- 9.5.4 जलग्रस्तता

9.6 भारत में फसल पद्धतियां
- 9.6.1 फसल प्रणाली के प्रकार
- 9.6.2 फसल प्रणालियां भिन्न क्यों

9.7 वर्तमान फसल प्रणालियां
- 9.7.1 खरीफ मौसम की फसल प्रणालियां
- 9.7.2 रबी मौसम की फसल प्रणालियां

9.8 फसल पद्धतियों में परिवर्तन
- 9.8.1 फसल पद्धतियों को प्रभावित करने वाले कारक
- 9.8.2 फसल पद्धतियों में उभरती समस्याएं

9.9 वर्तमान प्रव ति के दीर्घकालीनऽप्रभाव
- 9.9.1 उर्वरकों और कीटनाशकों के प्रयोग में व द्धि
- 9.9.2 जल की मांग में व द्धि
- 9.9.3 वन क्षेत्रों का अवक्षय

9.10 सारांश
9.11 शब्दावली
9.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
9.13 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

9.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप जानेंगे:

- भूमि उपयोग के तथ्य की व्याख्या;
- भूमि प्रयोग की श्रेणियों से परचित करना;
- भूमि प्रयोग पद्धति में परिवर्तन की व्याख्या;
- कृषि उत्पादन की पद्धति की व्याख्या;

- समय के साथ फसल पद्धति में आए परिवर्तनों के विषय में जानकारी प्राप्त करना; तथा
- फसल पद्धति में परिवर्तनों के प्रभावो के विषय में जानकारी प्राप्त करना।

9.1 प्रस्तावना

किसी भी देश में अधिकतर भूमि को जोतने की परिधि सीमित होती है। भौतिक दशायें, विकास का स्तर, भौगोलिक स्थिति, जनसंख्या का आकार और व द्धि, संस्थागत ढांचा इत्यादि कारक एक अर्थव्यवस्था में भूमि उपयोग की प्रकृति निर्धारित करते हैं। भूमि की गुणवत्ता, लोगों की खान-पान संबंधी आदतों और भिन्न फसलों की आपेक्षिक लाभ देयता को ध्यान में रखकर ही कृषि के लिये उपलब्ध क्षेत्र का प्रयोग विभिन्न फसलों के लिये किया जाता है। अतः जैसे-जैसे भोजन की आदतों, सापेक्ष मूल्यों और उत्पादकता में परिवर्तन आता है, समय के साथ फसल की प्रतिमान प्रकृति में भी परिवर्तन आता है। फिर भी किसी देश में ऐसे परिवर्तन भूमि उपयोग योजना के अनुरूप होने चाहिये।

इस इकाई में हम भारत में भूमि प्रयोग और फसल प्रतिमानों, के विषय में जानेंगे (विशेष रूप से स्वतंत्रता पश्चात् के दौरान)। हम इन प्रतिमानों में परिवर्तनों के संभावित कारणों की भी चर्चा करेंगे।

9.2 भूमि उपयोग प्रतिमान

विस्त त रूप से भूमि उपयोग प्रतिमान से तात्पर्य भिन्न पारिस्थितिकीय परिद श्यों के अन्तर्गत भूमि संसाधनों का उपयोग है। किसी विशेष समय में एक देश भूमि उपयोग प्रतिमान वहां की भौतिक, आर्थिक और संस्थागत रूपरेखा को एकत्रित करके निर्धारित होता है। दूसरे शब्दों में भारत के विभिन्न प्रदेशों में विद्यमान भूमि उपयोग प्रतिमान विभिन्न कारकों जैसे भूमि की भौतिक विशिष्टता, संस्थागत ढांचा, अन्य उपलब्ध संसाधनों (पूंजी, श्रम इत्यादि) की संरचना की क्रिया और प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप विकसित हुआ है। इसके अतिरिक्त आर्थिक विकास के अन्य पक्षों अर्थात परिवहन, उद्योग, व्यापार आदि से संबंधित पक्षों के संबंध में प्रदेश की भौगोलिक स्थिति भी भूमि उपयोग प्रतिमान को प्रभावित करती हैं। हाल के वर्षों में वर्तमान भूमि उपयोग प्रतिमान और प्रव त्तियों के सूक्ष्म परीक्षण से हमें भारतीय आर्थिक द श्य को समझने में मदद मिलेगी।

9.2.1 भूमि उपयोग का वर्गीकरण

भूमि प्रयोग के परिप्रेक्ष्य से भारत में कुल भूमि को पांच श्रेणियों में बांटा जा सकता है। ये हैं :

1) वन
2) कृषि के लिये अनुपलब्ध क्षेत्र
3) बिना जुती भूमि (परती भूमि को प थक)
4) परती भूमि
5) कृषि योग क्षेत्र

कृषि के लिये अनुपलब्ध क्षेत्र में सामान्यतः औद्योगिक और गैर कृषि प्रयोगों वाले क्षेत्र के साथ-साथ बंजर और बिना जुती भूमि भी सम्मिलित है। बिना जुती भूमि के शीर्षक के अन्तर्गत हम चारागाह, चारागाही भूमि, व क्ष आवरण और बंजर भूमि को रखते है। दूसरी ओर परती भूमि वह भूमि है जो कृषि योग्य है परन्तु क षि नहीं की गई है। खेती की गई भूमि शुद्ध बीजित क्षेत्र (net sown area) को दर्शाती है।

अब हम वर्ष 1995 के लिये भूमि उपयोग प्रतिमान को देखेंगे। भारत का कुल क्षेत्र 3287.30 लाख हैक्टर है। भूमि उपयोग वर्गीकरण के लिये 1995 के उपलब्ध आंकड़े 3048.30 लाख के लिये है। जिसमें वन क्षेत्र 22.43% (683.90 लाख हैक्टर) है। तालिका 9.1 में आप देखेंगे कि कुल भौगोलिक क्षेत्र का सबसे बड़ा भाग 1428.20 लाख हैक्टरशुद्ध बीजित क्षेत्र (46.8%)ऽघिरा हुआ है। दूसरी ओर गैर कृषि क्षेत्र जिसमें गैर कृषि उपयोगों और बंजर तथा बिना जुती भूमि भी आते है कुल क्षेत्र का 13.6% है। दूसरे बिना जुती भू भाग, परती भूमि के अलावा जिनमें (1) स्थायी चारागाह और अन्य चराई वाली भूमि, (2) विविध व क्ष फसलों और बाग के अन्तर्गत भूमि जो शुद्ध बीजित क्षेत्र में सम्मिलित नहीं है, (3) बंजर भूमि आते हैं, 290.80 लाख हैक्टर है (कुल क्षेत्र का 9.6 प्रतिशत)। इनमें से 112.40 लाख हैक्टर स्थायी चारागाह और अन्य चराई क्षेत्र के अन्तर्गत है, 36.30 लाख हैक्टर में विविध व क्ष और उपवन और 142.10 लाख हैक्टर भूमि बंजर है। परती भूमि 233.30 लाख हैक्टर यानि 7.6 प्रतिशत का क्षेत्र घेरे हुये है।

9.2.2 भूमि उपयोग प्रतिमान में परिवर्तन

1995 में जो तस्वीर हम देखते हैं वह 1950 से बहुत भिन्न है। आप 1995 और 1950 के भूमि उपयोग प्रतिमान की तुलना तालिका 9.1 द्वारा कर सकते हैं। तालिका के कुछ विशिष्ट लक्षण इस प्रकार हैंः

1) वन आवरण के अन्तर्गत क्षेत्र 1950 में 14.24% था जो 1995 में बढ़कर 22.43% हो गया है।

2) कृषि के लिये उपलब्ध क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने वाला शुद्ध बीजित क्षेत्र 1950 में 41.77% से बढ़कर 1995 में 46.85% हो गया है। यह अतिरिक्त क्षेत्र को जोतने के कारण संभव हो सका है।

3) कृषि के लिये अनुपलब्ध क्षेत्र 1950 के 16.71% से घटकर 1995 में 13.54% हो गया है। यहां, गैर कृषि उपयोगों के लिये क्षेत्र बढ़ा है जबकि बंजर भूमि का क्षेत्र घटा है। इसका तात्पर्य है कि बंजर भूमि का एक बड़ा भाग आर्थिक उपयोग के काम लाया गया है।

4) परती भूमि के अलावा बिना जुती भूमि का क्षेत्र कम हुआ है। इस संदर्भ में महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि विविध व क्ष, फसलों, व क्षारोपण इत्यादि के अन्तर्गत का क्षेत्र 6.97% से घटकर 1.19% हो गया है।

सकल फसल क्षेत्र में 562.60 लाख हैक्टर (1950 में 1318.90 लाख हैक्टर से 1995 में 1881.50 लाख हैक्टर तक) की सुस्पष्ट व द्धि है। फसल की मात्रा में 110.7 से 131.7 की व द्धि रवी और ग्रीष्म में जुतने वाले क्षेत्र का एक संकेत है। बड़ी, मध्य और छोटी सिंचाई परियोजनाओं का विकास एवं निर्माण के परिणामस्वरूप ऊंची फसल मात्रा और कृषि के अन्तर्गत अधिक क्षेत्र आना संभव हुआ है।

राष्ट्रीय वन नीति में स्पष्ट है कि वन के अन्तर्गत क्षेत्र को देश के कुल भौगोलिक क्षेत्र के 33% तक स्थिरतापूर्वक बढ़ाया जाये। अब वहां कृषि योग्य भूमि के विस्तार के लिये पारिस्थितिकीय स्थिति में असंतुलन पैदा किए बिना कोई गुंजाइश नहीं है। सिंचाई सुविधाओं में विस्तार से अधिक मात्रा में खेती और सूखी खेती की वैज्ञानिक विधियों से बढ़ती जनसंख्या की खाद्य आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है।

तालिका 9.1

भूमि के प्रकार	1950		1965	
	क्षेत्र	प्रतिशत	क्षेत्र	प्रतिशत
क) कुल भौगोलिक क्षेत्र	328.73		328.73	
ख) भूमि उपयोग के लिए रिपोर्ट की गई क्षेत्र (=1+2+3+4+5)	284.32		304.85	
1) वन ो	40.48	14.24	68.39	22.43
2) कृषि के लिए अनुपलब्ध क्षेत्र	47.52	16.71	41.28	13.54
i) गैर-कृषि उपयोग क्षेत्रो	9.36	3.29	22.51	7.38
ii) बंजर और अकृष्य भूमिो	38.16	13.42	18.77	6.16
3) परती भूमि के अतिरिक्त अन्य अकृष्य भूमिो	49.45	17.39	29.08	9.54
i) स्थाई चारागाह व अन्य चराई की भूमि ो	6.68	2.35	11.24	3.70
ii) शुद्ध बीजित क्षेत्र से बाहर विविध व क्ष फसलों की भूमि और समूहोंो	19.83	6.97	3.63	1.19
iii) कृषि अवशेषो	22.96	8.08	14.21	4.66
4) परती भूमि ो	28.12	9.89	23.3	7.64
i) चालू परती के अतिरिक्त परती भूमि	17.44	6.13	9.77	3.20
ii) चालू परती	10.68	3.76	13.53	4.44
5) शुद्ध बीजित क्षेत्र	118.75	41.77	142.82	46.85
ग) सकल फसल क्षेत्र	131.89		188.15	
घ) कृषि तीव्रता (%)	111.07		131.70	

स्रोतः कृषि सांख्यिकी पर एक नजर : 1999, भारत सरकार

9.3 भारत में कृषि भूमि का उपयोग

1993-94 में 426.80 लाख हैक्टर में चावल, 252 लाख हैक्टर में गेहूं, 335 लाख हैक्टर में मोटे अनाज और 1014.90 लाख हैक्टर में कुल अनाज बोया जाता था। 234 लाख हैक्टर में दाल, 1248 लाख हैक्टर में खाद्यान्न, 294 लाख हैक्टर में फल, 42 लाख हैक्टर में सब्जी, 285 लाख हैक्टर में तेल बीज, 836 लाख हैक्टर में रेशे, 4.2 लाख हैक्टर में तम्बाकू , 37.4 लाख हैक्टर में गन्ने, 23.6 लाख हैक्टर में मसाले और 106.40 लाख हैक्टर में अन्य फसलें उगाई जाती थीं।

9.3.1 वैज्ञानिक फसल प्रारूप

उपलब्ध भूमि संसाधनों से कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिये, वैज्ञानिक विधि से फसल लगाने के प्रतिमान के प्रयोग की आवश्यकता थी। फसल बोने की प्रणाली में इस विषय में बहुत

सम्भावनाएं हैं। फसल लगाने की तकनीक को अपनाना और इसका सफलतापूर्वक प्रयोग करना भौतिक, सामाजिक और आर्थिक संसाधनों पर निर्भर करता है, जो आवश्यक पड़ने पर उपलब्ध किए जा सकते हैं। स्थान विशिष्ट और खेत आधारित फसल लगाने की पद्धति में ऐसे कुछ निर्धारकों जैसे भूमि के प्रकार, जल की उपलब्धता, सूर्य की रोशनी की तीव्रता और अवधि, श्रम उपलब्धता, नकदी या वित्त, बिजली स्रोत और बाजार मांग आदि को ध्यान में रखकर विकसित करना चाहिये।

संकलित कृषि प्रणाली में फसलों को मुख्य उद्यम के रूप में लेकर पर्याप्त संसाधन उपयोग करना मूल समस्या है। कैरॉडैंग (Carandang) ने 1980 में परिकल्प की थी कि फसल लगाने की प्रणाली के द ष्टिकोण के दो भाग हैः फार्म (खेत में) संसाधन और उत्पादन तकनीकी। फार्म संसाधन दो प्रकार के है : भौतिक और सामाजिक-आर्थिक। भौतिक संसाधनों में भूमि, सूर्य का प्रकाश और जल आते हैं। दूसरी ओर सामाजिक–आर्थिक कारकों में बाजार, श्रम, बिजली, पूंजी इत्यादि आते हैं। उत्पादन तकनीक फसलों की प्रकृति और विविधताओं, जोतने वालों, उवर्रकता, खरपतवार प्रबन्ध, कीटनाशक प्रबन्ध, रोग नियन्त्रण, अन्तर खेत अवधि, जल प्रबंन्धन इत्यादि पर निर्भर करती है। कृषि संसाधन और उत्पादन-तकनीक दोनों को वैज्ञानिक आधार पर संकलित करने की आवश्यकता है।

9.3.2 वैज्ञानिक भूमि उपयोग के लिए सरकारी हस्तक्षेप

एक राष्ट्र हजार सालों तक रहता है जबकि मनुष्य कुछ दशकों तक रहते हैं। अतः व्यक्तिगत क्रियाओं को भविष्य की पीढ़ी की संभावनाओं के लिए सीमित नही करना चाहिए। किसी राष्ट्रीय सरकार को भविष्य की पीढ़ियों के हितों की रक्षा के लिए, वर्तमान पीढ़ी के कल्याण के साथ समझौता नहीं करना चाहिये। इसी कारण बेहतर भूमि उपयोग योजना की आवश्यकता होती है, जहां सार्वजनिक और निजी हितों का ध्यान रखा जा सके।

वैज्ञानिक और निर्वाह योग्य भूमि उपयोग को सुविधाजनक बनाने के लिये सरकार को बहुत से विधान बनाने पड़ते है। ये विधान अधिकतम स्वतंत्रता के पश्चात बने है। भूमि उपयोग विधेयक 1947 और 1949 में क्रमशः उत्तर प्रदेश और पंजाब सरकार द्वारा पारित किया गया था। उत्तर प्रदेश म दा संरक्षण विधेयक 1954 बिक्री संरक्षण कार्यक्रमों को धारण करता है। बिहार और पंजाब के राज्यों ने भूमि सुधार विधेयकों को पारित किया है। मध्य भारत भूमि उपयोग विधेयक 1950 अधिक अवधिओं के लिये धरती परती रखने पर प्रतिबंध लगाता है। बम्बई खार भूमि विधेयक 1948 और पंजाब भूमि परिरक्षण, संशोधन विधेयक 1953 भूमि साधनों के दुरूपयोग को रोकने के लिये बनाये गये।

फिर भी ये विधेयक भूमि संसाधन के कुप्रबंधन का नियंत्रण रखने में असमर्थ रहे हैं। अनुचित परिपालन और कानूनों की अस्पष्ट व्याख्या के कारण भूमि के दुरूपयोग की बहुत सी घटनाएं हुई हैं।

9.4 भारत की म दा दशायें

कृषि उत्पादन के लिये मिट्टी एक आवश्यक साधन है। यह उत्पादन व द्धि में सहयोग देती है। आप जानते होंगे कि मिट्टी एक स्थानान्तरणीय प्राकृतिक देन है जो भूमि की ऊपरी सतह पर पाई जाती हैं और उत्पादन का प्राकृतिक माध्यम प्रदान करती है। मिट्टी एक प्राकृतिक वस्तु है जो असंपिंडित धातु और जैविक पदार्थ की तहों में विभाजित है। हर प्रदेश में मिट्टी की गहराई भिन्न-भिन्न है।

भारत की म दा/मिट्टी को कई समूहों में और उप समूहों में वर्गीकृत किया जाता है। मुख्य समूह निम्न प्रकार हैः

i) **लाल म दा**

लोहे की विविध आक्साइडों की उपस्थिति के कारण मिट्टी का रंग लाल होता है। ये म दाएं उर्वरक में मंद और जैविक पदार्थों में क्षीण होती है। इस प्रकार की म दा तमिलनाडू, कर्नाटक, गोआ, दमन और दिउ, दक्षिण-पूर्वी महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़, उड़ीसा और झारखंड के विस्त त क्षेत्र को समेटे हैं। इसका विस्तार बिहार के संथाल परगना और पश्चिमी बंगाल के बिरभूम जिले से उत्तर प्रदेश में झांसी और हमीरपुर तक मिलता है। तमिलनाडू में लाल म दा सर्वाधिक क्षेत्र घेरती है और कृषि भूमि का लगभग दो तिहाई भाग निर्माण करती है।

ii) **भखरला म दा**

म दा का यह प्रकार पीत लाल या लाल रंग का होता है। ये म दाएं जैविक पदार्थ से भरपूर होती है। भारत में ये म दाएं आन्तरिक रूप से आर्द्र जलवायु में विशेष रूप से पाई जाती है। म दा की यह प्रकार सामान्यतः कर्नाटक की पहाड़ियों के शिखर, केरल, मध्य प्रदेश, उड़ीसा के पूर्वी घाट, महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल और तमिलनाडू में पहाड़ियों के शिखर में पाई जाती है। भखरल म दा की निम्नतर उन्नतांश (lower elevations) पर धान और उच्चतर उन्नतांश पर चाय, रबड़ कॉफी और सिंकोना उगाया जाता है।

iii) **काली म दा**

इस प्रकार की म दा की विशेषता है गहरा रंग, जो गहरे भूरे से गहरे काले तक जाता है। इन म दाओं में ऊंची मात्रा में जैविक पदार्थ पाया जाता है ये म दा गहराई में सतह से गहरे तक होती है। नितान्त रूप से दक्खन (डकन) मुख से व्युत्पन्न काली कपास म दा है। यह महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश के पश्चिमी भाग, आंध्र प्रदेश, गुजरात और तमिलनाडु के कुछ भागों में पाई जाती है। बहुत से काली मिट्टी वाले प्रदेशों में उच्च श्रेणी की उर्वरकता है। लेकिन कुछ विशेषकर उच्चभूमियाँ (uplands) सामान्य रूप से उत्पादक हैं। महाराष्ट्र में ये म दाएं दक्खन (डकन) मुख से व्युत्पन्न है और काफी बड़े क्षेत्र को घेरती है।

iv) **कछारी म दा**

ये म दा गहरे रंग की होती है और इसमें चूना होता है। इसमें पर्याप्त क्षारीयता या लवणता पाई जाती है। ताजे कछार गठन में अधिक खुरदरे होते हैं और थोड़े या न के बराबर समतलता वाले होते है। यह भारत में कृषि में सर्वाधिक अंश का योगदान देने वाला सबसे बड़ा और सबसे महत्वपूर्ण म दा समूह है। इस प्रकार की म दा गंगा और ब्रह्मपुत्र प्रणाली के छोड़े गये निक्षेपणों द्वारा बनती है। कछारी म दा का विस्तार पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश और असम तक है। तमिलनाडू, केरल और गुजरात के तटों के किनारे के डेल्टा प्रदेशों की कछारी म दा दक्षिणी नदियों के तलछट का निक्षेपण है।

v) **मरूस्थल म दा**

इस प्रकार मिट्टी में जैविक पदार्थ बहुत कम होता है। इसका रंग पीले भूरे से लेकर पीत भूरे तक होता है। इसमें बहुत से तत्व जल में घुलनशील खनिज होते हैं। ये म दायें पश्चिमी राजस्थान, हरियाणा, पंजाब में जो सिंधु नदी और अरावली श्रेणी के बीच में है, प्रमुख रूप से पाई जाती है। राजस्थान का मरूस्थल एक व हद मरू मैदान है जिसमें जगह-जगह पर एकाध पहाड़ियां भी हैं। बहुत से भागों में से म दायें विपरीत भौतिक दशाओं के साथ क्षरीय से लवणीय तक भी होती है।

vi) **तराई म दा**

इस प्रकार की म दा हिमालय प्रदेश की पहाड़ियों, जम्मू और काश्मीर, उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिमी बंगाल में पाई जाती है। ये निम्नतर हिमालय श ंखला से पदार्थों के निम्न गतिशीलता से बनती है।

vii) **भूरी म दाएं**

इस प्रकार म दाएं भूरी और जैविक पदार्थ में मध्यम रूप से परिपूर्ण होती है। इसमें जैविक कार्बन 0.5 से 1 प्रतिशत तक पाया जाता है। यह म दा प्रकृति में हल्के क्षारीयता से विभुत्य होती है।

viii) **लवण एवं क्षारीय म दा**

इसमें घुलनशील लवणों के ऊंची मात्रा पाई जाती है। यह अनुमान लगाया जताा है कि देश में लगभग 70 लाख हैक्टर भूमि लवणता के कारण ही कृषि योग्य नहीं है। इस म दा में लवणीय म दा के तीन मामले सामने आये हैं।

क) लवणीय म दा

इस म दा में शुद्ध अंचल में घुलनशील लवणों के विशाक्त सत पाया जाता है। इसे वेत क्षार भी कहते हैं।

ख) गैर लवणीय या सोडिक म दा

इन म दाओं में किसी बड़ी मात्रा में तटस्थ लवण नहीं मिलते।

ग) लवणीय क्षार म दा

इस समूह की म दा लवणीय और क्षार दोनों हैं इसके कारण फसलों की ऊपज कम होती है।

xi) **पीट म दा**

म दा की यह प्रकार प्रायः खारे जल तलछटों से विकसित होती है। खराब निकासी की दशाओं के कारण इसमें जैविक पदार्थ का ऊंचा जमाव होता है। इस म दा में खाली एल्यूमिना का ऊंचा प्रतिशत पाया जाता है।

9.5 भूक्षरण

भूक्षरण प्राकृतिक संसाधनों की अद्योगति के लिये उत्तरदायी एक मुख्य कारक है। यह अनुमान लगाया जाता है कि तीव्रगामी भूक्षरण ने विश्व के विभिन्न देशों में वर्तमान कृषि क्षेत्र के 30 प्रतिशत को घेरने वाले कुछ 4300 लाख हैक्टर भूमि क्षेत्र को बुरी तरह क्षतिग्रस्त किया है। पहाड़ी क्षेत्र में भूक्षरण तरंगित क्षेत्र की अपेक्षा अधिक तीव्र है। ऊपरी म दा के क्षय के परिणामस्वरूप भारतीय उप महाद्वीप में घटती उत्पादकता एक अत्यंत गंभीर अद्योगामी समस्या है।

9.5.1 जल द्वारा भूक्षरण

भारतीय संदर्भ में जल द्वारा भूक्षरण एक सबसे अधिक गंभीर समस्या है। वर्तमान समय में म दा क्षरण 16.35 प्रति हैक्टर प्रतिवर्ष की दर से हो रहा है जिसका योग 53340 लाख टन प्रतिवर्ष बैठता है। कुल अवक्षयित म दा का लगभग 29 प्रतिशत स्थायी रूप से समुद्र में विलीन हो चुका है। लगभग 10 प्रतिशत जल कुण्डों में जमा है।

9.5.2 वायु क्षरण

वायु क्षरण मरू और अर्ध मरू प्रदेशों, जिसमें राजस्थान, हरियाणा, पंजाब गुजरात के राज्य सम्मिलित हैं, में एक गंभीर समस्या है। अत्यधिक चराई और सीमान्त प्रदेशों में कृषि के विस्तार के कारण प्राकृतिक वनस्पतीय आवरण का निराकरण एक मानव निर्मित कारक है जिसने वायु क्षरण तीव्र किया है। तटीय क्षेत्र जहां रेतीली मिट्टी का प्रभुत्व है वहां भी वायु क्षरण प्रचलित है।

9.5.3 लवणीकरण

सिंचाई का एक बड़ा अंश नहर सिंचित क्षेत्र के प्रसार द्वारा प्राप्त किया गया है। लगभग सभी मामलों में भू जल तालिका जो सिंचाई के आरंभ से पहले कई मीटर गहरी थी अब सिंचाई के प्रारम्भ के बाद ऊंची उठ रही है। जब भू जल तालिका सतह के 2 मीटर तक पहुंचती है तो म दा की सतह से जल वाष्पण में विशेष योगदान देती है और म दा के लवणीकरण का कारण बनती है। नहर सिंचाई प्रदेशों का लगभग 50 प्रतिशत लवणीकरण या क्षारीय कारण या दोनों से ग्रस्त है। इन समस्याओं के मुख्य कारण जिन्हें आप इकाई 10 में देखेंगे, अपर्याप्त निकासी और उपलब्ध जल संसाधनों का अकुशल प्रयोग है। सामाजिक, राजनैतिक कारकों ने भी लवणीकरण की समस्या में योगदान दिया है।

9.5.4 जल ग्रस्तता

सिंचित क्षेत्र में म दा की अद्योगति का एक अन्य कारण अधिक जल प्रयोग या नहर के रिसाव के कारण हुई जलग्रस्तता है। इससे न केवल फसल की व द्धि में बाधा आती है अपितु म दा का अवक्षय होता है और उत्पादकता काफी हद तक घटती है। जल ग्रस्तता के विपरीत प्रभाव ने कृषि क्षमता को विशेष रूप से पूर्वी प्रदेश में बहुत प्रभावित किया है यह अनुमानित है कि 80 लाख हैक्टर भूमि देश में जलग्रस्तता का शिकार है।

बोध प्रश्न 1

1) फसल लगाने की तीव्रता क्या है ? फसल लगाने की तीव्रता को बढ़ाने के क्या उपाय हैं?

....

....

....

....

....

2) लाल मिट्टी और काली मिट्टी के बीच उपलब्धता, उर्वरकता और फसल उगने में भेद बताएं?

....

....

....

....

3) भूमि उपयोग प्रतिमान में कौन से मुख्य परिवर्तन आ रहे हैं ?

....

....

....

....

....

9.6 भारत में फसल पद्धतियां

फसल पद्धति से तात्पर्य एक समय बिन्दु पर विभिन्न फसलों के अन्तर्गत के क्षेत्र का भाग है। भारत में फसल लगाने की क्रियायें वर्ष भर चलती है बशर्ते फसलों के लिये जल उपलब्ध है।

भारत में फसल पद्धति के दो विशिष्ट मौसम हैं – खरीफ मौसम जुलाई से अक्टूबर तक और रबी मौसम अक्टूबर से मार्च तक। मार्च और जून के बीच उगी फसलें जैद कहलाती है। फसले अकेले या मिश्रित (मिश्रित फसल) या एक निश्चित अनुक्रम (आवर्तन फसलों) में उगाई जाती हैं। एक मौसम में एक फसल या दो फसलों को एक अनुक्रम में उगाया जा सकता है। इन फसलों की व्याख्या निम्न प्रकार है।

9.6.1 फसल प्रणाली के प्रकार

i) **एकल फसल (mono cropping)** – एकल फसल या एकाकी खेती से तात्पर्य भूमि के एक टूकड़े पर वर्ष प्रति वर्ष केवल एक फसल उगाने से है। यह जलवायिक और सामाजिक आर्थिक दशाओं या किसान की विशेष फसल उगाने की विशिष्टता के कारण हो सकता है। उदाहरण के लिये वर्षाधीन कृषि के अन्तर्गत मूंगफली या कपास या सोरघम (Sorghum) वर्षा की सीमितता के कारण वर्ष प्रति वर्ष उगाये जाते हैं। नहर सिंचित क्षेत्रों में जल अवशोधन दशा के अन्तर्गत, धान की फसल उगाई जाती है क्योंकि अन्य फसल लगाना संभव नहीं होता।

ii) **बहुल फसल** – भूमि के एक टूकड़े पर एक कलैण्डर वर्ष में दो या दो से अधिक फसलों का उगाना बहुल फसल कहलाता है। यह समय और स्थान के आयामों में फसलों की गहनता है – अर्थात एक वर्ष के भीतर अधिक संख्या में फसलें और एक स्थान के टुकड़े पर अधिक संख्या में फसलें। इसमें अन्तर फसल, मिश्रित फसल और अनुक्रमित फसल आते हैं।

iii) **अन्तर फसल पैदावार** – एक या अधिक फसलों का समसामयिक रूप से निश्चित पंक्ति पद्धति में एक ही धरती के टुकड़े पर उगाना अन्तर फसल कहलाता है। उदाहरणार्थ, सैतारिया और लाल दाल का 5:1 अनुपात में उगाना। अतः स्थान आयाम में फसल गहनता प्राप्त हो जाती है। वर्तमान समय में अन्तर फसल का मुख्य उद्देश्य प्रति इकाई क्षेत्र उच्चतर उत्पादकता के अतिरिक्त उत्पादन में स्थिरता है। अन्तर फसल प्रणाली संसाधनों का कुशलता से प्रयोग करके उनकी उत्पादकता को बढ़ाती है।

सफल अन्तर फसल के लिये मुख्य आवश्यकताएं हैं:

1) अवयव फसलों के शीर्ष पोषण समय परस्पर व्याप्त न हों।

2) अवयव फसलों में सूर्य किरण के लिये कम से कम प्रतिस्पर्द्धा होनी चाहिये।

3) अवयव फसलों में पूरकता विद्यमान हो।

4) अवयव फसलों के परिपक्वन में 30 दिनों का अन्तर होना चाहिये।

iv) **मिश्रित पैदावार** – मिश्रित फसल से तात्पर्य है समसामयिक रूप से दो या अधिक फसलों को बिना किसी पद्धति के परस्पर मिश्रित करके उगाना। भारत के शुष्क भूमि प्रदेशों में यह एक सामान्य रूप से प्रचलित है। एक निश्चित अनुपात में विभिन्न फसलों के बीच मिलायें और बोये जाते है। इसका उद्देश्य अन्न, दाल और सब्जियां की पारिवारिक आवश्यकताओं को पूरा करना है।

v) **क्रमवार पैदावार**– क्रमबद्ध फसल लगाने का अर्थ है एक वर्ष में एक क्रम में दो या अधिक फसलों का उगाना। एक वर्ष में उगने वाली फसलों के आधार पर इसे दुगना, तिगुना या चौगुना फसल लगाना कहते हैं जिसमें क्रमशः दो, तीन या चार फसलें सम्मिलित होती हैं।

इन प्रणालियों के अतिरिक्त चौकी फसल एवं पेड़ी (ratoon) फसल भी प्रचलित है। चौकि फसल में कटाई से पूर्व ही अगली फसल लगाई जाती है। पेड़ी फसल का अर्थ है फसल की कटाई के बाद जड़ों या डंठलों से पुर्न उत्त्पत्ति होना।

vi) **समाकलित कृषि (integrated farming) प्रणाली** – समाकलित कृषि प्रणाली के अन्तर्गत फसल के साथ-साथ बहुत से उद्यमों जैसे डेरी, सुअर पालन, मुर्गीपालन, मछलीपालन और मक्खीपालन इत्यादि का एक सुसंगत मार्ग में जोड़ना भी एक सम्पूर्ण विधि है। इससे ये एक दूसरे के पूरक बनकर संसाधनों के प्रयोग के श्रेष्ठीकरण और लाभ को अधिकतम करने के उद्देश्य को प्राप्त करते हैं। इससे विद्यमान संसाधनों के निवार्हणीय प्रयोग के लिये मिट्टी और वातावरण को कम से कम क्षति पहुंचता है।

9.6.2 फसल प्रणालियां भिन्न क्यों

जलवायु से सम्बन्धित तत्व और कृषकों के साधन दोनों फसल लगाने की पद्धति का निर्धारण करते हैं। यद्यपि फसलों के चयन में जलवायु सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। तथापि फसल के क्षेत्र किसान की आर्थिक परिस्थितियों जैसे सिंचाई जल, आगतों की लागत और उत्पादों के मूल्य से प्रभावित होता है। किसी स्थान पर, प्रचलित फसल प्रणाली मनुष्यों, समुदायों या सरकार या उनके अभिकरणों द्वारा भूतकाल या वर्तमान में लिये गये फैसलों के संचित परिणाम है। उच्चतर फसल गहनता के लिये मूल आवश्यकता जल की उपलब्धता है वह चाहे व ष्टिपात से हो या सिंचाई के द्वारा हो। यह निरंतर महसूस किया जा रहा है कि जल और भूमि सीमारहित नहीं है और इनका बुद्धिमत्तापूर्वक प्रयोग आवश्यक है। ऐसा विशेषकर भारत जैसे देशों के लिये है जहां जनसंख्या का दवाब निरंतर बढ़ रहा है।

भारत जैसे उष्णकटिबंधी देश भाग्यशाली हैं कि वर्ष भर फसल उगाने के लिये तापमान दशायें अनुकूल रहती है। फिर भी यह बहुत कुछ प्राकृतिक व ष्टिपात अथवा सिंचाई सुविधाओं द्वारा जल आपूर्ति पर निर्भर करता है। भारत के बहुत से भागों में लम्बे समय से बहुल फसल लगाने का प्रचलन है। इसी प्रकार सम्मिश्रित फसल भारत में एक प्राचीन कला है। मिश्रित फसल प्रणालियां मौसमी दशाओं या रोगों और कीड़ों के आक्रमण के कारण होने वाली फसलों की क्षति के बीमे के रूप में अपनाई गयी। हाल के वर्षों में यह सिद्ध हो गया है कि इसके अन्य कई लाभ और भी हैं।

भूमि संसाधनों के न्यूनता की समस्या का उत्तर समाकलित कृषि प्रणाली में दिखाई देता है। इससे सीमित साधनों वाले लघु स्तरीय किसानों के पोषण का मानदण्ड सुधरेगा और उनकी आय के स्तर में व द्धि होगी।

बहुत फसल प्रणाली के विषय में हालांकि शोधकर्त्ताओं की सलाह है कि कृषकों के साधनों पर मुख्य जोर दिया जाये ताकि तकनीकी तौर पर मिश्रित फसल लगाने को अपनाया जा सके। धीरे-धीरे बहुल फसल से संबंधित नयी धारणायें आने लगी है और अब लाभप्रद वैज्ञानिक जानकारी एकत्र हुई है। यह जानकारी विभिन्न फसलों के सम्मिलन और फसलों के क्रमबद्ध व द्धि पर हुये विश्लेषण कार्यों पर आधारित है। इस विषय में व ष्टिपात के नमूनों के आधार पर देश के कृषि प्रदेशों को विस्त त रूप से तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है।

1) वह प्रदेश जहां वार्षिक व ष्टिपात 1150 मी०मी० से ऊपर हो।

2) वह प्रदेश जहां वाषिर्क व ष्टिपात 750 से 1150 मी०मी० तक हो।

3) वह प्रदेश जहां वार्षिक व ष्टिपात 750 मी०मी० से कम हो।

असम, केरल, उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल के अधिकतम क्षेत्र पहली श्रेणी में आते हैं। इन प्रदेशों की मुख्य समस्याएं सीमित सिंचाई और खराब निकासी से संबंधित हैं। अधिकतम कृषक चावल की खेती में लगे हैं। तमिलनाडू, उत्तर प्रदेश और आंध्र प्रदेश के बड़े भाग द्वितीय श्रेणी में आते हैं और देश के कुल कृषि जोत क्षेत्र के एक तिहाई भाग को घेरे है। इन क्षेत्रों में छोटी सिंचाई सुविधाओं पैदा करने के लिये बड़ी क्षमता है। त तीय श्रेणी भी कृषि जोत क्षेत्र के लगभग एक तिहाई भाग में फैली है जिसमें आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र और राजस्थान के भाग आते हैं। इन क्षेत्रों में जब तक बड़ी और मध्यम सिंचाई सुविधायें प्रदान नहीं की जाती तब तक एक ठोस सीमा तक फसल लगाने की तीव्रता में व द्धि के लिये आशा कम है।

फसल लगाने की पद्धति निम्नलिखित को प्रभावित करते हैं:

- पारम्परिक सामाजिक प्रचलनों और खान-पान की आदतों से
- कीटों और रोग नियंत्रण की व्यवहारणीय विधि और पारिस्थितिकीय वातावरण के उपयुक्त फसल लगाने से
- वे फसलें जो सर्वाधिक लाभप्रद या उच्च्य फल देने वाली है।
- उन फसलों का सम्मिलन जो लाभ को अधिकतम और लागत को न्यूनतम करे।

9.7 वर्तमान फसल पद्धतियां

भारत के वर्तमान फसल पद्धति के तीन मुख्य लक्षण हैं : (1) खाद्यान्न फसलों का प्रभुत्व (2) व्यवसायिक फसलों की ओर तनिक झुकाव, एवं (3) कुछ व्यक्तिगत फसलों में उल्लेखनीय व द्धि।

मुख्य फसलों को ध्यान में रखते हुये हम भारत की फसल पद्धति की एक विस्त त तस्वीर प्रस्तुत कर सकते हैं। मुख्य पद्धतियों के दो विशिष्ट समूह हैं खरीफ (मानसून फसले) और रबी (मानसून उपरान्त फसलें। खरीफ फसल में चावल, सोरधम, बाजरा, ज्वार, रागी मूंगफली और कपास इत्यादि आते हैं। किसी प्रदेश की वह फसल जो बीजित क्षेत्र का सर्वाधिक प्रतिशत घेरे, मूल फसल कहलाती है। अन्य संभावित वैकल्पिक फसलें जो प्रदेश में या तो उस मौसम में मूल फसल के विकल्प के रूप में या बाद के मौसम में अनुक्रम में सटीक बैठें, पद्धति कहलाती है।

तालिका 9.2 : 1995 में भारत में फसल लगाने की पद्धति

फसलें	क्षेत्र ‚000 हैक्टर	सकल फसल क्षेत्र में % अंश
चावलो	42965	22.84
गेहूो	25853	13.74
ज्वारो	11722	6.23
बाजरो	10320	5.49
मक्को	6141	3.26
रागीो	1902	1.01
जौो	894	0.48
अन्य अन्न और बाज़ार ो	1820	0.97
मोटे अन्नो	32799	17.43
कुल अन्नो	101617	54.01
कुल दालेंो	24281	12.91
गन्नाो	4144	2.20
मसाले ो	2645	1.41
कुल फल ो	3040	1.62
आलूो	1070	0.57
प्याजो	392	0.21
कुल सब्जियाो	4506	2.39
मूंगफलीो	7969	4.24
तोरई के बीज और सरसों ो	5769	3.07
तिलो	2212	1.08
अलसीो	894	0.48
अन्य तेल बीजो	10326	5.49
कुल तेल बीजो	27070	14.44
कपासो	7967	4.23
जूटो	760	0.40
मेस्टा (डमेजं) ो	190	0.10
कुल तन्तुो	9014	4.79
तम्बाकूो	408	0.22
अन्य फसलेंो	11322	6.02
कुल फसल क्षेत्रो	188147	100

स्रोत : कृषि सांख्यों पर एक द ष्टि

9.7.1 खरीफ मौसम की फसल प्रणालियां

खरीफ मौसम के फसल लगाने की पद्धति में मुख्यतः चावल या गैर चावल आधारित फसलें आती हैं।

1) **चावल आधारित फसल पद्धति** – इस श्रेणी में चावल सर्वोतम फसल है और भारत में 9% क्षेत्र चावल आधारित फसल पद्धति में आता है। कुल चावल क्षेत्र का लगभग 45% को दक्षिण पश्चिमी मानसून के दो महीनों (जुलाई–अगस्त) में 30 सै०मी० प्रति माह का वर्षण मिलता है और अन्य महीनों में काफी कम। इन भागों के विपरीत पूर्वी और दक्षिणी प्रदेश जिनमें असम, पश्चिमी बंगाल, तटीयवर्ती उड़ीसा, तटवर्ती आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडू और केरल को 10-20 सै०मी० प्रतिमाह मिलता है। इसी फसल पद्धति के अन्तर्गत आते हैं। सकल भारत आधार पर विभिन्न राज्यों में लगभग 30 चावल आधारित फसल पद्धति चिन्हित किये गये हैं।

2) **चावल के अतिरिक्त खरीफ अन्न आधारित फसल पद्धति** – खरीफ की मुख्य फसलों में ज्वार, बाजरा, मक्का मुख्य अन्न हैं। मक्का ऊंची व ष्टिपात वाले क्षेत्रों में उगाया जाता है, ज्वार मध्यम व ष्टिपात वाले क्षेत्रों में और बाजरा कम व ष्टिपात वाले क्षेत्र में उगाया जाता है। दक्षिणी पश्चिम मानसून के मौसम में इन फसलों के अन्तर्गत क्षेत्र का विस्तार इस प्रकार हैः

   मक्का (56 लाख हैक्टर), ज्वार (110 लाख हैक्टर), और बाजरा (124 लाख हैक्टर)।

   रागी एक खरीफ फसल (24 लाख हैक्टर) है और मुख्यतः कर्नाटक, तमिलनाडू और आंध्र प्रदेश में केन्द्रित है। इन राज्यों में इस फसल के अन्तर्गत कुल क्षेत्र का 60 प्रतिशत से भी अधिक आता है।

3) **मक्का आधारित फसल पद्धति** – खरीफ मक्का के अन्तर्गत सबसे बड़े क्षेत्र हैं : उत्तर प्रदेश (140 लाख हैक्टर), मध्य प्रदेश (5.8 लाख हैक्टर) और पंजाब (5.2 लाख हैक्टर)। चार राज्यों नामतः गुजरात, जम्मू और काश्मीर, हिमाचल प्रदेश और आंध्र प्रदेश में मक्का के अन्तर्गत का क्षेत्र 2.4 से 2.8 लाख हैक्टर प्रत्येक राज्य में है जबकि दूसरे राज्यों में इसके अन्तर्गत काफी कम है। सम्पूर्ण भारत में लगभग 12 किस्म के मक्का आधारित फसल पद्धति पहचानी गई है।

4) **खरीफ की ज्वार आधारित फसल पद्धति** – भारत में खरीफ ज्वार के अन्तर्गत क्षेत्र में सबसे ऊंचा स्थान महाराष्ट्र का है (25 लाख हैक्टर)। उसके बहुत निकट दूसरा मध्य प्रदेश का है (23 लाख हैक्टर)। राजस्थान, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और गुजरात राज्यों में से प्रत्येक का 1 और 14 लाख हैक्टर के बीच क्षेत्र इस फसल के अन्तर्गत आता है। ज्वार मुख्यतः उन क्षेत्रों में उगाया जाता है जहां व ष्टिपात 10 से 20 से०मी० प्रति माह के बीच होता है, कम से कम दक्षिण पूर्वी मानसून के 4 महीनों में। सम्पूर्ण भारत में 17 मुख्य फसल पद्धतियां इस श्रेणी में चिन्हित की गई है।

5) **बाजरा आधारित फसल पद्धति** – बाजरा फसल के अन्तर्गत लगभग 124 लाख हैक्टर का क्षेत्र आता है। कुल क्षेत्र में दो तिहाई भाग राजस्थान में है। महाराष्ट्र, गुजरात और उत्तर प्रदेश को मिलाकर 46 लाख हैक्टर क्षेत्र ऐसे हैं जो बाजरा फसल के शेष बचे एक तिहाई भाग का निर्माण करता है। सकल भारत के आधार पर बाजरे की फसल की 20 मुख्य फसल पद्धतियां पहचानी गई है।

6) **मूंगफली आधारित फसल पद्धति** – मूंगफली लगभग 72 लाख हैक्टर क्षेत्र में बोई जाती है। मुख्यतः पांच मूंगफली उत्पादन करने वाले राज्यों में आते हैंः गुजरात (24.4 प्रतिशत), आंध्र प्रदेश (20.2 प्रतिशत), तमिलनाडू (35.5 प्रतिशत), महाराष्ट्र (12.2 प्रतिशत) और कर्नाटक (12 प्रतिशत)। पांच अन्य राज्य जैसे मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान और उड़ीसा को मिलाकर मूंगफली एक मूल फसल के रूप में कुल क्षेत्र का लगभग 17.3% होता है। सम्पूर्ण भारत स्तर पर लगभग नौ मुख्य मूंगफली आधारित फसल पद्धतियां पहचानी गई है।

7) **कपास आधारित फसल पद्धति** – भारत में कपास लगभग 76 लाख हैक्टर में उगाया जाता है। इसमें महाराष्ट्र का अंश 36% (28 लाख हैक्टर) है। उसके बाद गुजरात 21% (16 लाख हैक्टर), कर्नाटक 13% (10 लाख हैक्टर) और मध्य प्रदेश 9% (6 लाख हैक्टर) है। सम्मिलित रूप में कपास के अन्तर्गत 80% क्षेत्र इन चार राज्यों में आता है। अन्य कपास उगाने वाले राज्य हैं पंजाब, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडू, हरियाणा और राजस्थान। सकल भारत में 16 विस्त त रूप से कपास आधारित फसल पद्धतियां पहचानी गई हैं।

9.7.2 रबी मौसम की फसल पद्धतियां

भारत में प्रचलित रबी मौसम के मुख्य फसल पद्धतियां हैः

1) गेहूं और चना आधारित फसल पद्धति

2) ज्वार आधारित फसल पद्धति

क) **गेहूं और चना आधारित फसल पद्धतियां** – ये दोनों फसलें समान जलवायु में उगाई जाती है और प्रायः एक दूसरे का विकल्प बनती है। सम्पूर्ण भारत स्तर पर लगभग 19 फसल पद्धतियां गेहूं की और 7 चने की फसल पद्धति सामने आई है। सम्मिलित रूप में 70 प्रतिशत बीजित क्षेत्र और 76% गेहूं उत्पादन पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में होता है। उसके बाद पश्चिमी भारत में राजस्थान और गुजरात और पूर्वी भारत में बिहार और पश्चिमी बंगाल का स्थान है।

ख) **रबी बाजार आधारित फसल पद्धति** – सम्पूर्ण भारत स्तर पर रबी ज्वार वाली 13 फसल पद्धति पहचानी गई है। इन फसल पद्धतियों में महाराष्ट्र में सर्वाधिक संख्या में है। रबी ज्वार से प्रारम्भ करके, बाजरा, दालें, तेलबीज और तम्बाकू वैकल्पिक फसलों की भांति बोये जाते है।

बोध प्रश्न 2

1) निम्नलितिख में भेद करें।

   i) दोहरी फसल और मिश्रित फसल

   ii) दोहरी फसल और अनुक्रम फसल

   iii) एकल फसल और बहुल फसल

2) उत्तर भारत की मुख्य फसल पद्धतियों की व्याख्या करें।

....

....

....

....

3) खरीफ मौसम में कौन सी महत्वपूर्ण फसल पद्धतियां है ?

....

....

....

....

....

4) चावल आधारित और गैर चावल आधारित फसल पद्धतियों में उपयुक्त उदाहरण के साथ भेद करें।

....

....

....

....

....

9.8 फसल पद्धतियों में परिवर्तन

पिछले 50 वर्षों में भारत में भूमि उपयोग पद्धति और फसल उगाने की पद्धति में थोड़ा परिवर्तन आया है तथा जुताई के उद्देश्य के लिये भूमि का बढ़ता प्रयोग परिलक्षित होता है। तीव्र शहरीकरण से भूमि प्रयोग और फसल पद्धतियां अत्यधिक प्रभावित हुई हैं। कई एकड़ जुताई के लिये अनुपयुक्त भूमि को कृषि कार्य के अन्तर्गत सम्मिलित करके जुताई उपयुक्त भूमि में व द्धि प्राप्त की गई है।

9.8.1 फसल पद्धति को प्रभावित करने वाले कारक

फसल लगाने की पद्धति किसानों के निजी, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक कारकों से प्रभावित होती है। इसके अतिरिक्त प्रदेश के जलवायिक तत्वों का भी इस पर प्रभाव पड़ता है।

मुख्य कारक इस प्रकार हैंः

i) **भूमि धारण का आकार**

भारत में सीमांत और छोटे किसान, कृषक समुदाय के सबसे बड़े क्षेत्रक का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः एक फसल धान का प्रभुत्व है क्योंकि यह घरेलू आवश्यकताओं को पूर्ण करती है तथा निर्वहण कृषि को कायम रखती है।

ii) **निरक्षरता**

निरक्षरता की बजह से ज्यादातर किसान बेहतर फसल लगाने की पद्धति के लिये आवश्यक मिश्रित फसल एवं एकल फसल की वैज्ञानिक विधियों और अन्य तकनीकी जानकारियों से अनभिज्ञ है।

iii) **रोग और नाशक जीव**

फसल पद्धति रोगों और कीट संक्रमण की संभावनाओं पर भी निर्भर करता है।

iv) **पारिस्थितिकीय उपयुक्तता**

किसी विशेष प्रदेश की फसल पद्धति पारिस्थिति की दशाओं (तापमान, व ष्टिपात, आर्द्रता) पर बहुत निर्भर करती है।

v) **नमी की उपलब्धता**

सिंचाई के स्रोत बहुत कुछ फसल पद्धति के प्रकार को निर्धारित करते हैं। उदाहरण के लिये, कम व ष्टिपात क्षेत्र में वर्षाधीन कृषि अधिकतक लाभ करने का सर्वोत्तम मार्ग है।

vi) **वित्तीय स्थिरता**

कृषकों की आर्थिक दशा भी फसल लगाने की पद्धति को प्रभावित करती है। जैसे नकदी फसल (उदाहरण के लिये कपास) में ऊंची पूंजी निवेश सम्मिलित होता है; ये केवल परिसम्पत्ति कृषि में लगाई जाती है। कृषक समुदाय का सीमांत वर्ग कम लागत वाली फसलें अपनाता है।

9.8.2 फसल पद्धति में उभरती समस्याएं

बदलते समय के साथ फसल लगाने की पद्धति में उभरता परिद श्य निम्नलिखित प्रेक्षण की ओर इंगित करता है:

1) खाद्यान्नों में अनाज की फसलों का प्रभुत्व लोगों की निर्धनता की ओर संकेत करता है। यह निम्न आय वर्ग की मांग को पूरा करती है जिनकी आय का बड़ा भाग अनाज पर व्यय होता है। यहां तक कि दाल, जो इस श्रेणी के लोगों के लिये प्रोटीन का साधन हैं, वे भी एक विशिष्ट स्तर पर नहीं उगाई जाती है। ज्यादातर कृषक सीमान्त और छोटे किसान होने के कारण खाद्यान्नों के शुद्ध क्रेता हैं और नकदी फसल को लगाने के लिये ऊंची लागत को वहन नहीं कर सकते।

2) खाद्यान्नों का प्रभुत्व इस सत्य के साथ कि कृषि उत्पादन का एक विशिष्ट अनुपात छोटे फार्मों में केन्द्रित है, एकत्र होकर एक निष्कर्ष की ओर जाता है कि अधिकतर कृषि निजी उपभोग के लिये की जाती है।

3) अधिकतर बीजित क्षेत्रों में खाद्यान्नों का उत्पादन दर्शाता है कि तकनीकी संभावनाओं की बराबरी पर भूमि की उत्पादकता नहीं बढ़ी है।

4) फसल पद्धति में विशिष्ट परिवर्तनों के उपरांत भी उच्च मूल्य व्यवसायिक फसलों की ओर झुकाव बहुत कम हुआ है। जिसका परिणाम स्वरूप फसल उत्पादन पर नगण्य प्रभाव है।

9.9 वर्तमान प्रव त्ति के दीर्घकालिन प्रभाव

वर्तमान में भारत की फसल पद्धति में अनाज की और झुकाव है और संतुलित खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने में असफल है। कुछ व्यवसायिकरण और तकनीकी उन्नति के उपरांत भी फसल पद्धति में बहुमार्गी कृषि की तस्वीर नहीं दिखती। वर्तमान फसल पद्धति के अन्य सहयोगी पक्ष हैं रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों का बढ़ा हुआ प्रयोग, जल की मांग में व द्धि और वन क्षेत्रों का अवक्षय जिनके विषय में नीचे चर्चा की गई है।

9.9.1 उर्वरकों और कीटनाशकों के प्रयोग में व द्धि

खाद्यान्नों के उच्चतर उत्पादन अधिक रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के प्रयोग का परिणाम है। ऊर्वरकों का प्रयोग 1951-52 के 65.6 हजार टनों से 1997-98 में बढ़कर 17318 हजार टन हो गया। उच्चतर रासायनिक उर्वरक और कीटनाशक प्रयोग से खाद्यान्न में आविषालुता आई है।

वे क्षेत्र, जहां कीटनाशकों का प्रयोग तेजी से बढ़ रहा है, कीड़ों और नाशक जीव में इनके प्रति विरोध दिखाई पड़ रहा है। जिससे जीवन प्रणाली में विघन आया है। इसके अतिरिक्त शंकर जातीय और ऊंची उपज देने वाली प्रकारों का स्थानीय किस्मों के स्थान पर बढ़ते हुये प्रयोग ने स्थानीय किस्मों को लगभग लुप्त कर दिया है।

9.9.2 जल की मांग में व द्धि

पिछले पचास वर्षों में, शुद्ध बीजित क्षेत्र 1180 लाख हैक्टर से बढ़कर 1420 लाख हैक्टर हो गया है। शुद्ध बीजित क्षेत्र और फसल लगाने की तीव्रता में व द्धि ने सिंचाई के लिये जल संसाधनों की मांग में व द्धि की है। प्रतियोगी क्षेत्रक आवश्यक जल से वंचित हो रहे है क्यूंकि कृषि कुल जल उपयोग का 70 प्रतिशत के लगभग उपभोग कर लेती है। गहन फसल पद्धति में सदैव अधिक से अधिक सिंचाई आपूर्ति की आवश्यकता होती है। जिससे सिंचाई के साधनों के विकास के लिये दवाब बढ़ता है।

जल की अधिकतर आवश्यकता से भू जलों के स्तर का ह्रास होता है। सिंचाई की बढ़ती मांग के लिये बड़ी, मध्यम और छोटी सिंचाई परियोजनाओं की आवश्यकता होती है जो बहुत मंहगे पड़ते हैं। सिंचाई परियोजनाओं के निर्माण को कई बार अफसरशाही की बाधाओं और स्थानीय नागरिकों के विरोध का सामना करना पड़ता है क्योंकि सिंचाई परियोजनाओं से विविध सामाजिक और पर्यावरण की समस्याएं उत्पन्न होती है।

9.9.3 वन क्षेत्रों का अवक्षय

वर्तमान फसल पद्धति अधिक से अधिक भूमि को कृषि के अन्तर्गत लाने पर जोर देती है जिससे वन भूमि अवक्षय होता है। 1950-81 के तीस वर्षों की अवधि में वन उन्मूलन के माध्यम से कृषि भूमि में व द्धि हुई है। इस दौरान पुराने फलों के बागों या निजी और ग्रामीण वनों के उन्मूलन के माध्यम से बीजित क्षेत्र में अतिरिक्त 240 लाख हैक्टर की व द्धि हुई है। भू प्रयोग पद्धति अधिकतर खाद्य उत्पादन की ओर अग्रसर हुई है जिससे वानिकी उपेक्षित हो गई है।

बोध प्रश्न 3

1) फसल लगाने की पद्धति को प्रभावित करने वाले कारकों को पहचाने और उनकी व्याख्या करें?

....

....

....

....

....

2) फसल पद्धति में परिवर्तनों से कौन सी समस्याएं आती हैं ?

....

....

....

....

....

9.10 सारांश

भारत में अधिक भूमि को कृषि में लाने की गुंजाइश बहुत कम है। अतः विद्यमान भूमि का ही उपयुक्त प्रयोग करना होगा ताकि इसकी उत्पादकता बढ़े और तदुपरांत कृषि उत्पादन उच्चतर हो। भारत में कुल क्षेत्र का लगभग आधा कृषि को समर्पित है। पिछले पचास वर्षों में भू प्रयोग की पद्धति में कुछ परिवर्तन आये हैं। शुद्ध बीजित क्षेत्र में एक ओर जहां व द्धि हुई है वहीं बिना जुती और बंजर भूमि का अनुपात घटा है। मुख्य फसल जैसे चावल और गेहूं का जुताई के कुल क्षेत्र में न केवल ठोस भाग है अपितू यह अंश बढ़ रहा है। खान-पान की आदतों, जल मांग और जीव वैविध्यता में कमी के लिये इसके कई निहितार्थ हैं।

9.11 शब्दावली

शुद्ध बीजित क्षेत्र : किसी किसान की वह कुल कार्यशील भूमि जिस पर एक कृषि वर्ष में केवल एक गिनती की फसल उगाई जाती है।

सकल फसल क्षेत्र : सकल फसल क्षेत्र वह है जिसमें उपलब्ध भूमि पर एक वर्ष में भिन्न मौसमों में भिन्न फसलें बोई जाती हैं।

फसल सघनता : फसल सघनता कृषकों की वास्तविक भूमि के उपयोग का आकलन करती है। इसमें प्रत्येक फसल या फसलों के समूहों के लिये क्षेत्र और समय के संबंधों का आकलन कुल उपलब्ध भूमि क्षेत्र और समय की तुलना में किया जाता है। यह सकल फसल क्षेत्र के शुद्ध बीजित क्षेत्र से अनुपात (प्रतिशत में) में दिया जाता है। सरल शब्दों में फसल सघनता एक वर्ष में एक खेत में फसलों की संख्या की ओर संकेत करती है।

9.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Governmnet of India, 1999, *Agricultural Statistics at a Glance.*

Planning Commission, 2003, *Tenth Five Year Plan*, Government of India.

Mal, P., 2001, *Infrastructure Development for Agriculture and Rural Development*, Mohit Publications, New Delhi.

Singhal, V., 1996, *Indian Agriculture*, Indian Economic Data Research Centre.

9.13 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

बोध प्रश्न 1

1) फसल लगाने की तीव्रता सकल फसल क्षेत्र के शुद्ध बीजित क्षेत्र से अनुपात द्वारा दी जाती है। एक भू भाग के कई बार जोते जाने से इसमें व द्धि होती है। अतः बहुल फसल और मिश्रित फसल से फसल की तीव्रता बढ़ती है।

2) भाग 9.4 देखें

3) उप-भाग 9.2.2 देखें और उत्तर दें।

बोध प्रश्न 2

1) उप-भाग 9.6.1 देखें

2) भाग 9.7 देखें

3) उप-भाग 9.7.1 देखें

4) उप-भाग 9.7.1 देखें

बोध प्रश्न 3

1) उप-भाग 9.8.1 में दिए गए बिन्दुओं का संक्षेपण करें।

2) उप-भाग 9.8.2 देखें और उत्तर दें।

इकाई 11 वर्षाधीन क षि और क षि जलवायिक मंडलन

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 वर्षाधीन क षि की अवधारणा

11.2.1 भारत में वर्षा की प्रक ति

11.2.2 वर्षाधीन क षि की आवश्यकता

11.3 वर्षाधीन क षि : नीतियाँ और सुविधाएं

11.3.1 वर्षा-जल प्रबंधन

11.3.2 फसल उत्पादन प्रोद्योगिकि

11.4 क षि जलवायिक मंडलन की आवश्यकता

11.5 भारत में क षि-जलवायिक अंचल

11.5.1 क षि अनुसंधान परिषद् क त कृषि जलवायिक क्षेत्र

11.5.2 योजना आयोग द्वारा वर्गीक त क षि जलवायिक क्षेत्र

11.5.3 राष्ट्रीय म दा सर्वेक्षण एवं भू-प्रयुक्ति प्रायोजन ब्यूरो द्वारा निर्धारित क षि पारिस्थितिक क्षेत्र

11.6 क षि के लिये जैव तकनीकि

11.7 सारांश

11.8 शब्दावली

11.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

11.10 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

11.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप कर सकेंगे:

- वर्षाधीन क षि के महत्व और लक्षणों की व्याख्या;
- सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओ की वर्षाधीन क षि से संबंधित नीतियों, प्रेरणास्त्रोतों; कार्यक्रम और परियोजनाओं का संक्षेप विवरण;
- क षि जलवायिक अंचल के महत्व की व्याख्या;
- विभिन्न अभिकरणों द्वारा वर्गीक त भारत में विविध क षि जलवायिक अंचलों की पहचान;
- वर्षाधीन क षि के क्षेत्र में जैव प्रोद्योगिकि के उपयोग की व्याख्या।

11.1 प्रस्तावना

हमने पिछली इकाई में जाना कि भारत की सिंचाई क्षमता सीमित है और सकल क षि भूमि को सींचा नहीं जा सकता। अतः क षि क्षेत्र का एक बड़ा भाग वर्षा पर निर्भर रहता है। अतः हमें वर्षाधीन खेती पर विचार करना होगा। इस सत्य को जानते हुए कि देश के बहुत से भागों में बहुत कम वर्षा होती है, हमें इन प्रदेशों के लिये अनुकूल तकनीकों को विकसित करना होगा।

वर्षाधीन क षि के महत्व को इस रूप में देखा जा सकता है:

- भारत में कुल क षित क्षेत्र का 74% भाग वर्षाधीन है और क षि उत्पादन में इसका बहुत

बड़ा योगदान रहता है। 1440 लाख है० क षित क्षेत्र में से केवल 370 लाख है० (26%) ही सिंचित है, शेष वर्षा पुष्ट है।

- वर्षाधीन क्षेत्र का कुल खाद्यान्न उत्पादन में 44% और दाल और तेल-बीजों में 75% का योगदान है।
- औद्योगिक रूप से महत्वपूर्ण फसलों जैसे कपास और मूंगफली की खेती तो पूरी तरह से वर्षाधीन होती है।

11.2 वर्षाधीन क षि की अवधारणा

वर्षाधीन क षि का अर्थ है फसल उत्पादन के क्रम का पूर्णतया वर्षा जल पर निर्भर होना। निम्न वर्षा वाले मरु और अर्ध मरु जलवायु में फसलों को हल्के से ले कर अति तीव्र नमी अभाव का अपने जीवन चक्र में सामना करना पड़ता है। वर्षाधीन फसल से तात्पर्य भली भांति जल निष्कासन व्यवस्था वाली म दा पर उगाई गई फसल से है जहाँ भू जल म दा की उन तहों में बहुत नीचे होता है जो फसल की जड़ों से वर्ष भर घिरी रहती है। अतः फसल की जल संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति पूरी तरह प्राक तिक वर्षा से होती है, अर्थात, म दा की उपरी सतह की नमी (जो वर्षा से प्राप्त होती है), ही फसल के लिये नमी का प्राथमिक स्रोत होती है।

11.2.1 भारत में वर्षा की प्रक ति

भारत के विभिन्न भागों में वर्षा की मात्रा में विस्त त भिन्नता है। यह पश्चिमी राजस्थान में 10 सै० मी० तक निम्न और मेघालय में 1000 सैं० मी० तक ऊँची है। भारत में औसत वार्षिक वर्षण 4000 लाख है० मी० तक होता है, जिसमें से 700 लाख है० मी० वाष्पण द्वारा नष्ट हो जाता है। शेष 3300 लाख है० मी० में से 1500 लाख है० मी० म दा द्वारा सोखा जाता है जब कि 1800 लाख है० मी० बह जाता है। हम केवल 200 लाख है० मी० का ही जल कुंडों और जल समूहों द्वारा उपयोग करने योग्य रहे हैं। अतः 1600 लाख है० मी० जल नदियों के द्वारा समुद्र में जाकर मिल जाता है।

कुल वर्षा का लगभग 80 प्रतिशत जुलाई से सितम्बर के काल (लगभग 90 दिनों) में प्राप्त होता है। व ष्टिपात की मात्रा और वर्षा काल में इसका वितरण फसलों की पैदावार और उत्पादन को निर्धारित करता है। (i) मानसून का देरी से आगमन (ii) मानसून अवधि के दौरान कई सप्ताह वर्षा नहीं होना, और (iii) मानसून का समय से पहले ही समाप्त होना आदि कारक फसलों पर विपरीत प्रभाव डालते हैं।

वर्षा पर निर्भर क्षत्रों में 'फसल उगाने वाली अवधि' का निर्धारण व ष्टिपात की मात्रा, इसका वितरण और म दा की जलरोधी क्षमता द्वारा होता है। आप यह जान कर चकित होंगे कि भारत में फसलों की उपजाऊ अवधि 30 दिन से 300 दिन तक भिन्न होती है। अतः हमें व ष्टिपात और म दा की गुणवत्ता को ध्यान में रखते हुये फसल और फसल पद्धति को चुनना होगा।

व ष्टिपात की मात्रा पर निर्भर करते हुये वर्षा पुष्ट क्षेत्रों में क षि के चार प्रकार होते हैं :

i) मरु क्षेत्र जहाँ 50 सै० मी० प्रति वर्ष से कम व ष्टि हो

ii) 50-75 सै० मी० के मध्य वार्षिक वर्षण वाले अर्ध मरु क्षेत्र

iii) अर्ध आर्द्र क्षेत्र, जहाँ वर्षण 75-150 सै० मी० के बीच रहता है

iv) आर्द्र क्षेत्र जहाँ वार्षिक व ष्टि 150 सै० मी० से ज़्यादा होती है।

मरु और अर्ध मरु क्षेत्रों मे फसल उगाने की अवधि में लम्बे शुष्क दौर होते हैं। इन क्षेत्रों में फसल की क्षति बहुत प्रायिक है। अर्ध आर्द्र क्षेत्रों में भी शुष्क दौर होते हैं किन्तु फसल के नाश की संभावना अपेक्षाक त कम होती है। आर्द्र क्षेत्रों में फसल के नाश की संभावना बहुत कम है किन्तु वर्षा जल की निकासी एक मुख्य समस्या है।

वर्षा पुष्ट क्षेत्रों मे दो महत्वपूर्ण कारक उत्पादन व द्धि में सहायक रहते हैंः (1) म दा की गुणवत्ता ओर (2) उपयुक्त किस्मों की उपलधता। वर्षा पुष्ट क्षेत्रों में फसल की पैदावार बढ़ाने के लिये दो दिशाओं में प्रयत्न किये गये हैंः (i) देश के क ष्य क्षेत्र को विभिन्न समरूप क षि-जलवायु क्षेत्रों में विभाजित किया गया है, (ii) साथ ही भिन्न क षि जलवायिक प्रदेशों के लिये उपयुक्त फसल पद्धति विकास के लिये शोध और विकास (R&D) प्रयत्न किये गये हैं। इस विषय में क षि में जैव प्रोद्योगिकि के प्रयोग ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन दो पक्षों के बारे में हम इसी इकाई में बाद में चर्चा करेंगे।

11.2.2 वर्षाधीन क षि की आवश्यकता

सूर्य की रोशनी की प्रचुरता व मध्यम म दा उर्वरण वाले विस्त त भौगोलिक क्षेत्र को उपयोग करने का वर्षाधीन क षि ही एकमात्र मार्ग है। इन क्षेत्रों की उत्पादक क्षमता का उचित प्रयोग नहीं हुआ है। इसीलिए ये क्षेत्र आर्थिक रूप से पिछड़े रहे हैं। परिणाम स्वरूप क षक समुदाय में प्रादेशिक रूप से आर्थिक और सामाजिक असमानताएं बढ़ी हैं।

वर्षाधीन खेती का दर्शन इस सिद्धान्त पर आधारित है कि जल कि उपलब्धता सीमित है और फसल उत्पादन के लिये प्राक तिक वर्षा जल की कुशलता को अधिकतम करने की आवश्यकता है। वर्षा पुष्ट क्षेत्रों में क षि के लिये वैज्ञानिक द ष्टिकोण की आवश्यकता भी इसीलिए अनुभव की गई है कि अनाव ष्टि तो न्यूनाधिक अवश्यसंभावी है। वर्षा पर निर्भर क्षेत्रों में फसल के म दा और जल की उपलब्धता से सामंजस्य पर जोर देना होगा। सिंचित खेती में ऐसा आवश्यक नहीं होता। वर्षाधीन खेती के दो आयाम हैं :

- उन फसलों की खेती और प्रबंधन जो कम वर्षा वाले वर्षों में भी लाभप्रद हों। ऐसे समय अनाव ष्टि सहन करने और कुशल जल प्रयोग मुख्य आवश्यकताएं होती है।
- उन फसलों की खेती और प्रंबधन जो अच्छे वर्षा वाले सालों मे प्रदत्त पर्यावरणीय दशाओं का उत्तम और कुशल उपयोग करने में सक्षम हों।

वर्षाधीन क्षेत्रों में जल उपलब्धता की अनिश्चित प्रक ति के कारण फसल की क्षति का जोखिम अधिक होता है। ऐसे जोखिमों को लघु कालिक उच्च पैदावार वाली किस्मों HYV और जल कुशल फसलों को अपना कर कम किया जा सकता है। नाइट्रोजन व फासफोरस युक्त उर्वरकों के मध्यम उपयोग से जल कुशलता में सुधार होता है। यह पाया गया है कि उर्वरक फसल को अनाव ष्टि के दुष्प्रभावों को सहन करने में मदद करता है। यह फसल को अनाव ष्टि के दुष्प्रभाव से शीघ्र मुक्ति पाकर पुनरूज्जीवित होने में भी सहायक होता है। आप जानते होंगे कि अपत ण फसलों की नमी और पोषक तत्वों को सोख जाते हैं। इस कारण, पहले 30 से 40 दिनों तक खेत को अपत ण से मुक्त रखना महत्वपूर्ण होता है। ये अपत ण फसल की पैदावार को 50 प्रतिशत तक क्षति पहुंचा सकते हैं।

11.3 वर्षाधीन क षि : नीतियाँ और सुविधाएं

1960 के दशक में भारत ने क षि शोध व्यवस्था का व्यापक प्रसार किया। इस काल में मुख्य विषय क षि उत्पादन को बढ़ाना था। अतः अधिक उपजाऊ ओर सिंचित क्षेत्रों के लिये उपयोगी फसलों के विकास पर जोर दिया गया। इस दशक की विकास युक्ति हरित क्रांति में प्रतिबिंबित होती है।

फिर 1970 के दशक में वर्षाधीन क्षेत्रों के विकास पर जोर दिया गया। 1970 में देश के भिन्न क षि जलवायिक प्रदेशों का प्रतिनिधित्व करने वाले 23 केन्द्रों पर वर्षाधीन क षि के लिये सम्पूर्ण भारत में संयोजित शोध परियोजनाओं को प्रारम्भ किया गया। वर्तमान में भारत के पास विश्व की शक्तिशाली शोध व्यवस्थाओं मे से एक है। यहां 49 शोध संस्थानों, 30 राष्ट्रीय शोध केन्द्रों, 29 क षि विश्वविद्यालयों और 10 परियोजना निदेशालायों का जाल फैला है और एक बड़ी संख्या में अखिल भारतीय स्तर पर संयोजित परियोजनाएं हैं जिनमें 24000 से भी अधिक क षि वैज्ञानिक और शिक्षक कार्य कर रहे हैं।

वर्षाधीन क षि के विकास के लिये किये गये प्रयत्नों ने जिन बातों पर जोर दिया है वे हैं (i) वर्षा जल और म दा प्रबंधन, (ii) फसल उत्पादन तकनीक। वर्षाधीन क्षेत्रों में उत्पादन बढ़ाने के लिये सरकार ने वर्षा जल के उपयोग के लिये बहुत से उपाय किये है। देश में जल समूहों के विकास पर बहुत सी योजनाएं और परियोजनाएं चल रही हैं।

11.3.1 वर्षा-जल प्रंबधन

योजनाकारों को बोध हो गया है कि परंपरागत हरित क्रांति क्षेत्रों से उत्पादन में और व द्धि प्राप्त करना बहुत कठिन है। दूसरी हरित क्रांति के लिये आवश्यक है कि सूखे क्षेत्रों को हरा बनाया जाये। अतः अब वर्षा पर निर्भर क्षेत्रों की ओर ध्यान स्थानांतरित हो गया है (विशेष कर पूर्वी और मरु प्रायद्वीपीय भारत में)। वर्षाधीन क्षेत्रों की क्षमता के उपयोग के लिये कार्यक्रम और परियोजनाएं प्रारम्भ की गयी हैं। उनके उद्देश्य इस प्रकार हैः

i) लगभग 2400 लाख टन वार्षिक खाद्यान्न उत्पादन की प्राप्ति के प्रयास करना और खाद्यान्न पैदावार के वार्षिक उतार चढ़ावों को कम करना;

ii) विस्त त वर्षाधीन क्षेत्रों और सिंचित क्षेत्रों के बीच प्रादेशिक अन्तरों को कम करना;

iii) व क्षों, पौधों और घास के उचित मिश्रण के द्वारा पर्यावरणीय संतुलन की पुनर्प्राप्ति; और

iv) ग्रामीण समुदाय के लिये रोजगार की उत्पत्ति और बड़े स्तर पर ग्रामीण क्षेत्रों से पहले से ही घनी आबादी वाले नगरों और कस्बों की और प्रसवन को कम करना।

ये परियोजनाएं इस प्रकार हैं :

i) वर्षाधीन क्षेत्रों के लिये राष्ट्रीय जलसंभर विकास परियोजना (NWDPRA)

वर्षाधीन क्षेत्रों के लिये राष्ट्रीय जलसंभर विकास परियोजना (NWDPRA) 1990-91 में प्रारम्भ हुई। इसके अंतर्गत 25 राज्य और दो केंद्र शासित प्रदेश आते हैं। इस परियोजना का प्रारम्भ वर्षाधीन क्षेत्रों में पारिस्थितिकी संतुलन के पुनर्भरण और निर्वाहणीय जैवमात्रा उत्पादन के उद्देश्य से हुआ। यह केन्द्रित हैः क) प्राक तिक संपदाओं के सर्वव्यवहार्य प्रोद्योगिकि के माध्यम से एकीक त एवं न्यूनतम लागत पर संरक्षण, उन्नयन और उपभोग पर; ख) जलसंभर के लाभभागियों और क षकों को योजना में प्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित करके वर्षाधीन क्षेत्रों में निर्धनता से त्रस्त ग्रामीण समुदाय के लिये रोजगार के अवसर पैदा करना और स्वंय सेवी समूहों का विकास कर जलसंभर के परियोजना कार्यो को पूर्ण करना।

इस परियोजना के अंतर्गत 28 लाख हैक्टर क्षेत्र का 1100 करोड़ रु० की लागत से उपचार करने का लक्ष्य रखा गया था।

ii) विश्व बैंक द्वारा सहायता प्राप्त जलसंभर विकास परियोंजनाएं

एकीक त जलसंभर विकास परियोजनाएं 1991-92 से चल रही हैं। इस परियोजना का मुख्य उद्देश्य था परिष्क त उत्पादन विधियों और म दा एवं आर्द्रता संरक्षण तकनीकों के उचित प्रयोग के द्वारा प्राक तिक वातावरण की अधोगति को धीमा करना और सुधारना।

iii) **क षि विकास परियोजना (ADP)**

विश्व बैंक की सहायता से क षि विकास कार्यक्रम (ADP) को विभिन्न राज्यों में परिचालित किया गया है जिससे क षि विकास ओर वर्षाधीन क षि की निवार्हणीयता को बढ़ाया जा सके।

iv) **DANIDA के अनुदान आश्रित वर्षाधीन क षि परियोजनाएं**

1990-91 मे कर्नाटक राज्य में डेनमार्क सरकार के सहयोग से एकीक त जलसंभर विकास परियोजना प्रारम्भ की गई। यहाँ से यह विभिन्न राज्यों में फैली। इस परियोजना के दूसरे चरण का प्रांरभ 1995 में हो चुका है।

v) **यूरोपीय आर्थिक समुदाय द्वारा सहायता प्राप्त परियोजना**

यूरोपीय आर्थिक समुदाय द्वारा सहायता प्राप्त एकीक त जलसंभर प्रंबधन परियोजना 1989 से संचालन में है।

vi) **स्विस विकास कारपोरेशन द्वारा सहायता प्राप्त परियोजना**

इस परियोजना में कर्नाटक में चल रहे सहभागी एकीक त जलसंभर विकास परियोजना (PIDOW) के द्वारा कर्नाटक के 5 जिलों मे 5 जलसंभरों के विकास का उद्देश्य है। अन्य राज्यों में इसके विस्तार किया जा रहा है।

11.3.2 फसल उत्पादन प्रोद्योगिकि

फसल उत्पादन तकनीकों के विकास की दिशा में किये गये प्रयत्न उच्च पैदावार और उचित किस्मों के बीजों और उपकरणों के विकास पर केन्द्रित हैं। वर्षाधीन प्रदेशों के कम वर्षा को ध्यान में रखते हुए विभिन्न प्रकार की लघु कालिक फसलों में ज़वार, मक्कई, कपास, दाल इत्यादि का विकास हो रहा है। यद्यपि इन फसलों में चारा कम पैदा होता है फिर भी, क षक इन्हें सरलता से अपनाते हैं, क्योंकि इनकी पैदावार अच्छी है। उर्वरकों का प्रयोग संभव है और फसल प्रबंधन के अच्छे परिणाम मिलते हैं।

दांतों वाला लांगल विकसित किया गया है। यह उपयोग में सरल और पशु शक्ति के लिये उपयोगी है। छोटे व सीमांत क षकों के लिये यह बहुत मंहगा नहीं है और इससे बीजण गति भी बढ़ती है। इसके लिये एक तिहाई श्रम की आवश्यकता होती है और यह पारंपरिक बीजण की अपेक्षा दस गुने क्षेत्र का कार्य करता है। यह 400 रु० तक की लागत पर स्थानीय तौर पर उपलब्ध सामान द्वारा बनाया जा सकता है।

फसल की विविधताओं में व द्धि के अतिरिक्त उचित फसल पद्धति पर भी शोध हो रहे हैं। संसाधनों के श्रेष्ठतम प्रयोग पर हुये शोधों ने कई वैकल्पिक भूमि प्रयोगों का विकास किया है, जो फसलों में जोखिम को बांट कर स्थायित्व लाते हैं। इसमें चारागाही पर आधारित फसलें क षि के साथ अनुकूलन में सम्मिलित होती हैं। क षि वानिकी, बागवानी आदि वैकल्पिक भूमि उपयोग व्यवस्था के सटीक उदाहरण हैं। बहुमूल्यी फसलें, जो भोजन पैदा करती है, ईंधन और चारे की निर्बाध आपूर्ति सुनिश्चित करती हैं और पर्यावरण की मित्र है, उन्हें चिन्हित किया गया है। उत्पादकता में स्थायित्व के अतिरिक्त, वैकल्पिक भूमि उपयोग व्यवस्थाएं अनाव ष्टि के प्रभाव को भी कम करती हैं।

बोध प्रश्न 1

1) वर्षाधीन क षि की क्या आवश्यकता है?

....

....

....

....

....

2) वर्षाधीन क्षेत्रों के विभिन्न प्रकार क्या हैं?

....

....

....

....

....

3) वर्षाधीन क्षेत्रों के विकास के लिये कौन सी महत्वपूर्ण परियोजनाएं हैं?

....

....

....

....

....

11.4 क षि जलवायिक मंडलन की आवश्यकता

क षि जलवायिक मंडलन से तात्पर्य समान जलवायु दशाओं वाले भू-क्षेत्र से है। वर्षा की सीमा, म दा की गुणवत्ता, आर्द्रता स्तर इत्यादि एक विशेष प्रकार की फसलों के लिये उसे उपयोगी बनाते हैं।

जलवायु वर्गीकरण का उद्देश्य हैः (i) जलवायु का विधिपूर्वक अध्ययन, (ii) इसके सामान्य स्वरूपों और परिस्थितिकी दशाओं को समझना। इससे क षि क्षमता का अधिक विश्वसनीय अनुमान लगाने और प्रत्येक जलवायु अंचलों में अनुकूल तकनीक के स्थानान्तरण से सम्बंधी समस्याओं का समाधान करने में सहायता भी मिलती है। ये तो संभव नहीं होगा कि प्रत्येक क षि जलवायु अंचल के प्रत्येक फार्म पर प्रत्येक परीक्षण को दोहराया जा सके। अतः एक प्रतिनिधि स्थल चुना जाता है तथा वहां प्राप्त परिणाम उसी के समान दशाओं वाले दूसरे स्थलों पर समान रूप से व्यवहारिक मान लिए जाते हैं।

क षि जलवायु अंचलों के निर्धारण से भूमि और जल विकास की युक्तियाँ ढूढ़ने में मदद मिलती है ताकि संतुलित क षि विकास की प्राप्ति संभव हो सके। यह स्थान विशेष पर अधारित शोध और विकास युक्तियों के विकास में भी सहायक होती है। परिणामस्वरुप सभी प्रदेशों के लिये उचित फसल वैविध्य और फसल पद्धतियों को चुना जाता है। इससे गैर फसल आधारित क षि क्रियाओं, जैसे, वानिकी पशुपालन और मछली पालन की योजना बनाने और प्रत्येक प्रदेश के लिये उचित विकास परियोजनाओं और वित्तीय संसाधनों को तय करने में मदद मिलती है।

आप इकाई 13 में देखेंगे कि 1960 और 1970 के दशक में हरित क्रांति का परिणाम क षि विकास में विस्त त प्रादेशिक असंतुलन के रूप में हुआ। वर्षाधीन क्षेत्र हरित क्राांति से अछूते रहे जिससे क षि जलवायु मंडल पर आधारित क षि योजना की आवश्यकता पड़ी।

समष्टि स्तरीय योजना के परिप्रेक्ष्य से क षि जलवायु अंचलन के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं: (i) विभिन्न अंचलों की क्षमता और संभावनाओं के आधार पर, राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न पदार्थों की मांग एवं आपूर्ति मे संतुलन की प्राप्ति, (ii) क षकों की शुद्ध आय में व द्धि, (iii) अतिरिक्त रोजगार का स जन, विशेषकर भूमिहीन श्रमिकों के लिये, तथा (iv) भूमि जल और वनों के दीर्घकालिक निर्वाहणीय और वैज्ञानिक उपयोग के लिये रूपरेखा का विकास।

अतः क षि जलवायिक अंचलों में योजना के महत्वपूर्ण पक्ष इस प्रकार हैं :

क) *फसल योजना* – भूमि विशेष पर उसकी उपयुक्तता को मूल्यांकित करते हुए उच्च मूल्यवान फसलों का प्रवेश और क षि का विविधता

ख) *सिंचाई योजना* – क षि और जलवायु की दशाओं पर आधारित योजनाओं का विकास।

ग) *शोध और विकास* – जलवायु की दशाओं और भूमि की स्थिति को ध्यान रखते हुए स्थान विशिष्ट के अनुरूप ऊँची पैदावार वाली फसलों और पशुधन का विकास

क षि के लिये नवीं योजना युक्ति वर्षाधीन क्षेत्रों के विकास के लिये एक 25 वर्ष के परिप्रेक्ष्य वाली योजना पर आधारित है। प्रादेशिक तौर पर भिन्न योजनाओं पर जोर दिया जा रहा है। व हद स्तर पर इन प्रदेशों को चार क षि आर्थिक प्रदेशों में बांटा जा रहा है।

क) उच्च उत्पादकता मंडल, जहाँ या तो सिंचाई का ऊंचा स्तर या कम वर्षा वाली न्यून सिंचित स्थितियाँ हैं। सामान्यतः इन प्रदेशों में निर्धनता का प्रभाव भी कम मिलता है।

ख) न्यून उत्पादकता मंडल, जहाँ अपेक्षाक त अधिक वर्षा, मध्यम से कम सिंचाई और ऊँची उत्पादकता क्षमता है। किन्तु वर्तमान में निधर्नता की अधिकता होती है।

ग) न्यून उत्पादकता मंडल जहाँ कम वर्षा, न्यून सिंचाई, भू जल का नीचा स्तर ओर निर्धनता बहुत व्यापक हो।

घ) क षि परिस्थिति में दुर्बल मंडल जहाँ निम्न उत्पादकता जल का भारी अपवहन और म दा क्षरण हो। इन क्षेत्रों में उत्तर पश्चिमी हिमालय, उत्तर पूर्वी राजस्थान के मरुस्थल और अनाव ष्टि उन्मुख गुजरात के क्षेत्र आते हैं।

11.5 भारत में क षि जलवायिक अंचल

मुख्य क षि परिस्थितिकीय प्रदेशों की म दा की गुणवत्ता, जलवायु की दशाओं और प्राक तिक वनस्पति के विषय में रूपरेखा प्रस्तुत करने के लिये कई प्रयास किये गये हैं। विभिन्न अभिकरणों ने क षि परिस्थिकीय प्रदेशों के वर्गीकरण का प्रयत्न किया है। उनमें से कुछ अभिकरण इस प्रकार हैं:

i) भारतीय क षि अनुसंधान परिषद (ICAR) द्वारा वर्गीक त क षि पारिस्थितिकी क्षेत्र

ii) योजना आयोग द्वारा वर्गी क त क षि पारिस्थितिकी क्षेत्र

iii) म दा सर्वेक्षण और भूमि उपयोग योजना के लिये राष्ट्रीय ब्यूरो (NBSS & LUP) द्वारा निर्धारित किये गये क षि पारिस्थितिकी क्षेत्र।

11.5.1 भारतीय क षि अनुसंधान परिषद् क त क षि जलवायिक क्षेत्र

इन अंचलों की हम नीचे चर्चा करेंगे:

भारतीय क षि अनुसंधान परिषद् ने भारत को आठ क षि पारिस्थितिकीय क्षेत्रों में वर्गीक त किया है। ये इस प्रकार है :

i) **आर्द्र पश्चिमी हिमालय क्षेत्र** : इसमें जम्मू कश्मीर, हिमाचल प्रदेश ओर उत्तरांचल आते हैं। इसकी विशिष्टिता ऊँचे पर्वत और नीची घाटियाँ हैं। यह क्षेत्र दक्षिण में गर्म उष्णकटिबंधी अर्ध आर्द्र से ले कर उत्तर के शीतोषण-शीत-मरु जलवायु तक फैली है। यहाँ वर्षा 80 सै० मी० से 100 सै० मी० तक होती है।

ii) **आर्द्र बंगाल असम घाटी** : यह गंगा ब्रह्मपुत्र के कछारी मैदान का प्रतिनिधित्व करती है और पश्चिमी बंगाल और असम इसमें शामिल हैं। इसकी विशिष्टता कछारी सतहों, अर्ध स्थिर रेतीले टीले, पश्चिम में कंकरीले अवशेष और डेल्टा क्षेत्र में बहुत सी संकरी खाड़ियां और दलदली क्षेत्र हैं। व ष्टिपात 220 सै०मी० से 400 सै०मी० तक होता है।

तालिका 11.1 : भारतीय क षि अनुसंधान परिषद् द्वारा निर्धारित क षि जलवायिक क्षेत्र

क षि जलवायिक क्षेत्र	औसत वार्षिक व ष्टिपात (से.मी.)	म दा प्रकार
1) आर्द्र–पश्चिमी हिमालय क्षेत्र	80-100 से.मी.	रेतीली लोम, लोमी और क्षारीय उप मेन्योर लोमी भूरी पहाड़ी म दा
2) आर्द्र बंगाल असम घाटी	220-400 से.मी.	मखरली, लाल और भूरी म दा
3) आर्द्र पूर्वी हिमालय प्रदेश और खाड़ी द्वीप	200-400 से.मी.	लाल पीत मखरली और लवणीय लेटराइट
4) अर्ध आर्द्र संतुलन गंगा कछार मैदान	30-200 से.मी.	मखरली, लवणीय और क्षारीय म दा
5) अर्ध आर्द्र पूर्वी और दक्षिण पूर्वी उच्चभूमि	100-180 से.मी.	मिश्रित काली, लाल, पीली, लाल रेतीली, काली मखरली म दा
6) पश्चिमी मरूभूमि	10-65 से.मी.	मखरली, काली, लेटराइट, मिश्रित लाल और काली म दा
7) अर्ध मरू लावा पठार और केन्द्रीय उच्च भूमि	330-750 से.मी.	मखरली, काली लेटराइट मिश्रित लाल और काली म दा
8) अर्ध मरू पश्चिमी घाट	60-300 से.मी.	काली, लाल, लैटराइट और कछारी म दा

iii) **आर्द्र पूर्वी हिमालय प्रदेश और खाड़ी द्वीप**: इसमें अरुणाचल प्रदेश, नागालैंड, मणिपुर, मिज़ोरम, त्रिपुरा, मेघालय और अंडमान निकोबार द्वीप आते हैं। इसमें विभिन्न ऊंचाई की पूर्वी हिमालय और अराकान पर्वतों की श ंखलाएं आती हैं। वर्षा 200 सै० मी० से 400 सै० मी० तक रहती है।

iv) **अर्ध आर्द्र सतलुज गंगा कछार मैदान**: यह पंजाब, उत्तर प्रदेश के मैदान, दिल्ली और बिहार से मिल कर बना है। यहां 30 सै० मी० से 200 सै० मी० तक वर्षा होती है। निरंतर बाढ़ के कारण बिहार में म दा बहुत बेहाल है।

v) **अर्ध आर्द्र से आर्द्र पूर्वी और दक्षिण पूर्वी उच्चभूमि** : इसमें उड़ीसा, आंध्र प्रदेश और छत्तीसगढ़ आते हैं। इसकी विशिष्टता तंरगित स्थलाकृति, वनस्पतिहीन पहाड़ियाँ, पठार, नदी घाटी और उच्च भूमियाँ हैं। यहाँ व ष्टिपात 100 सै०मी० से 180 सै०मी० तक होता है।

vi) **पश्चिमी मरु भूमि** : इसमें हरियाणा, राजस्थान, गुजरात और दादरा व नगर हवेली सम्मिलित हैं। इसकी विशिष्टता रेतीले टीलों वाले कछारी मैदान, लवणीय नीचा क्षेत्र

और ग्रेनाइट की पहाड़ियाँ हैं। इस क्षेत्र में 10 सै०मी० से 65 सै० मी० तक व ष्टिपात होता है।

vii) **अर्ध मरु लावा पठार और केन्द्रीय उच्चभूमियाँ :** यह महाराष्ट्र गोवा, दमण द्वीव और मध्य प्रदेश का क्षेत्र है। यहाँ व ष्टिपात 70 सै०मी० से 125 सै० मी० के बीच होता है (पश्चिमी धाट को छोड़ कर जहाँ यह 330 से 750 सै०मी० तक होता है)। मुख्य म दा समूहों में कछारी, काली, कंकरीली, मिश्रित लाल और काली और पीत भूरी हैं।

viii) **आर्द्र से अर्ध मरु पश्चिमी घाट और कर्नाटक पठार :** इसमें कर्नाटक, तमिलनाडू, केरल, पाँडिचेरी और लक्ष्यद्वीप समूह के क्षेत्र आते हैं। व ष्टिपात 60 सै०मी० से 300 सै० मी० तक होता है। मुख्य म दा समूह काली, लाल, कंकरीली और कछारी हैं।

11.5.2 योजना आयोग द्वारा वर्गीक त क षि जलवायिक क्षेत्र

योजना आयोग ने सातवीं योजना में भारत को 15 क षि जलवायिक अंचलों में विभक्त किया जो म दा की गुणवत्ता, भौगोलिक बनावट, जलवायु, फसल पद्धति और सिंचाई के विकास तथा खनिज संसाधनों पर आधारित हैं। ये हैं:

1) पश्चिमी हिमालय क्षेत्र
2) पूर्वी हिमालय क्षेत्र
3) निम्नतर गंगा मैदानी क्षेत्र
4) मध्यम गंगा मैदानी क्षेत्र
5) ऊपरी गंगा मैदानी क्षेत्र
6) गंगा पार मैदानी क्षेत्र
7) पूर्वी पठार और पहाड़ी क्षेत्र
8) केन्द्रीय पठार और पहाड़ी क्षेत्र
9) पश्चिमी पठार और पहाड़ी क्षेत्र
10) दक्षिणी पठार और पहाड़ी क्षेत्र
11) पूर्वी तट पठार और पहाड़ी क्षेत्र
12) पूर्वी तट मैदान और घाट क्षेत्र
13) गुजरात मैदान और पहाड़ी क्षेत्र
14) पश्चिमी शुष्क क्षेत्र
15) द्वीप क्षेत्र

11.5.3 राष्ट्रीय म दा सर्वेक्षण एवं भू-प्रयुक्ति प्रायोजन ब्यूरो द्वारा निर्धारित क षि पारिस्थितिक क्षेत्र

राष्ट्रीय म दा ब्यूरो ने भौतिक स्वरूप, म दा और जैव जलवायिक दशाओं पर आधारित 21 अंचलों वाला भारत का क षि पारिस्थितिक प्रादेशिक मानचित्र तैयार किया है। ये निम्नलिखित हैं:

i) **मरु पारिस्थितिक पारितंत्र**

1) पश्चिमी हिमालय उथली अद्यकचरी मिट्टी वाले शीत मरु पारिस्थितिक प्रदेश।

2) पश्चिमी मैदान, मरुस्थल और लवणीय म दा वाले गर्म मरु पारिस्थितिक प्रदेश।

3) दक्षिणी पठार, मिश्रित लाल और काली म दाओं वाले गर्म मरु पारिस्थितिक प्रदेश।

ii) **अर्धमरु पारितंत्र**

4) उत्तरी मैदान और केन्द्रीय उच्च भूमियाँ, जलोदक व्युत्पन्न म दाओं वाले गर्म अर्ध मरु पारिस्थितिक प्रदेश।

5) केन्द्रीय उच्चभूमियाँ और प्रायद्वीप, मध्यम और गहरी काली म दाओं वाले अर्ध मरु पारिस्थितिक प्रदेश।

6) दक्खन पठार, उथली और मध्यम काली म दा के साथ गर्म अर्ध मरु पारिस्थितिक प्रदेश।

7) दक्खन पठार और पूर्वी घाट, लाल और काली मिट्टी के साथ गर्म अर्ध मरु प्रदेश।

8) पूर्वी घाट और दक्खन पठार, लाल उपजाऊ म दा के साथ गर्म अर्ध मरु पारिस्थितिक प्रदेश।

iii) **उप-आर्द्र पारितंत्र**

9) उत्तरी मैदान, जलोदक व्युत्पन्न म दा के साथ गर्म आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश

10) केन्द्रीय उच्च भूमियाँ, मध्यम और गहरी काली म दाओ के साथ गर्म उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।

11) दक्षिण पठार, लाल और पीली म दाओं के साथ गर्म उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।

12) पूर्वी पठार, लाल और पीली म दाओं के साथ गर्म उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।

13) पूर्वी पठार और पूर्वी घाट, लाल उपजाऊ म दा वाले गर्म उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।

14) पूर्वी मैदान, जलोदक व्युत्पन्न म दाओ वाले गर्म उप आर्द्र प्रदेश।

15) पश्चिमी हिमालय राखीय म दा और भूरे वन वाले ऊष्ण और उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।

iv) **आर्द्र प्रति आर्द्र पारिस्थितिक तंत्र**

16) असम और बंगाल के मैदान, जलोदक व्युत्पन्न म दाओं के साथ गर्म आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।

17) पूर्वी हिमालय के ऊष्ण प्रति आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश, भूरी पहाड़ी म दाओं के साथ।

18) उत्तर पूर्वी पहाड़ी के ऊष्ण आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश लाल और कछारी म दाओं के साथ

v) **तटीय पारितंत्र**

19) पूर्वी तटीय मैदान, जलोदक व्युत्पन्न म दाओं के साथ गर्म उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।

20) पश्चिमी घाट और तटीय मैदान, लाल कंकरीली और जलोदक व्युत्पन्न म दाओं के साथ गर्म आर्द्र-प्रति आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।

vi) **द्वीप पारितंत्र**

21) अंडमान निकोबार और लक्ष्यद्वीप समूह, लाल उपजाऊ और बालू म दा के साथ गर्म-आर्द्र

तालिका 11.2 : राष्ट्रीय म दा सर्वेक्षण और भू-प्रयुक्ति प्रायोजन ब्यूरो द्वारा क षि जलवायिक क्षेत्र विभाजन – व ष्टिपात और म दा किस्में

क्र. सं.	क षि जलवायिक प्रदेश	औसत वार्षिक व ष्टिपात	क्षेत्र % में	वार्षिक व द्धि काल (दिनों में)
1)	पश्चिमी हिमालय उथली अद्यकचरी मिट्टी वाले शीत मरु पारिस्थितिक प्रदेश।	15	4.7	90
2)	पश्चिमी मैदान, मरुस्थल और लवणीय म दा वाले गर्म मरु पारिस्थितिक प्रदेश।	30	9	90
3)	दक्षिण पठार, मिश्रित लाल और काली म दाओं वाले गर्म मरु पारिस्थितिक प्रदेश।	40-50	1-4	90
4)	उत्तरी मैदान और केन्द्रीय उच्च भूमियाँ, जलोढक व्युत्पन्न म दाओं वाले गर्म अर्ध मरु पारिस्थितिक प्रदेश।	40-80	10	90-150
5)	केन्द्रीय उच्चभूमियाँ (मालवा) और काठियावाडी पठार : मध्यम और गहरी काली म दाओं वाले अर्ध मरु पारिस्थितिक प्रदेश।	60-90	5.6	90-150
6)	दक्षिण पठार, उथली और मध्यम काली म दा के साथ गर्म अर्ध मरु पारिस्थितिक प्रदेश।	60-100	10	90-150
7)	दक्षिण पठार और पूर्वी घाट, लाल और काली मिट्टी के साथ गर्म अर्ध मरु प्रदेश।	60-100	6.9	120-150
8)	पूर्वी घाट (तमिलनाडु) और दक्षिण पठार, लाल लोभी म दा के साथ गर्म अर्ध मरु पारिस्थितिक प्रदेश।	60-100	6.9	120-150
9)	उत्तरी मैदान, जलोदक व्युत्पन्न म दा के साथ गर्म आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश	100-120	3.7	150-180
10)	केन्द्रीय उच्च भूमियाँ, मध्यम और गहरी काली म दाओ के साथ गर्म उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।	100-150	4.2	150-180
11)	दक्षिण पठार, लाल और पीली म दाओं के साथ गर्म उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।	100-150	4.2	150-180
12)	पूर्वी पठार (छतीसगढ़), लाल और पीली म दाओं के साथ गर्म उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।	120-160	8.5	150-180

13)	पूर्वी पठार (छोटा नागपुर) और पूर्वी घाट, लाल लोम म दा वाले गर्म उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।	100-160	2.8	180-210
14)	पूर्वी मैदान, जलोदक व्युत्पन्न म दाओ वाले गर्म उप आर्द्र प्रदेश।	140-160	2.8	180-210
15)	पश्चिमी हिमालय राखीय म दा और भूरे वन वाले उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।	160-220	5.4	150-210
16)	असम और बंगाल के मैदान, जलोदक व्युत्पन्न म दाओं के साथ गर्म आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।	140-200	3.6	270
17)	पूर्वी हिमालय ऊष्ण-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश भूरी पहाड़ी म दाओं के साथ।	200	2.4	270
18)	उत्तर पूर्वी पहाड़ी ऊष्ण-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश लाल और कछारी म दाओ के साथ।	160-260	3.3	270
19)	पूर्वी तटीय मैदान, जलोदक व्युत्पन्न म दाओं के साथ गर्म उप-आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।	120-160	2.5	150-210
20)	पश्चिमी घाट और तटीय मैदान, लाल मखरली और जलोदक व्युत्पन्न म दाओं के साथ गर्म आर्द्र-प्रति आर्द्र पारिस्थितिक प्रदेश।	200	3	270
21)	अंडमान निकोबार और लक्षद्वीप समूह, लाल लोम और बालू म दा के साथ गर्म प्रति आर्द्र	160-300	0.3	270

बोध प्रश्न 2

1) क षि जलवायवी मंडलन का क्या उद्देश्य है?

....

....

....

....

....

2) भारत में चार–मुख्य क षि आर्थिक क्षेत्र कौन से हैं?

....

....

....

....

3) आर्द्र बंगाल असम बेसिन के मूल लक्षण क्या हैं?

....

....

....

....

....

11.6 क षि के लिये जैव तकनीकि

जैव प्राद्योगिकि (bio-technology) से तात्पर्य उपयोगी उत्पादों के उत्पादन के लिये जीवित जीवों के उपयोग से है। सूक्ष्म जीवों जैसे शैवाल, वैक्टिरिया, फंगस, खमीर और उच्चतर पौधों और पशुओं की कोशिकाएं फसलों के नये प्रकार के उत्पादन के लिये प्रयोग किये जा सकते हैं। संकर प्रकारों की फसलें, जो हम आज देखते हैं, जैव तकनीकों की ही उपज हैं।

'जैव प्रोद्योगिकि' शब्द 'जीव विज्ञान' और 'प्रोद्योगिकि' के संयोजन द्वारा व्युत्पन्न है। यह जैविक अंगों के मनुष्य के लिये उपयोग उत्पादों/सेवाओं के उत्पत्ति से संबंधित है। इसके दो महत्वपूर्ण लक्षण हैंः

- जैविक इकाइयों, उनके अवयवो और संघटकों का उपयोग, और
- मानवीय कल्याण की व द्धि के लिये कुछ उत्पादों और सेवाओं की उत्पत्ति

जैव प्रोद्योगिकि ने मानव की गतिविधियों जैसे उद्योगों, औषधि, क षि और पर्यावरण तथा उनके माध्यम से मानव के कल्याण स्तर को प्रभावित किया है। इसे गुणवत्ता वाले उत्पादों, मानवीय उपभोग और गुणवत्ता पूर्वा पशु और पौदप जीवन के संचरण मे व द्धि के लिये महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में बड़े पैमाने पर प्रयोग किया गया है इसने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को निश्चित रूप से प्रभावित किया है।

जैव प्रोद्योगिकि का क षि विकास में अनेक योगदान हैः आर्थिक महत्व के पादपों के तीव्र दर से बहुगुणन, जीवाणु युक्त पौधों के उत्पादन, अन्यथा अव्यवहार्य अन्तर्जातीय संकर के बचाव, संकरीकरण के द्वारा लैंगिक अक्षमता वाले संयोगों से संकरों का उत्पादन, इत्यादि। प्रकाश संश्लेषी दक्षता, नाइट्रोजन स्थिरीकरण दक्षता, बीज भंडारण, प्रोटीन की पोषकता संबंधी गुणवत्ता में जैव प्रोद्योगिकि के माध्यम से सुधार के लिये प्रयत्न हो रहे हैं। पादप-उत्तक-संवर्धन का प्रयोग उच्च उत्पादन, उत्पादन की विभिन्न प्रजातियों, रोग रोधण और फसलों के शीघ्र परिपक्वन के लिये किया जा रहा है।

सरकारी उपाय

जैव प्रोद्योगिकि के महत्व को अनुभव करते हुये केन्द्र सरकार ने देश में जैव प्रोद्योगिकि के कार्यक्रमों की प्रोत्साहन योजना और संयोजन के लिये विज्ञान एवं टेक्नॉलोजी मंत्रालय में जैव प्रोद्योगिकि विभाग 1986 में स्थापित किया। इस विभाग का मुख्य कार्य एकीक त विकास योजना और कार्यक्रमों के विकास, शोध विकास के और विशिष्ट क्षेत्रों के चिन्हन, विकसित शोध के लिये आधारिक संरचना और प्रशिक्षित मानव शक्ति तैयार करना है। जैव प्रोद्योगिकि उद्योग को रुढ़ और आधुनिक में विभक्त किया जा सकता है। रुढ़ जैव प्रोद्योगिकि उद्योग, टीके, एंटीबायोटिक, जैव उर्वरकों, जैव की कीटनाशकों और किण्वन उत्पादों जैसे खमीर, पनीर, एल्कोहल, साइट्रिक एसिड, लैक्टिक एसिड और ग्लूकोज से संबंधित है। आधुनिक जैव प्रोद्योगिकि उद्योग अनुवांशिक रूप से अभियान्त्रित उत्पादों से संबंधित है। पिछले पांच

सालों में 250 करोड़ रु. से अधिक निवेश वाली 100 से अधिक परियोजनाओं को सरकार ने प्रारम्भ किया है। राज्य स्तरीय क षि महाविद्यालयों और क षि शोध से संलग्न राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं के अतिरिक्त, निजी क्षेत्रक की बहुत सी इकाइयाँ भी जैव प्रोद्योगिकि के शोध में रुचि रखती हैं। 1992 में जैव प्रोद्योगिकि उत्पादों का उपभोग 1874 करोड़ रु. तक गया था, जिनमें पशु और मानवीय स्वास्थ्य से संबंधित उत्पाद 73% क षि उत्पाद 4% और औद्योगिक उत्पाद 23% तक मात्रा में रहे।

बोध प्रश्न 3

1) क षि के लिये जैव प्रोद्योगिकीय शोध के क्या लाभ हैं?

....

....

....

....

....

2) सरकार द्वारा क षि में जैव प्रोद्योगिकि के प्रयोग को प्रोत्साहित करने के लिये क्या उपाय किये गये हैं?

....

....

....

....

....

11.7 सारांश

यह सत्य है कि सभी कृषि योग्य क्षेत्रों को सींचा नहीं जा सकता। अतः कृषि योग्य क्षेत्र के बड़े अनुपात में हमें प्राक तिक व ष्टिपात पर निर्भर रहना पड़ता है। समस्या यह है कि भारत में वर्षाधीन क्षेत्र व ष्टिपात की मात्रा और म दा गुण के विषय में काफी विविधताएं हैं। अतः एक समान फसल प्रकार या फसल पद्धति का चुनाव समस्या का हल नहीं है। वर्षाधीन क्षेत्रों के विकास के लिये हमें जलवायिक दशा को सही रूप से समझना है, जलवायु के लिये उपयुक्त फसल प्रकार को विकसित करना और उत्पादन तकनीकों को प्रयोगशाला से भूमि पर स्थानांतरित करना होगा।

भारत में क षि योजना ने प्रादेशिक रूप से भिन्न विकास युक्ति को अपनाया है। देश में कई संस्थाओं ने एक सद श क षि जलवायिक अनुक्षेत्रों का वर्गीक त किया गया है। प्रत्येक प्रदेश के लिये शोध और विकास के प्रयत्नों द्वारा उचित फसल और फसल पद्धितयों को विकसित किया जा रहा है। ऊंची पैदावार, जल दक्षता, रोग रोधण और लघु कालिक फसलों के विकास में जैव प्रौद्योगिकि ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

11.8 शब्दावली

क षि जलवायिक क्षेत्र : समान जलवायिक दशाओं वाले क्षेत्र।

जैव प्रौद्योगिकि : उपयोगी उत्पादों के निर्माण के लिये जीवित जीवों का उपयोग करने की प्रविधियां।

11.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Planning Commission, 2003, *Tenth Five Year Plan*, Government of India.

Mal, P., 2001, *Infrastructure Development for Agriculture and Rural Development*, Mohit Publications, New Delhi.

Singhal, V., 1996, *Indian Agriculture*, Indian Economic Data Research Centre.

11.10 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

बोध प्रश्न 1

1) भारत में सिंचाई की संकुल संभावित क्षमता सीमित है अतः 74% प्रदेश में क षि प्राक तिक व ष्टिपात पर निर्भर करती है।

2) उप-भाग 11.2.1 देखें

3) उप-भाग 11.3.1 देखें और उत्तर दें

बोध प्रश्न 1

1) क षि जलवायवी मंडलन के अध्ययन का उद्देश्य जलवायु अध्ययन द्वारा समुचित विकास युक्ति की खोज और उचित फसल योजना को अपनाने के लिये होता है।

2) भाग 11.4 देखें और उत्तर दें

3) आर्द्र बंगाल असम बेसिन कंकरीली और कछारी म दाओं के कारण विशिष्ट है। इस प्रदेश में व ष्टिपात 220 सें०मी० और 400 सें०मी० के बीच होता है।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 11.6 देखें और उत्तर दें

2) भाग 11.6 देखें और उत्तर दें

इकाई 12 हरित क्रांति : प्रकृति एवं विस्तार

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 हरित क्रांति का संदर्भ
12.2.1 स्वतन्त्रतापूर्व काल
12.2.2 स्वतन्त्रोत्तर काल
12.2.3 खाद्यान्न अभाव का विस्तार
12.3 विकसित अर्थव्यवस्थाओं में उच्च-उत्पादन किस्मों का नवप्रवर्तन
12.4 उच्च-उत्पादन किस्मों के तकनीकी अभिलक्षण
12.4.1 जल के प्रति संवेदशीलता
12.4.2 उर्वरकों तथा कीटनाशकों के प्रति संवेदशीलता
12.4.3 अल्पावधि परिपक्वता
12.5 उत्पादन व द्धि पर हरित क्रांति का प्रभाव
12.5.1 उत्पादन में व द्धि
12.5.2 व द्धि के स्रोत
12.6 भारत में उच्च-उत्पादन किस्मों का प्रसार
12.6.1 क्षेत्र में प्रसार
12.6.2 आगतों का प्रसार
12.6.3 उच्च-उत्पादन किस्मों के प्रसार में प्रतिबन्ध
12.7 सारांश
12.8 शब्दावली
12.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
12.10 बोध प्रश्न के उत्तर/संकेत

12.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप इस स्थिति में होंगे कि :

- उस प्रसंग को समझ सकें जिसमें उच्च–उत्पादन किस्म प्रौद्योगिकी भारत में शुरू की गई;
- उच्च–उत्पादन किस्मों के तकनीकी अभिलक्षणों को पहचान सकें;
- उत्पादन व द्धि पर हरित क्रांति के प्रभाव को स्पष्ट कर सकें; और
- उस विस्तार को स्पष्ट कर सकें जहाँ तक कि यह नई प्रौद्योगिकी भारत में अपनायी गई है।

12.1 प्रस्तावना

हमने खंड-1 में यह जान चुके हैं कि स्वतंत्रतापूर्व काल में कृषि विकास नगण्य रहा और कृषि उत्पादन स्थिर था। दूसरी ओर, स्वतंत्रोत्तर काल में, कृषि उत्पादन में भारी व द्धि हुई है। सामान्यतया इस काल को साठ के दशकमध्य तक एक अल्प-व द्धि चरण और साठ के दशकमध्य उपरांत एक उच्च-व द्धि चरण वाले दो सोपानों द्वारा पहचाना जाता है। साठ के

दशकमध्य को कृषि परिद श्य का संक्रांतिकाल माना जाता है। साठ के दशकमध्य ने अकस्मात् ही भारत में नई प्रौद्योगिकी के पदार्पण के संकेत दिखाई दिए। इस प्रौद्योगिकी उच्च-उत्पादन किस्म (एच.वाई.वी) प्रौद्योगिकी है और कुछ लोगों ने इसे 'हरित क्रांति' का नाम दिया है। इस प्रौद्योगिकी के शब्द तंत्र, परिमापी और इसके लाभ तथा परिणामों पर विवाद भी रहे हैं। कृषि अर्थशास्त्रियों के द ष्टिकोण में प्रशंसा से संशयवाद तक दिखाई पड़ते हैं। प्रशंसकों ने व द्धि के पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित किया जबकि संशयवादियों ने व द्धि के साथ-साथ पुनर्वितरणीय पहलुओं की प्रकृति पर भी प्रश्न उठाए हैं।

उठाये गए प्रश्न थे : क्या भारतीय नीति-निर्माताओं ने नीति निर्धारित करते समय इस प्रौद्योगिकी को प्रोत्साहित करने के लिए उपयुक्त समय के चयन में कोई भूल की? उस समय उपलब्ध विकल्प क्या थे? क्या इस प्रौद्योगिकी के प्रतिकूल प्रभावों को कम किया जाना संभव हो सकता था? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए उस प्रसंग को समझना चाहिए जिसमें यह नई प्रौद्योगिकी लायी गई।

12.2 हरित क्रांति का संदर्भ

कृषि-उपज में स्थिरता का श्रेय औपनिवेशिक नीतियों को जाता है : (i) कृषि की लूट और उपेक्षा, (ii) स्थानीय सिंचाई व्यवस्था के रखरखाव की उपेक्षा, और (iii) स्थानीय संप्रेरणाओं का विनाश ब्रिटिश काल में कृषि परिद श्य में अनेक परिवर्तन दिखाई दिए : (i) देहाती क्षेत्र का मुद्रीकरण, (ii) कर प्रवर्तन, (iii) कृषि का वाणिज्यीकरण (कपास, तम्बाकू, गन्ना तथा रोपण फसलों को प्रोत्साहन के माध्यम से), (iv) कच्चा–माल, विशेषकर कपास तथा तम्बाकू का निर्यात, और (v) पुंजोत्पादित माल का निर्यात। इन सबने ग्रामीण कारीगरों व शिल्पकारों का काम ठप्प कर दिया और उन्हें भूमिहीन श्रमिकों के रूप में कृषि पर निर्भर होने को बाध य कर दिया।

12.2.1 स्वतन्त्रतापूर्व काल

इन सभी परिवर्तनों ने ग्रामीण क्षेत्र के अर्थतन्त्र को औपनिवेशिक काल से पूर्व स्थिति से भी बदतर बना दिया। 1947 से पूर्व अर्धशती से भी अधिक समय तक उत्पादन स्तर और उत्पादिता स्थिर रह गई। जब-तब छोटे-मोटे परिवर्तनों को छोड़कर, इस पूरे काल में कृषि-उत्पादन प्रौद्योगिकी न्यूनाधिक एक ही रही। औपनिवेशिक शासन की अदूरदर्शिता तथा कृषि विकास की उपेक्षा के कारण अनेक अकाल पड़े। 1943 का बंगाल अकाल सबसे भीषण था, जिससे लाखों लोगों की म त्यु हुई। राहत प्रयास कुछ दलिया शिविरों को आयोजित करने तक सीमित रहे, जो परिस्थिति की माँग के हिसाब से नितांत अपर्याप्त थे। अनेक पर्यवेक्षकों ने इस प्रकार की आपदाओं को 'कृत्रिम' और अप्राकृतिक विपत्ति बताया है।

1891 व 1947 के बीच, ब्रिटिश भारत में समस्त अन्न उत्पादन 0.11 प्रतिशत प्रतिवर्ष की औसत दर से बढ़ा (देखें तालिका 12.1)। इस अवधि के उत्तरार्ध में तो व द्धि दर मात्र 0.03 प्रतिशत ही थी। 56 वर्ष की अवधि में वस्तुतः चावल का उत्पादन 0.09 प्रतिशत की औसत वार्षिक दर से घटा। गेहूँ का उत्पादन 0.84 प्रतिशत की वार्षिक दर से बढ़ा। अविभाजित भारत के लिए, 1947-48 में अनुमानित खाद्यान्न उत्पादन 6.6 करोड़ टन था। यह 1900-01 में (7.0 करोड़ टन) से कुछ ही कम था। चलिए, हम 1936-37 से 1965-66 (तीस वर्ष) की अवधि पर विचार करते हैं। पहले 15 वर्षों में (1936-51) खाद्यान्न उत्पादन 0.68 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से गिरा, जबकि अगले 15 वर्षों में (1951-66) यह 2.75 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ा। यदि हम प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उत्पादन पर विचार करें तो पहले 15 वर्षों के दौरान यह तेजी से गिरा। नई सदी के आरम्भ से लेकर लगभग 50 वर्षों तक,

खाद्यान्न उत्पादन स्थिरप्राय था। ग़ैर-खाद्यान्न फसलों का प्रदर्शन कुछ बेहतर था। ब्रिटिश भारत में जनसंख्या 0.67 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ी।

तालिका 12.1 : स्वतंत्रतापूर्व काल में मुख्य फसल-समूहों का उपज-प्रदर्शन

(व द्धि दर प्रतिशत प्रति वर्ष)

मुख्य फसल-समूह	अवधि (1891-1946)		
	क्षेत्र	उपज	उत्पादन
खाद्यान्न	0.31	-0.18	0.11
ग़ैर-खाद्यान्न	0.42	0.86	1.31
सभी फसलें	0.40	0.01	0.37

स्रोत : ब्लिन, जी. (1983)

इस अवधि में विकसित देशों में भी रूद्धता ही देखी गई है। ब्रिटेन में 1884 से द्वितीय विश्वयुद्ध तक, खाद्यान्न उत्पादनों में औसत व द्धि दर मात्र 0.2 प्रतिशत प्रति वर्ष थी। संयुक्त राज्य अमेरिका में 1866-67 तथा 1901-05 के बीच खाद्यान्न उत्पादनों में वार्षिक व द्धि दर 0.3 प्रतिशत थी; 1901-05 तथा 1936-40 के बीच कोई व द्धि नहीं हुई और 1936–40 से 1951–53 के बीच 1.5 प्रतिशत व द्धि हुई। हां, 1951–53 से 1961–63 की अवधि में अवश्य यह व द्धि दर उछल कर 4.8 प्रतिशत हो गई थी।

12.2.2 स्वतन्त्रोत्तर काल

स्वतंत्रता भारत में अनेक परिवर्तन लेकर आयी। सरकार ने इनकी दिशा में अनेक कदम उठाए— (i) जनता की खाद्य संभरण संबंधी आकांक्षाओं व आशाओं को पूरा करना; (ii) खाद्य में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने की दिशा में कृषि का विकास करना; (iii) उद्योग को कच्चा–माल मुहैया कराना; और (iv) मूल्यों पर नियंत्रण रखना ताकि शहरी उपभोक्ताओं का भी ध्यान रखा जा सके। इस दिशा में अनेक महत्त्वपूर्ण कदम उठाए गए, जैसे—

क) **पंचवर्षीय योजनाओं का प्रारम्भ :** इससे इन कामों में मदद मिली — (i) क्षेत्रकवार लक्ष्य निर्धारित करना; (ii) लक्ष्य–प्राप्ति हेतु उपलब्ध तथा वांछित संसाधनों का आंकलन; और (iii) विकास लाभों के न्यायोचित वितरण के साथ–साथ उच्चतर विकास के उद्देश्य को प्राप्त करने के प्रयास करना।

ख) **भूमि-सुधार लागू करना :** इससे इन कामों में मदद मिली— (i) बिचौलियों, जैसे ज़मींदारों, वतनदारों, ज़ागीरदारों तथा तालुक़दारों, का उन्मूलन; (ii) काश्तकारों को स्वामित्व अधिकार प्रदान करना; (iii) भूखण्डों का समेकन; (iv) काश्तकारी सुधारों का प्रवर्तन (किराया निर्धारण, काश्तकारों के अधिकारों की रक्षा); और (v) कानूनों के माध्यम से भू-सीमाओं का निर्धारण।

ग) **संस्थाओं का स जन :** सरकार ने माँग-आपूर्ति स्थिति में समायोजन करने के लिए अनेक संस्थाओं की रचना की जैसे कि भारतीय खाद्य निगम के माध्यम से सुरक्षित भण्डारों का निर्माण; कृषि मूल्य आयोग, राष्ट्रीय जल आयोग, तथा राष्ट्रीय कृषि आयोगों की स्थापना। इन संस्थाओं से उत्पादन व वितरण के क्षेत्र में समस्याएँ सुलझाने हेतु नीतिगत उपाय सुझाने की अपेक्षा थी।

घ) **ग्रामीण विकास योजनाओं का प्रवर्तन :** सरकार ने दरिद्रता की समस्याओं से निपटने के लिए अनेक कार्यक्रम शुरू किए। उत्पादन बढ़ाने के लिए अनेक योजनाएँ शुरू की

गईं, जैसे कि गहन कृषि ज़िला कार्यक्रम (आई.ए.डी.पी.) तथा अधिक-अन्न-उपजाओ अभियान (जी.एम.एफ.सी.)। कृषि-उत्पादन को बढ़ाने के लिए कुछ क्षेत्रों पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया।

कुछ अन्य बातों पर भी ज़ोर दिया गया। ये हैं – (i) बीजों की स्थानीय किस्मों में सुधार; (ii) कृषि प्रक्रियाओं में उर्वरकों तथा अन्य परिवर्तनों का अनुप्रयोग; (iii) फसल अधीन क्षेत्र का विस्तार, और (iv) सिंचित क्षेत्र का विस्तार (अनेक लघु व ब हद सिंचाई परियोजनाएँ बनाकर)।

ये सब प्रयास कृषि उत्पादन, खासकर खाद्य उत्पादन में कुछ सुधार में परिणत हुए। कृषि प्रौद्यागिकी में यदा कदा छिटपुट परिवर्तन भी होते रहे। जनसंख्या मोर्चे पर, तो, इस अवधि में बड़े भारी परिवर्तन हुए। जन-स्वास्थ्य नीतियों (व्यापक प्रतिरक्षीकरण, कस्बों में सार्वजनिक अस्पतालों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में जन-स्वास्थ्य केन्द्रों के निर्माण) के कारण से म त्यु दरें बहुत अधिक नीचे आ गईं और जन्म दर कुछ बढ़ गई। परिणामस्वरूप, जनसंख्या बड़ी द्रुत गति से बढ़ी जिससे खाद्य उपलब्धता और जनसंख्या व द्धि के बीच असंतुलन पैदा हो गया। खाद्य उत्पादन बढ़ाने के सभी प्रयास जनसंख्या की आवश्यकताओं के प्रसार के समक्ष अपर्याप्त रह रहे थे।

12.2.3 खाद्यान्न अभाव का विस्तार

1949-50 तथा 1964-65 के बीच कृषि दर खाद्यान्नों के लिए चक्रवर्धी व द्धिदर 2.98 प्रतिशत प्रति वर्ष तथा सभी फसलों के लिए 3.19 प्रतिशत प्रति वर्ष रही। उत्पादकता व द्धि दर खाद्यान्नों व सभी फसलों, दोनों के लिए 1.60 प्रतिशत प्रति वर्ष रही। यह रूद्धता की सूचक तो नहीं है, किन्तु 2.2 प्रतिशत प्रति वर्ष की तीव्र दर से बढ़ती जनसंख्या के कारण खाद्य पदार्थो की मांग में हो रही भारी व द्धि के कारण से खाद्य उपलब्धता की स्थिति बहुत अनिश्चित हो गई थी।

साठ के दशकमध्य में दो लगातार भीषण सूखा ने खाद्यान्न उत्पादन को 1964-65 में 8.9 करोड़ टन से घटाकर 1965-66 में 7.2 करोड़ टन तथा 1966-67 में 7.42 करोड़ टन पर पटक दिया। 1966 में खाद्यान्नों का एक करोड़ टन तक आयात करना पड़ा। यह भी घरेलू उत्पादन में कमी की भरपाई के लिए पर्याप्त नहीं था। इन परिस्थितियों में सरकार ने खाद्यान्नों का घरेलू उत्पादन बढ़ाने के विकल्पों की जाँच-पड़ताल शुरू कर की।

इस संबंध में अनेक नीतियाँ अपनाकर देखी गईं। पचास के दशक में खाद्य उत्पादन सुधारने के लिए अधिक-अन्न-उपजाओ अभियान (जी.एम.एफ.सी.) को परखा गया था। द्वितीय योजना (1956-61) के पहले तीन वर्षों में उत्पादन में रूद्धता देखी गई। 1957-58 तो विशेष रूप से एक बुरा वर्ष था। इस संकट काल में फोर्ड प्रतिष्ठान के विशेषज्ञ दल ने भारत सरकार से उन फसलों व क्षेत्रों पर विकास प्रयास केन्द्रित करने की सिफ़ारिश जहाँ खाद्य उत्पादन में व द्धि हेतु अधिकतम संभावना थी। इसने गहन-कृषि-ज़िला कार्यक्रम (आई.ए.डी.पी.) के स्वीकरण की ओर अग्रसर किया, जिसके दो विशिष्ट अभिलक्षण थे, नामतः (क) अनुसंधान के माध्यम से प्रत्येक फसल हेतु उत्कृष्ट कृषि पद्धतियों के एक संवेष्ट (Package) का विकास, और (ख) वांछित निवेशों और इन निवेशों के वित्तीयन हेतु वांछित ऋण-राशि की आपूर्ति के माध्यम से कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए खेतिहर किसानों को सहायता। यह पैकेज प्रस्ताव गहन-कृषि क्षेत्र कार्यक्रम (आई.ए.ए.पी.) अंतर्गत ही कुछ संशोधित रूप में लागू किया गया जो 1966-67 में लगभग दस प्रतिशत कृषित क्षेत्र पर फैला हुआ था।

परन्तु 1965-66 तथा 1966-67 में निरंतर अनाव ष्टियों ने आई.ए.डी.पी. अैर आई.ए.ए.पी. द्वारा प्राप्त उत्पादन में सारी व द्धि का सफाया कर दिया। खाद्यान्न उत्पादन 1964-65 में 8.9 करोड़ टन से 1965-66 में 1.7 करोड़ टन गिर गया। अगले वर्ष, यथा 1966-67 में, उत्पादन मात्र 20 लाख टन बढ़ा। इस वर्ष के दौरान खाद्यान्न आयात, अब तक का सबसे अधिक, 1.04 करोड़ टन पहुँच गया जिससे एक भयंकर स्थिति पैदा हुई (देखें तालिका 12.2)। तालिका से स्पष्ट है कि अनाज का आयात 1955 में 60 लाख टन से बढकर 1966 में एक करोड़ टन से भी अधिक हो गया। आयातों के बावज़ूद प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धता घट रही थी। यही नहीं खाद्यान्न-मूल्य सूचकांक भी पाँच वर्षों में 30 प्रतिशत तक उछला।

तालिका 12.2: 1951-66 के सरकारी लेखा में सकल आयात

('000 टन में)

वर्ष	कुल अनाज आयात	वर्ष	कुल अनाज आयात	वर्ष	कुल अनाज आयात
1951	4800	1957	3630	1963	4556
1952	3930	1958	3224	1964	3266
1953	2040	1959	3868	1965	7450
1954	830	1960	5137	1966	10340
1955	600	1961	3495		
1956	1400	1962	3640		

स्रोत : दाँतवाला (1996)।

निम्न विदेशी मुद्रा निधि तथा प्रतिकूल भुगतान-शेष ने सरकार को अमेरिका से राजनीतिक शर्तों से बंधा अनाज आयात करने को बाध्य कर दिया। इससे देश में संकट और गहरा गया। अनेक अन्तरराष्ट्रीय संगठनों तथा विद्वानों ने खाद्य अभाव की विपत्ति से उभरने में भारत की क्षमता पर ही प्रश्न उठाने प्रारंभ कर दिए।

सरकार ने स्वयं को किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में पाया। वह दीर्घकालिक आधार पर उत्पादन बढ़ाने की युक्तियाँ तलाश रही थी – आयात करने की आवश्यकता से छुटकारा और अपने लोगों की भोजन आपूर्ति भीख माँगे बग़ैर करना। घिसीपिटी उत्पादन तकनीकों के साथ उठाये गए कदमों से पैदावार व द्धि की कोई संभावना नहीं थी। कृषित क्षेत्र व सिंचाई का विस्तारण यथापूर्व धीमी गति से ही चल रहे थे। उत्पादन बढ़ाने हेतु कुछ करने की तत्काल आवश्यकता थी।

ऐसे समय संयोगवश, विकसित देशों में उच्च-उत्पादन-किस्म (एच.वाई.वी.) बीज (विशेषकर गेहूँ) विकसित किए गए। इस एच.वाई.वी. प्रौद्योगिकी ने उत्पादन सुधार की बाधाओं को दूर कर दिया क्योंकि ये बीज सिंचित अवस्था में बहुतायत से रासायनिक उर्वरकों को सोख लेने में सक्षम थे और बहुत ही ऊँची पैदावार देते थे। यह प्रौद्योगिकी भारत सरकार द्वारा तत्काल अपना ली गई। यह उन सभी संभावित क्षेत्रों पर संकेंद्रित कर दी गई जहाँ सुनिश्चित सिंचाई जैसी आवश्यक पूर्व-वांछनीयताएँ और सड़कें, बिजली तथा एक सक्रिय कृषकवर्ग जैसी अन्य आधारिक संरचनाएँ उपलब्ध थीं। बीज व उर्वरकों जैसी आवश्यक आगत सरकार द्वारा उदारता से प्रदान की गई।

12.3 विकसित देशों में उच्च उत्पादन बीजों का नव प्रवर्तन

यूजिरो हयामी एवं केनॉन एल. रुटन द्वारा उत्प्रेरित नवोत्पाद प्राक्कल्पना के अनुसार, पूँजी की आपेक्षिक प्रचुरता और भूमि का अभाव ही वे दो महत्त्वपूर्ण कारक हैं जिन्होंने भूमि-अपर्याप्त (जापान) तथा श्रमिक-प्रचुर अर्थव्यवस्थाओं में उच्च-उत्पादन किस्मों की खोज और प्रयोग की ओर प्रव त्त किया। उर्वरकों के सापेक्ष मूल्य में तीव्र ह्रास भी एक अतिरिक्त कारक था। इसके प्रत्युत्तर में, अनुसंधान को ऐसे बीजों की खोज पर संकेन्द्रित किया गया जो उच्च रूप से उर्वरक अवशोषक हों।

भूमि और खाद्य अभाव पर बढ़ती जनसंख्या के दवाब की चुनौती ने भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्थाओं को विकसित देशों से उपज-व द्धि प्रौद्योगिकियाँ उधार लेने पर बाध्य कर दिया। इस प्रौद्योगिकी का हस्तांतरण सी.आई.एम.एम.वाई.टी. और आई.आर.आर.आई. जैसे अंतरराष्ट्रीय अनुसंधान केन्द्रों द्वारा समन्वित, अनुकूली अनुसंधान द्वारा संभव बनाया गया। भारत में यह पहले-पहले भूमि-प्रचुर क्षेत्रों में और काफ़ी बाद में भूमि-अपर्याप्त क्षेत्रों में अपनायी गई। कारण मुख्यतः नई प्रौद्योगिकी की पर्यावरणीय अथवा कृषि संबंधी उपयुक्तता था। अनुकूल पर्यावरण से युक्त क्षेत्र भी – निवेश्य क्षमता और संस्थागत तैयारी, दोनों लिहाज से साधनसम्पन्न थे। निम्न से मध्यम वर्षा वाले परन्तु सुनिश्चित सिंचाई-स्रोतों से परिवेषित क्षेत्र एच.वाई.वी. प्रौद्योगिकी के प्रयोग हेतु सर्वाधिक उपयुक्त स्थल सिद्ध हुए। ये क्षेत्र सूर्य प्रकाश से पर्याप्त रूप से सम्पन्न हैं और कीट व रोगों से आपेक्षिक रूप से मुक्त हैं। पंजाब व हरियाणा सुनिश्चित सिंचाई वाले ऐसे राज्य हैं जहाँ किसान साधनसम्पन्न हैं और संवेदनशील प्रशासन से युक्त राज्य सरकारें भी कार्य कर रही थी। कृषि अनुसंधान, धीरे-धीरे नए इलाकों में किसानों की आवश्यकता के अनुरूप फैलता गया। वैज्ञानिकों ने प्रतिकूल कृषि-जलवायु पर्यावरण हेतु उपयुक्त प्रौद्योगिकी विकसित करने का प्रयास किया और साधन-विपन्न क्षेत्रों व किसानों हेतु उपयुक्त पैकेज व पद्धतियाँ खोज निकालीं।

इस संदर्भ में, उपज बढ़ाने में जैव-प्रौद्योगिकी की बड़ी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका है। यदि प्रौद्योगिक प्रगति पैमाने के प्रति संवेदन शून्य होती (यथा, उपज खेत के आकार का ध्यान किए बग़ैर बढ़ती) तो किसानों के सभी वर्ग समान रूप से लाभ उठाते। ऐसा संभव है, क्योंकि, जैव-प्रौद्योगिकी उर्वरकों व कीटनाशकों की बजाय बीजों पर ध्यान केन्द्रित करती है और बीजों से अपेक्षा होती है कि : (क) वे अधिक उपज देने के लिए आनुवांशिक रूप से परिष्कृत होंगे; (ख) वे कीट प्रतिरोधक होंगे; और (ग) उनमें उपज स्थिर होगी। इस प्रकार यह ग़रीब किसानों के अलावा दरिद्र क्षेत्रों के लिए भी लाभप्रद हो सकती है।

12.4 उच्च-उत्पादन किस्मों की विशेषताएं

हरित क्रांति का तत्त्व था– स्थानीय पारिस्थितिकियों के अनुकूल बीजों (ख़ासकर चावल व गेहूँ) की उच्च-उत्पादन किस्मों (एच.वाई.वी.) का विकास और व्यापक प्रयोग। ये उच्च-उत्पादन किस्में अधिक आगतों के आधार पर ऊँची पैदावार देने में सक्षम होती हैं। ये मज़बूत, लघु-डंठल-पादप किस्में अन्न की भारी पैदावार को धारण करने में सक्षम हैं।

उच्च-उत्पादन किस्म प्रौद्योगिकी का आगमन 'एच.वाई.वी. बीज-जल-उर्वरक' के एक पैकेज के रूप में होता है। ये सब एक साथ आवश्यक होते हैं – सही अनुपात में तथा व द्धि के विभिन्न चरणों में इनसे पैदावार 50 से 200 प्रतिशत तक बढ़ायी जा सकती है। ध्यान देने योग्य बात है कि एच.वाई.वी. बीज भूमि-बचतकारी और श्रमसाध्य नवोत्पाद हैं। वे उत्पादन के पैमाने से निरपेक्ष भी होते हैं और इसी कारण छोटे बड़े सभी किसान इनके प्रयोग से लाभान्वित हो सकते हैं।

12.4.1 जल के प्रति संवेदनशीलता

यद्यपि उच्च-उत्पादन-किस्म बीजों की निष्पादन क्षमता अपत ण और कीटों पर समुचित नियंत्रण पर भी निर्भर करती है, किन्तु जल-नियंत्रण सर्वोच्च निर्णायक कारक है। सिंचित क्षेत्रों में भी छोटी जल-शाखाएँ अक्सर अपर्याप्त होती हैं और निकास नालियाँ तो बहुत कम बनायी जाती हैं। इस प्रकार, उच्च-उत्पादन किस्मों हेतु वांछित सटीक जल नियंत्रण की आशा मुश्किल से ही की जा सकती है। उच्च-उत्पादन किस्में शीतोष्ण कटिबंध के भू प्रयोग प्रतिमान के अनुसार विकसित की गई थीं। ये प्रतिमान ऐसी सिंचाई प्रणालियों से युक्त अनुकूल पर्यावरणीय परिस्थितियों के लिए विकसित किए गए थे, जो सुनिश्चित जल-नियंत्रण प्रदान करती थीं। अपर्याप्तता और जलाधिक्य, दोनों ही उच्च-उत्पादन किस्मों के लिए हानिकारक हैं। न केवल जल वांछित मात्रा में उपलब्ध होना चाहिए, उसका प्रयोग भी पादप-व द्धि के विभिन्न चरणों में उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल रखना पड़ता है।

12.4.2 उर्वरकों तथा कीटनाशकों के प्रति संवेदनशीलता

उच्च-उत्पादन-किस्म बीज म दा पोषकों को पत्ता-व द्धि की बजाय अधिक अन्न-परिमाण में बदल देने की तकनीकी क्षमता रखता है। इस प्रकार, म दा में विद्यमान प्राकृतिक पोषकों से संबंधित व द्धि के अतिरिक्त यह व द्धि रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग से भी उत्पन्न की जा सकती है। ऐसे रासायनिक उर्वरकों की मात्रा जितनी अधिक होगी, अन्न-उत्पादन उतना ही अधिक होगा।

उर्वरकों का प्रयोग बड़े पैमाने पर खरपतवार-व द्धि को भी बढ़ावा देता है। ये बीज म दा—विशेष के लिए नए होते हैं और क्षेत्र के प्रति पर्यनुकूलन रहित होते हैं इसी कारण ये स्थानीय कीटों व रोगों का इन पर विशेष दुष्प्रभाव संभव है। ये बात देशी पारम्परिक किस्मों के साथ नहीं होती। अतः रोगाणुनाशकों और कीटनाशकों के प्रयोग की बहुतायत से आवश्यकता होती है।

12.4.3 अल्प परिपक्वता अवधि

इन बीजों के पौधे कम समयावधि में ही परिपक्व हो जाते हैं और ये प्रकाश-संवेदनशीलता रहित होते हैं। दूसरे शब्दों में उनकी परिपक्वता अवधि सूर्यप्रकाश मिलने की समयावधि पर निर्भर नहीं होती। इसके अतिरिक्त, ये पौधे आकार में बौने होते हैं, अर्थात ये पौधे देशी किस्मों के मुकाबले काफ़ी छोटे कद वाले होते हैं। परन्तु उच्च-उत्पादन किस्मों के पौधे प्रचुर अनाज-दानों से लदे रहते हैं। इन्हीं कारणों से यह आवश्यक हो जाता है कि फसल-कटाई कम अवधि में ही कर ली जाए।

उपर्युक्त से दो परिणाम निकलते हैं :

अ) लघु-अवधि और प्रकाश-संवेदनशीलता के कारण एक साल में बहु-फसल पैदावार की संभावना होती है। इस लिहाज से, नई प्रौद्योगिकी भूमि-बचतकारी है। चूँकि प्रत्येक फसल को परिपक्व होने के लिए कम ही समय चाहिए होता है। भूमि एक से अधिक फसलों के लिए उपलब्ध रहती है।

ब) तीव्र परिपक्वन के कारण काटी गई फसल के संरक्षण की आवश्यकता होती है। परिणामतः सुखाने और भण्डारण की सुविधाएं भी महत्त्वपूर्ण हैं।

पैदावार की द ष्टि से उच्च-उत्पादनकारी किस्मों के प्रारंभिक परिणाम आदर्श परिस्थितियों में नाटकीय रहे। पर्यवेक्षकों के लिए यह घटनाक्रम क्रांति से कम नहीं था। इन उच्च-उत्पादन किस्मों को अपनाने हेतु उपयुक्त परिस्थितियां ज्यादातर देश के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र (पंजाब,

हरियाणा तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश) तथा दक्षिण-पूर्व क्षेत्रों (तटीय आंध्र, तमिलनाडु में तंजौर ज़िले) में ही विद्यमान थीं। अतः सर्वप्रथम इन्हीं क्षेत्रों में इनका प्रयोग हुआ। परिष्कृत उपज और लाभ की द ष्टि से परिणाम बहुत अच्छे थे, अतः इन क्षेत्रों व अन्य क्षेत्रों के बीच चली आ रहीं क्षेत्रीय असमानताएँ और बढ़ गई। इस प्रौद्योगिकी के स्वीकृति ने कुछ तात्कालिक उद्देश्यों की प्राप्ति में सहयोग दिया जैसे– (i) उत्पादन बढ़ावा, (ii) आयात समाप्त करना, और (iii) लाखों लोगों के लिए आहार उपलब्ध करना।

जैसे कि हमने इकाई 11 में चर्चा की थी, भारत के विभिन्न क्षेत्रों में जलवायु संबंधी दशा के आधार पर भारी अन्तर हैं। ये क्षेत्र जलवायु, म दा, सिंचाई प्रणाली, कृषि-पद्धती तथा ऐतिहासिक घटनाक्रमों की द ष्टि से भिन्न हैं। इसी बात को ध्यान में रखते हुए देश अनेक कृषि-जलवायु कटिबन्धों में विभाजित है। मूल रूप से हमारे यहाँ निम्नलिखित मुख्य प्रकार हैं :

1) पंजाब, हरियाणा तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश से बने जलोढ़ मैदानी क्षेत्र (उत्तर-पश्चिमी)।
2) दक्षिण-पूर्वी नदीमुख भूक्षेत्र (तटीय आंध्र, तमिलनाडु में तंजौर से बने कृष्णा, गोदावरी और कावेरी नदीमुख भूक्षेत्र)।
3) अनुपजाऊ परन्तु प्रच्छन्न उपजाऊ क्षेत्र (पूर्व उत्तर-प्रदेश, बिहार, बंगाल, असम व उड़ीसा से बनीं मध्य व निम्न गंगाई कछार)।
4) प्रायद्वीपीय भारत (अर्ध-शुष्क क्षेत्र : महाराष्ट्र, गुजरात के कुछ भाग, आंध्र प्रदेश तथा कर्नाटक)।
5) शुष्क क्षेत्र (राजस्थान तथा गुजरात के कुछ हिस्से)।

आर्थिक विकास के लिहाज से ये कृषि-जलवायु कटिबन्ध तीन समूहों में विभाजित किए जा सकते हैं — (क) उन्नत क्षेत्र (उपर्युक्त 1 व 2) (ख) प्रच्छन्न उर्वर परन्तु अब तक बहुत अनुर्वर कटिबन्ध, (उपर्युक्त 3) और (ग) प्रायद्वीपीय भारत, (उपर्युक्त 4 व 5) जो भीषण प्राकृतिक बाधाओं से जूझता रहता है।

उच्च-उत्पादन किस्मों को अपनाने हेतु सभी आवश्यक परिस्थितियां जलोढ़ मैदानी क्षेत्रों तथा दक्षिण-पूर्वी नदीमुख क्षेत्रों में विद्यमान थी, अर्थात (i) सम द्ध सिंचाई स्रोत (उत्तर-पश्चिम में नलकूप तथा दक्षिण-पूर्व में नहर सिंचाई); (ii) विकसित आधारिक संरचना (सड़कों व विद्युत्मय गाँवों से युक्त); (iii) सम्पन्नतर होने के विचार से नए नवोत्पादों का स्वागत करने को उत्सुक साधन सम्पन्न तथा सक्रिय कृषक-समुदाय; और (iv) राजनीतिक स्थिरता तथा अधिक उत्तरदायी सरकारी तन्त्र। सरकार बीज, उर्वरक तथा कीटनाशक जैसी आगतें प्रदान करती थी। इसके अतिरिक्त, इन आगतों के सरलतर क्रय की सुविधा मुहैया कराने के लिए संस्थागत ऋण की सुविधा सुलभ कराने के लिए उपयुक्त व्यवस्था की रचना पर भी ज़ोर दिया गया। इसने विकास की ऐसी लहर को जन्म दिया कि सरकार अनेक कठिनाइयों से बच पाने में सफल रही।

बोध प्रश्न 1

1) कृषि-विकास को आगे बढ़ाने के लिए स्वतंत्रोत्तर काल में सरकार द्वारा उठाये गए प्रमुख कदम क्या हैं?

....

....

....

....

2) उच्च-उत्पादन-किस्म बीजों की तकनीकी विशेषताएँ क्या हैं?

....

....

....

....

....

12.5 उत्पादन व द्धि पर हरित क्रांति का प्रभाव

नई प्रौद्योगिकी के फलस्वरूप कृषि उत्पादन में यथेष्ठ व द्धि हुई है,। किन्तु व द्धि दर सर्वत्र एकसमान नहीं रही है। माइकल लिपटन (1989) के अनुसार हरित क्रांति की अवधि इन चार चरणों में बाँटी जा सकती है —

- 'सुखबोध' का **प्रथम चरण**। इसमें साठ के दशकांत के वर्ष आते हैं।
- असमानताओं, गरीबी की व द्धि की आशंका वाले **द्वितीय चरण** (सत्तर के दशकारम्भ वर्ष)।
- गरीब किसान की आय में व द्धि के बाद भी उसकी सापेक्ष दशा में अवनति वाला **त तीय चरण** (सत्तर के दशकांत वर्ष)।
- अति आशावाद भरा **चतुर्थ चरण** (अस्सी का दशक)।

इस प्रकार, प्रारम्भिक सुखबोध ने निराशावाद को जन्म दिया, उसके स्थान पर धीरे-धीरे नव आशावाद आया और अन्ततः प्रौद्योगिक परिवर्तनों की कुशलता, औचित्य तथा महत्त्व का यथार्थपूर्ण मूल्यांकन आरंभ हो गया है।

12.5.1 उत्पादन में व द्धि

साठ के दशकमध्योपरांत तथा उसके पूर्व (हरितक्रांत्योत्तर तथा हरित-क्रांति पूर्व अवधियाँ) व द्धि दरों पर बना रहा विशेषकर हरित क्रांति के आरम्भिक चरण के दौरान वाली दरों को लेकर काफी विवाद रहा है। एक द ष्टि से हरित-क्रांत्योत्तर अवधि में व द्धि दरें नाटकीय रूप से ऊँची रहीं और इस अवधि को कुछ विद्वानों (उदाहरणार्थ, दाँतवाला, मेलॅर) द्वारा कृषि में एक बदलाव की स्थिति कहा गया है। एक अन्य द ष्टि से, पचास के दशक में संव द्धि की दर हरित क्रांति की प्रारंभिक अवधि की संव द्धि दर से अधिक थी (सी.एच.एच. राव, सी.टी. कुरियन, आदि)।

जे.एम. राव तथा एस. स्टोर्म के अनुसार तो (देखे तालिका 12.3), कुल फसल उत्पादन की व द्धि दर 1949-65 के दौरान (हरित–क्रांतिपूर्व अवधि) में 3.1 प्रतिशत प्रति वर्ष थी जबकि हरित क्रांति के पहले दौर (1967-82) में 2.3 प्रतिशत प्रति वर्ष पर तेजी से आ गिरी। फिर भी, 1981-92 (हरित–क्रांति अवधि का दूसरा दौर) अवधि में इसमें अच्छा सुधार हुआ और यह 3.4 प्रतिशत वार्षिक पर पहुँच गई।

हरित-क्रांति पूर्व तथा हरित-क्रांत्योत्तर व द्धि दरों के सम्बन्ध में यह विवाद गणना विधि और आधार तथा अवधि वर्षों के चयन के कारण है। उदाहरण के लिए, यदि किसी ने 1960-61 से 1970-71 अवधि ली (जैसा कि सी.एच.एच. राव ने किया) तो उसे, कृषि उत्पादन सभी फसलों के लिए 2.1 प्रतिशत प्रति वर्ष तथा खाद्यान्न के लिए 2.5 प्रतिशत प्रति

वर्ष बढ़ती दिखाई दी। यदि हम 1965-66 तथा 1966-67 के अनाव ष्टि वर्षों के लिए समायोजन करते हैं तो व द्धि दरें क्रमशः 2.3 प्रतिशत प्रतिवर्ष (सभी फसलें) तथा 2.8 प्रतिशत प्रतिवर्ष (खाद्यान्न) तक चली जाती हैं। फिर भी, ये व द्धि-दरें 1949-50 से 1959-60 के वर्षों की दरों की अपेक्षा कम ही रहती हैं।

दूसरी और यदि कोई 1962-63 से 1970-73 की अवधि लेता है, तो व द्धि दरें बनती हैं : 2.25 प्रतिशत प्रति वर्ष (सभी फसलें) तथा 2.74 प्रतिशत प्रति वर्ष (खाद्यान्न)। 1954-57 से 1957-65 की अवधि के लिए ये दरें क्रमशः 2.60% व 2.54% हैं।

अनुसंधानकर्त्ताओं ने भारतीय कृषि के संव द्धि को एक अलग तरीके से भी विश्लेषित किया है– तुलनीय मौसम-वर्षों द्वारा। सी.एच.एच. राव ने पचास व साठ की दशकावधियों में उच्चे उत्पादन वर्षों के बीच खाद्यान्न उत्पादन में व द्धि दरों की तुलना की। उनके अनुसार, यह विश्वास कर लेने के कारण विद्यमान हैं कि हरित क्रांति के बिना भी व द्धि दर (खाद्यान्न उत्पादन की) लगभग 2 से 2.5 प्रतिशत प्रति वर्ष बनाई रखी जा सकती थी।

दूसरी ओर, इसी प्रकार की विधि अपना कर मेलॅर एक भिन्न निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। उनके अनुसार, 1964-65 तथा 1970-71, दोनों अवधियों में तमाम भारत के अधिकांश भाग में अनुकूल मौसम और अत्युत्तम फसल उत्पादन देखा गया। इस अवधि में खाद्यान्न उत्पादन 1.91 करोड़ टन, 3.3 प्रतिशत वार्षिक व द्धि दर से बढ़ा। तुलनात्मक रूप से, यह इसी प्रकार के 1949-50 से 1960-61 फसल वर्षों के बीच इसी माप द्वारा दर्शायी गई व द्धि दर की अपेक्षा 1.8 प्रतिशत प्रति वर्ष अधिक है।

सी.टी. कुरियन ने कृषि-उत्पादन व द्धि पर उच्च-उत्पादन किस्म का प्रभाव द्वारा अतिशयोक्ति ही माना है। तमिलनाडु की कृषि का विश्लेषण करने के बाद उन्होंने पाया किया कि उच्च-उत्पादन-किस्म कार्यक्रम का मूल्यांकन अक्सर साठ के दशकमध्य के खराब प्रदर्शन की प ष्ठभूमि के मुकाबले किया गया है। 1968-69 व 1969-70 के बीच धान की पैदावार में 13.01 प्रतिशत की व द्धि तथा 1969-70 व 1970-71 के बीच और अधिक प्रभावशाली 24.80% प्रतिशत व द्धि के उदाहरण 'हरित क्रांति' के योगदान के रूप में दिए जाते हैं। इन अंकों को देखने मात्र से एक 'क्रांति' का आभास होता है। लेकिन दीर्घ परिप्रेक्ष्य में हरित क्रांति की उपलब्धियाँ कहीं अधिक सन्तुलित हैं। हरित-क्रांत्योत्तर व द्धि-दरें पचास के दशक में प्राप्त दरों से काफी नीचे हैं। 1968-71 के दौरान व द्धि निष्पादन, तथा 1974-76 के दौरान और भी अधिक आश्चर्यजनक व द्धि निष्पादन, को तो व द्धि दर की पुनः प्राप्ति ही माना जाना चाहिए।

कुरियन के अनुसार, यदि हम 'पुनर्प्राप्ति दरों' को समायोजित करते हैं तो हरित क्रान्ति पश्चात् इनका स्तर प्रायः 6 प्रतिशत से कम ही रहा है – जबकि पचास के दशक में यह वर्ष प्रतिवर्ष व द्धि 7 से 8 प्रतिशत रही थी।

12.5.2 व द्धि के स्रोत

हरित-क्रांतिपूर्व अवधि की तुलना में हरित-क्रांत्योत्तर अवधि में व द्धि-स्रोतों पर प्रायः मतैक्य है। हरित-क्रांतिपूर्व अवधि में (तालिका 12.3 में अवधि–II) खाद्यान्न उत्पादन में व द्धि का कारण समान रूप से क्षेत्र-विस्तार तथा उपज-व द्धियों को बताया जाता है। दूसरी ओर, हरित-क्रांति के पहले दौर में कृषि-विकास (तालिका 12.3 में आव त्त–III) क्षेत्र-विस्तार में तीव्र कमी किन्तु उत्पादिता में अच्छी खासी व द्धि से संभव हो पाया था। क्षेत्र विस्तार ने उत्पादन में केवल 0.37 प्रतिशत का योगदान दिया, जबकि उत्पादिता व द्धि का योगदान 1.85 प्रतिशत प्रति वर्ष रहा है। फिर भी, इस अवधि में सभी फसलों में उत्पादिता सुधार दर क्षेत्र-

विस्तार की दर में कमी की भरपाई करने की द ष्टि से बहुत सीमित थी। परिणामस्वरूप, उत्पादन-व द्धि दर अवधि-II (1949-65) के दौरान 3.13 प्रतिशत प्रति वर्ष से अवधि-III (1967-81) के दौरान 2.29 प्रतिशत प्रति वर्ष पर आ गिरी।

तालिका 12.3 : कृषि विकास- 1891-1991 (प्रतिशत प्रति वर्ष)

	स्वतंत्रता पूर्व अवधि (1891-1946)			**हरित-क्रांतिपूर्व अवधि (1949-50 से 1964-65)**			**आरम्भिक हरित-क्रांति अवधित (1967-68 से 1982-82)**			**हाल की हरित-क्रांति अवधि (1981-82 से 1991-92)**			**पिछले दशक के दौरान (1990-91 से 1998-99)**		
	I			**II**			**III**			**IV**			**V**		
	क्षे त्रफल	उपज	उत्पादन	क्षे त्रफल	उपज	उत्पादन	क्षे त्रफल	उपज	उत्पादन	क्षे त्रफल	उपज	उत्पादन	क्षे त्रफल	उपज	उत्पादन*
क) खाद्यान्न	0.31	–0.18	0.11	1.41	1.43	2.93	0.37	1.85	2.21	–0.26	3.19	2.92	–0.1	1.4	1.8
i) चावल				1.33	2.13	3.49	0.69	1.45	2.16	0.62	3.25	3.87	0.5	1.3	1.9
ii) गेहूँ				2.68	1.27	3.99	2.60	2.55	5.21	0.28	3.06	3.33	1.7	1.6	3.1
iii) ज्वार				0.99	1.50	2.50	–0.84	3.50	2.61	–1.96	1.83	-0.10			
iv) बाजरा				1.08	1.24	2.34	–1.03	0.33	–0.78	–0.90	2.33	1.49	–1.8	2.0	0.2
v) मक्का				2.66	1.18	3.87	0.10	0.49	0.58	0.11	2.46	2.62			
vi) दलहन				1.90	–0.22	1.39	0.47	-0.65	–0.17	0.10	1.13	1.26	–0.2	1.7	1.0
ग़ैर-खाद्यान्न	0.42	0.86	1.31	2.52	0.93	3.54	1.06	1.34	2.41	1.71	2.55	4.30	1.5	1.4	3.3
सभी फसलें	0.40	0.01	0.37	1.61	1.30	3.13	0.54	1.74	2.29	0.49	2.93	3.43	0.4	1.4	2.2

स्रोत : मोहन राव (1998) तथा बी.एन. राव (2000)।

टिप्पणी : * स्तम्भ-V में प्रस्तुत उत्पादन व द्धि दर 1990-91 से 1999-2000 की अवधि के लिए है।

अवधि-IV में (वर्ष 1980-92) निष्पादन में अधिक सराहनीय रहा है। इस काल में हुई सारी संव द्धि का श्रेय उत्पादिता में हुई व द्धि को दिया जा सकता है।

12.6 भारत में उच्च-उत्पादन किस्मों का प्रसार

उच्च-उत्पादक-किस्म बीजों के अन्तर्गत बीजित क्षेत्र के प्रसार और उर्वरक (इस पैकेज का द्वितीय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटक) प्रयोग में परिवर्तन द्रुत व नाटकीय है। उच्च-उत्पादक-किस्म प्रौद्योगिकी के अन्तर्गत क्षेत्र के प्रसार को सामान्यतया स्वीकरण प्रक्रिया के एक प्रतिमान के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। यह बात किसानों के विभिन्न वर्गों के साथ-साथ विभिन्न राज्यों के बीच एक नयी बात के प्रसार को स्पष्ट करती है।

किसानों द्वारा किसी नवप्रवर्तन का अपनाया जाना शुरू-शुरू में मन्थर गति से बढ़ता है। किन्तु, समय के साथ स्वीकरण दर सार्थक होती जाती है और फिर तो यह एक तीव्र गति दर से बढ़ने लगती है। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि अधिकांश लोग इसे अपना नहीं लेते। इसके बाद भी स्वीकरण बढ़ता है, पर एक ह्रासमान दर से। इस स्वीकरण के हम तीन चरण मान सकते हैं : प्रारंभिक चरण में ग्रहणशील किसानों में स्वीकरण की

अनुपात बहुत धीमे बढ़ता है, दूसरे चरण में व द्धि में तेजी आता है और तीसरे चरण में व द्धि धीरे-धीरे शिथिल हो जाती है। यही सुपरिचित व द्धि-पथ है, जो किसी नवोत्पाद का स्वीकरण द्वारा एक प्रसामान्य वितरण का अनुसरण करने की ओर संकेत करता है। इस विश्लेषण विधि में किसी नवोत्पाद के ग्राहक सामान्यतः तीन समूहों में वर्गीकृत किए जाते हैं : आद्य ग्राहक, अधिकांश ग्राहक तथा पछेते ग्राहक।

आद्य ग्राहकों के विशिष्ट लक्षण हैं कि वे अपेक्षाकृत युवा, अधिक शिक्षित, साहसी और ज़ोखिम लेने को तत्पर होते हैं। वे बड़े-बड़े फार्म संचालित करते हैं और ऊँची आय व सामाजिक प्रतिष्ठा संपन्न होते हैं। इसके विपरीत, पछेते ग्राहक अपेक्षाकृत वयस्वी, कम शिक्षित, सुरक्षा-प्रव त्त (रूढ़िवादी) तथा कम आय वाले छोटे खेतों के संचालक होते हैं। इन्हीं लक्षण–विशेष के कारण किसी नवोत्पाद के आद्य ग्राहक प्रचुर आय लाभ और असाधारण मुनाफ़ा कमाते हैं। जब तक अधिकांश वर्ग इस नवोत्पाद को अपना पाता है, आद्य ग्राहकों की भांति धनोपार्जन के अवसर सिमट जाते है, उत्पादन की लागतें बढ़ जाती हैं और उत्पाद-मूल्य गिर जाते हैं। इसी कारण एक नवोत्पाद से औसत ग्राहक ज़्यादा नहीं कमा पाता जबकि पछेते ग्राहकों को तो कुछ भी नहीं मिलता।

उच्च उत्पादन किस्मों से केवल उत्पादन और शुद्ध लाभों में ही व द्धि नहीं आई है–इनके लिए किसानों द्वारा चुकाई गई नकद लागतें भी देसी किस्मों की अपेक्षा कई गुना पायी गई हैं।

12.6.1 क्षेत्र में प्रसार

1965 में एक सीमित सी शुरुआत से बढ़कर उच्च-उत्पादन किस्मों का प्रयोग 1968-69 में 90 लाख हेक्टेयर तक फैल गया । पहले दौर (1967-81) के अंत तक यह कुल फसल-क्षेत्र के लगभग आधे पर फैल गया था। बाद के वर्षों यह अन्य भागों में फैला और वर्तमान में कुल फसल-क्षेत्र के तीन-चौथाई से भी अधिक पर फैला है (देखें तालिका 12.4)। फिर भी, आपको स्मरण रखना होगा कि उच्च-उत्पादनकारी-किस्म के अन्तर्गत क्षेत्र में फसलों के अनुसार भिन्नता होती है। इसका प्रसार गेहूँ के मामले में सर्वोच्च रहा है। अस्सी के दशकांत तक गेहूँ क्षेत्र का लगभग 90% उच्च-उत्पादन किस्म के अन्तर्गत आ गया था। चावल के मामले में यह लगभग 60% पर ही टिका है। मक्का, ज्वार और बाजरा फसलों

तालिका 12.4 : भारत में उच्च-उत्पादन-किस्म कार्यक्रम की प्रगति : 1966-98

(उच्च-उत्पादन-किस्म के अन्तर्गत क्षेत्र, लाख हेक्टियर में)

फसल	1966-67	1971-72	1976-77	1981-82	1986-87	1987-88	1988-89	1990-91	1991-95	1997-98
धान	8-8 (2.00)	74.1 (19.62)	133.4 (34.64)	196.9 (48.37)	240.2 (58.90)	207.5 (54.78)	290.0	27.4	31.0	32.2
गेहूँ	5-4 (4.10)	78.6 (41.07)	145.2 (69.40)	167.5 (75.64)	191.4 (83.90)	196.1 (86.50)	220.0	21.0	23.2	23.0
मक्का	2.1 (4.10)	4.4 (7.76)	10.5 (17.67)	269.6 (26.96)	21.9 (37.30)	19.4 (35.19)	25.0	2.6	3.4	3.6
ज्वार	1.9 (4.11)	6.9 (15.03)	23.7 (23.37)	38.8 (35.20)	55.0 (34.74)	54.4	60.0	7.1	7.1	9.0
बाजरा	0.6 (0.50)	17.7 (19.20)	22.7 (21.11)	45.7 (38.78)	52.7 (47.00)	34.9 (36.09)	55.0	5.7	5.4	7.0
कुल	18.8	181.7	335.6	464.9	561.3	512.3	650.0			

(कोष्ठक में दिए गए अंक फसल के अंतर्गत कुल क्षेत्र की प्रतिशतता को दर्शाते हैं)।

स्रोत : दाँतवाला (सं.) 1991 तथा इकॅन्मिक सर्वे 2001।

के मामले में केवल लगभग एक-तिहाई क्षेत्र में ही में उच्च-उत्पादन किस्मों का प्रयोग हो रहा हैं।

आप इस तथ्य से उच्च-उत्पादन-किस्म बीजों के प्रसार का अनुमान लगा सकेंगे कि तमिलनाडु में उच्च-उत्पादन किस्म के अन्तर्गत क्षेत्र 1969 में 4% की एक संकुचित शुरुआत से पाँच वर्षों के भीतर, यथा 1974 तक, 25% क्षेत्र से अधिक तक फैल गया।

12.6.2 आगतों का प्रसार

लगभग सभी आगतों के प्रयोग में तीव्र प्रसार उच्च-उत्पादन-किस्म प्रौद्योगिकी के प्रसार का एक अन्य सूचक है। हम इस पाठांश में उर्वरकों तथा यंत्रें पर विचार करेंगे।

तालिका 12.5 : भारत में रासायनिक उर्वरकों की खपत : 1951-52 से 1995-96

(पोषकों के *000 टन)

वर्ष	नाइट्रोजन खाद	फॉस्फेट खाद	पोटाश खाद	कुल
1951-52	58.7	6.9	–	65.6
1960-61	211.7	53.1	29.0	293.4
1970-71	1487.1	462.0	228.2	2117.3
1980-81	3678.1	1213.6	623.9	5515.6
1995-96	9800.0	2900.0	1200.0	13900.0
वृद्धि दर (प्रतिशत प्रति वर्ष)				
1951-88	13.62	17.47	17.45	14.65
1951-66	17.29	23.48	27.50	19.09
1966-88	9.66	11.10	10.37	10.06
1966-77	11.34	12.02	10.68	10.98
1977-88	7.17	10.11	6.16	7.71

स्रोत : दाँतवाला (सं.) 1991 तथा इकॅन्मिक सर्वे 2000।

तालिका 12.6 : भारतीय कृषि में निवेश प्रयोग : 1950-51 से 1990-91

मद	इकाई	1950-51	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91
बैल	संख्या/1000 हे. स.कृ.क्षेत्र	0.5	0.5	0.5	0.5	
ट्रैक्टर	संख्या/1000 हे. स.कृ.क्षेत्र	0.1	0.2	0.9	2.7	5.8
विद्युत जलकल	संख्या/1000 हे. स.कृ.क्षेत्र	1.0	16.8	52.0	59.8	
डीज़ल जलकल	संख्या/1000 हे. स.कृ.क्षेत्र	2.7	19.1	50.1	56.0	

रासायनिक उर्वरक	किग्रा/हेक्टयर	नगण्य	1.9	13.1	31.8	69.7
बिजली	करोड़ किलोवाट घण्टा	20.3	83.3	447.0	1448.9	5032.1
वास्तविक सिंचित क्षेत्र	(करोड़ हेक्टेयर)	2.09	2.47	3.11	3.87	4.74
सकल सिंचित क्षेत्र	(करोड़ हेक्टेयर)	2.26	2.80	3.82	4.98	6.18
निम्न में आधुनिक निवेशों का अंश :						
अ) कुल आगत (% अंश)		1.1	2.9	13.5	21.5	36.2
ब) उत्पादन (% अंश)		0.3	0.7	3.3	7.1	11.8

स्रोत : जे. मोहन राव (1998)।

तालिका 12.5 दर्शाती है कि 1951-52 से 1995-96 अवधि के दौरान नाइट्रोजन उर्वरकों की खपत 100 गुना से भी अधिक बढ़ी और फॉस्फेट उर्वरकों की खपत 329 गुना बढ़ी। इसी अवधि में पोटाश उर्वरकों की खपत प्रायः नगण्य से 12 करोड़ टन पहुँच गई। उर्वरकों की कुल खपत 230 गुना बढ़ी है। 1951-88 के दौरान समग्र उर्वरकों के प्रयोग की हेतु व द्धि दर 14.65 प्रतिशत प्रति वर्ष रही।

आगत प्रयोग पर तालिका 12.6 दर्शाती है कि ट्रैक्टर, पम्पसैट, उर्वरकों समेत 'आधुनिक' आगतों की सुनिश्चित व द्धियाँ मशीनीकरण की ओर इंगित करती है। यह प्रव त्ति उच्च-उत्पादन-किस्मों के प्रयोग से सशक्त हुई है। प्रति हेक्टेयर, कृषि लागत भी इस अवधि में बढ़ती रहती है।

12.6.3 उच्च-उत्पादन किस्मों के प्रसार में संरोध

उच्च-उत्पादन-किस्म बीजों के प्रसार में सिंचाई की गुणवत्ता तथा अन्य पूर्वापेक्षाएँ बाधा डालती हैं। चावल को ही लें, परिपक्वन काल में जल–अवरोध तथा बादल छाये रहने से पैदावार घटती है। ऐसी परिस्थितियों में यह फसल कीटों के प्रति अति संवेदनशील हो जाती है। रबी के मौसम में तेज धूप अकेले ही लगभग 20-25 प्रतिशत पैदावार बढ़ा देती है। गेहूँ के मामले में, सिंचाई निश्चित अन्तराल पर समयानुसार करने से पैदावार 40 प्रतिशत बढ़ सकती है। इस प्रकार की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए जल के नियंत्रित स्रोत होने अत्यावश्यक हैं। इस प्रकार, उच्च-उत्पादन-किस्म प्रौद्योगिकी की सफलता निश्चित करने के लिए सिंचाई एक पूर्वापेक्षा हो जाती है।

धान में नई प्रौद्योगिकी के प्रसार में मुख्य अवरोधों का निम्नलिखित रूप में वर्णन किया जाता है : (i) निकृष्ट फार्म-प्रबंधन, (ii) किसान में ज्ञानाभाव, (iii) अपर्याप्त विस्तार, (iv) निम्न मूल्य, (v) असंतोषजनक भू-काश्तकारी व्यवस्था, और (vi) अपर्याप्त संस्थागत ऋण। वैसे इन कारणों ने, गेहूँ की फसल हेतु उच्च-उत्पादन-किस्म अधीन क्षेत्र को प्रभावित नहीं किया है। एक ही प्रौद्योगिकी एक अनाज (चावल) पर प्रतिकूल असर डालती है और दूसरी (गेहूँ) पर नहीं। सम्भवतः उपर्युक्त कारक समुचित जलापूर्ति तथा सिंचाई गुणवत्ता जैसी अनुकूल भौतिक पर्यावरणीय परिस्थितियों में प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालेंगे। गेहूँ के लिए तो ये

परिस्थितियाँ समूचे भारत और पाकिस्तान में मिल जाती हैं जबकि चावल को ये इस उपमहाद्वीप में केवल पाकिस्तान में ही मिल पाती हैं।

विशेष बात जो यह है कि उर्वरक प्रयोग के बिना भी नई किस्मों की पैदावार स्थानीय किस्मों की पैदावार से बहुत अधिक होती है। एक सिंचित जोत का संचालक उर्वरक खरीदने के पैसे न होने पर भी हमेशा बड़ी से बड़ी फसल काट सकता है। एक असिंचित जोत संचालक ऐसा भाग्यशाली नहीं है। सिंचाई अभाव उच्च-उत्पादन-किस्म उगाने की सम्भावना पूर्णतः समाप्त कर देता है— सिंचाई बिना अन्य आगतें किसी काम की नहीं।

इकाई 10 में आपने देखा था कि भारत में सिंचाई विकास का एक लम्बा इतिहास है। उत्तर-पश्चिमी भारत और पंजाब (अब पाकिस्तान में चला गया भाग मिलाकर) में गेहूँ की नई किस्मों का सर्वाधिक प्रभाव रहा है। स्वतंत्रतापूर्व काल में, इस क्षेत्र में जल-संसाधनों के विकास हेतु काफ़ी निवेश किया गया था। वास्तव में, 1898-1914 की अवधि में ही सिंचाई में सकल निवश को लगभग 50 प्रतिशत अकेले पंजाब प्रांत में ही किया गया था। इसके अतिरिक्त, 1947 से लेकर अब तक सिंचाई विकास में तथा सिंचित क्षेत्र-विस्तार में काफ़ी निवेश किया गया है। आपको स्मरण होगा कि उच्च–उत्पादन किस्में देश के इसी भाग में सबसे पहले प्रचलित की गई थीं क्योंकि यहाँ सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध थीं।

बोध प्रश्न 2

1) भारत में कृषि उत्पादन-व द्धि पर हरित क्रांति के प्रभाव पर चर्चा करें।

....

....

....

....

....

2) भारत में एच.वाई.वी. के प्रसार में क्या बाधाएँ आती हैं?

....

....

....

....

....

12.7 सारांश

साठ की दशकावधि तक भारत में खाद्यान्न का भीषण अभाव था। इस समस्या से उभरने के लिए सरकार ने नई प्रौद्योगिकी के प्रवर्तन पर बल दिया। नए क्षेत्रों में कृषि का प्रसार करने की सम्भावनाएं बहुत कम थीं और नई प्रौद्योगिकी के माध्यम से पैदावार बढ़ोतरी ही एक व्यवहार्य विकल्प था। इसी दौरान बीजों की उच्च उत्पादन देने वाली किस्मों के क्षेत्र में एक नई वैज्ञानिक खोज की गई। सरकार द्वारा संगठित प्रयासों के माध्यम से भारत में एक विशाल स्तर पर उच्च-उत्पादन-किस्म प्रौद्योगिकी का प्रवेश कराया गया।

उच्च-उत्पादन-किस्म प्रौद्योगिकी ने कृषि उत्पादन में फसलों की उपज व द्धि के माध्यम से भारी योगदान दिया है। यह प्रौद्योगिकी कृषकों के बीच बहुत तेज़ी से अपनायी भी गई। बहरहाल, यह चावल व अन्य अनाजों की अपेक्षा गेहूँ के मामले में अधिक अपनायी गई। सुनिश्चित सिंचाई सुविधाओं का अभाव ही इन किस्मों के प्रसार में विसंगतियों का एक महत्त्वपूर्ण कारण माना जाता है। उच्च-उत्पादन-किस्म प्रौद्योगिकी को अपनाये जाने के साथ ही रासायनिक खादों व आधुनिक उपकरणों का प्रयोग भी बढ़ा है।

12.8 शब्दावली

उपज : उत्पादन प्रति हेक्टेयर के माध्यम से मापी जाने वाली भूमि की उत्पादकता; पैदावार।

कृषि का वाणिज्यीकरण : वाणिज्यीकरण सामान्यतः मण्डी के लिए खेती को इंगित करता है, न कि स्व–उपभोग के लिए। इस प्रकार कपास, तम्बाकू तथा गन्ना जैसे नकदी फसलों की खेती कृषि के वाणिज्यीकरण की ओर प्रव त्त करती है। प्रायः अंग्रेजों को इस बात का दोष दिया जाता है कि उन्होंने भारतीय किसानों पर खाद्यान्न की बजाय नकदी फसलें उगाने हेतु दवाब डाला। ऐसा ख़ासकर इसलिए है कि उस समय भारत को खाद्यान्न की आवश्यकता थी, परन्तु नकदी फसलों को इसलिए बढ़ावा दिया गया अथवा थोपा गया ताकि इनको ब्रिटेन निर्यात किया जा सके।

भूमि-बचतकारी प्रौद्योगिकी : प्रौद्योगिकी में कोई भी सुधार जो कृषि उत्पादन में भूमि-प्रयोग को कम करता है। अल्पावधि परिपक्वन और बहु-फसल लेना दर्शाता है कि एक ही भू-खण्ड का एक वर्ष में एक से अधिक बार सदुपयोग किया जा सकता है।

12.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Kurien, C.T., 1981, *Dynamics of Rural Transformation*: *A Study of Tamil Nadu, 1950-75*, Orient Longman.

Blyn, G, 1983, The Green Revolution Revised, *Economic Development and Cultural Change.*

Dantwala, M.L., 1991, *Indian Agricultural Development since Independence: A Collection Essays*, Oxford and IBH Publishing Co.

Byres, T. J., 1972, 'The Dialectic of India's Green Revolution', *South Asian Review*, Vol. 5, No. 2.

Rao, V.M., 2000, *Modernising Indian Agriculture: Priority Tasks and Critical Policies*, DRG Study No. 21, Reserve Bank of India, Mumbai.

Rao, C.H.H., 1994, *Agricultural Growth, Rural Poverty and Environmental Degradation in India*, Oxford University press. Delhi.

Lipton, M., 1989, *New Seeds and Poor People*, Heritage Publisher, Delhi.

Sen, B., 1974, *The Green Revolution in India : A perspective*, New York, Wiley.

12.10 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

बोध प्रश्न 1

1) उठाए गए पहलकारी कदम थे : पंचवर्षीय योजनाओं, भूमि-सुधार उपायों तथा ग्रामीण विकास योजनाओं की पुर्नस्थापना। विस्त त विवरण के लिए देखें उप-भाग 12.2.2।

2) उच्च-उत्पादन-किस्म बीज जल तथा उर्वरकों जैसी आगतों के प्रति संवेदनशील होते हैं। वे अल्पावधि परिपक्वन वाले और छोटे डंठल वाले होते हैं। वे म दा-पोषकों को पत्तियों की बजाय अनाज/दानों में बदलते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) हरित-क्रांत्योत्तर काल के विभिन्न चरणों में कृषि उत्पादन में व द्धि दरों का आकलन करें। तालिका 12.3 भी देखें। खाद्यान्न, गेहूँ तथा चावल की व द्धि दरों की जाँच करें और विभिन्न चरणों के दौरान गेहूँ चावल के बीच अन्तर स्पष्ट करें।

2) उप-भाग 12.6.3 पढ़ें और उच्च-उत्पादन किस्मों के प्रसार में मुख्य बाधाओं का उल्लेख करें। ये बाधाएँ यह विचार स्पष्ट करेंगी कि क्यों उच्च-उत्पादन किस्म चावल के मामले में, खासकर पूर्वी भारत में, सफल नहीं हो सकीं।

इकाई 13 नवीन प्रौद्योगिकी तथा लाभों का वितरण

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 हरित क्रांति का प्रभाव
13.3 क्षेत्रीय असमानताएँ
13.4 विभिन्न खेतों मे उत्पादिता की असमानताएँ
13.5 कृषि-श्रमिकों पर प्रभाव
13.6 फसलों के बीच असमानताएँ
13.7 उच्च-उत्पादन-किस्म प्रौद्योगिकी की सीमाएँ
13.8 सारांश
13.9 शब्दावली
13.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
13.11 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

13.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस स्थिति में होंगे कि निम्न पर हरित क्रांति के प्रभावों का मूल्यांकन कर सकें :

- क्षेत्रीय असमानताएँ;
- खेतों के बीच असमानताएँ; और
- फसलों के बीच असमानताएँ।

13.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने भारत में कृषि-उत्पादन व द्धि पर नई प्रौद्योगिकी के प्रभाव पर चर्चा की थी। नई प्रौद्योगिकी, (हरित क्रांति के नाम से प्रसिद्ध), के पदार्पण में सम्मिलित था – रासायनिक उर्वरकों तथा सिंचाई सुविधाओं की उपस्थिति में उच्च-उत्पादन-किस्म बीजों का प्रयोग। इस पदार्पण के कुछ वर्षों में ही भारत में कृषि उत्पादन में एक तीव्र विकास दिखाई दिया, जो मुख्यतः फसलों की पैदावार में व द्धि द्वारा संभव बनाया गया था। यह नई प्रौद्योगिकी उस भीषण खाद्य संकट को दूर करने में सक्षम रही जिसका भारत ने साठ के दशक में सामना किया था।

किन्तु, कुछ प्रश्न हमारे मस्तिष्क में अवश्य उभरते हैं : हरित क्रांति से लाभ किसे हुआ? क्या इसका सकारात्मक प्रभाव देश भर में अनुभव किया गया अथवा यह कुछ ही विशेष क्षेत्रों तक ही सीमित रहा? क्या नई प्रौद्योगिकी के प्रवर्तन से किसानों के सभी वर्गों को लाभ हुआ? हम इस इकाई में ऐसे कुछ प्रश्नों का उत्तर पाने का प्रयास करेंगे।

13.2 हरित क्रांति का प्रभाव

हरित क्रांति के लाभों पर चर्चा करने से पूर्व हम इसके उस प्रभाव पर बल दे रहे है जो सारे देश को प्राप्त हुआ है :

1) उच्च-उत्पादनकारी-किस्म (HYV) प्रौद्योगिकी का वास्तविक महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि इसने कृषि के और अधिक विकास के लिए एक आधार प्रदान किया। इसने आत्म-निर्भरता प्राप्त करने में मदद की और गत कुछ वर्षों से कुछ निर्यात भी किए जा रहे हैं। इस प्रकार इसने भारत की भिक्षा-पात्र से निर्यात क्षमता तक यात्र में योगदान दिया है। नई प्रौद्योगिकी ने न सिर्फ खाद्य आयात में कटौती की, इसने विकसित देशों, विशेषकर अमेरिका से खाद्य सहायता से जुड़ी शर्तों वाली अपमानजनक स्थिति से भी बचाया। इसने पचास के दशकोपरांत जनसंख्या विस्फोट से कदम मिलाकर चलने में कृषि को सहायता दी है (देखें तालिका 13.1)।

तालिका 13.1 : जनसंख्या व द्धि बनाम कृषि-व द्धि

वर्ष	जनसंख्या कुल जनसंख्या (करोड़ में)	वार्षिक मिश्र-व द्धि दर(%)	अवधि	कृषि-उत्पादन व द्धि (% प्रतिवर्ष)
1951	36.11	1.25	1949-50 से 1964-65	3.13
1961	43.92	1.96	1967-68 से 1980-81	2.38
1971	54.82	2.20	1980-81 से 1991-92	3.21
1981	68.52	2.22	1949-50 से 1991-92	2.70
1991	84.43	2.11		
2000	98.73	1.09		

स्रोत : वी.एम. राव (2000)।

तालिका 13.2 : क्षेत्र, उत्पादन तथा उपज की सूचियाँ – सभी फसलें

(आधार : 1981-82 को समाप्त वर्षत्रय = 100)

वर्ष	क्षेत्र	उत्पादन	उपज
1964-65	91.7	76.4	88.3
1965-66*	90.7	63.7	73.2
1966-67*	90.6	63.0	73.6
1967-68	94.6	77.1	86.8
1971-72	95.8	85.2	91.6
1972-73*	92.5	78.2	86.0
1973-74	98.2	86.5	91.1
1986-87	100.3	115.2	112.4
1987-88*	96.0	115.3	114.4
1988-89	103.4	140.0	130.5

टिप्पणी : अनाव ष्टि वर्ष तारांकित है। तालिका में शेष वर्ष सूखे के प्रभाव से मुक्त माने जाते हैं।

स्रोत : वी.एम. राव (2000)।

2) बार-बार होने वाली अनाव ष्टियों के प्रभाव का सामना करने की क्षमता बढ़ी है। इस प्रकार प्राकृतिक विपदाओं के सामने भारतीय कृषि की शक्ति बढ़ी है। यद्यपि वर्ष-दर-वर्ष खाद्यान्न उत्पादन की अस्थिरता उच्च-उत्पादन-किस्म (एच.वाई.वी.) पश्चात् अवधि में बढ़ी है (देखें तालिका 13.2), फिर भी हाल की अवधि का एक उत्साहजनक अभिलक्षण यह है कि भारतीय कृषि मानसून की मनमानी पर निर्भरता कम हो रही है। अधिकांश फसलों के लिए, वर्षा में घट-बढ़ के प्रति उत्पादन की संवेदनशीलता घटी है। यह विकास इतना प्रभावशाली है कि 1994-95 को समाप्त दस वर्षों में से सात में, समस्त फसलोत्पादन हेतु वर्षा सूचकांक सामान्य से कम था, जिनमें से चार विशेषतः खराब वर्षा वाले वर्ष थे। इसके बावजूद, कृषि उत्पादन ने पूर्व वर्षों के विपरीत, सीधी गिरावट नहीं दर्शायी। हाल ही में भीषण सूखे की उन दयनीय स्थितियों द्वारा पैदा दवाब का सामना करने में भारतीय कृषि सक्षमता का विश्वासोत्पादक प्रमाण प्रस्तुत करती हैं जो अतीत में व्यापक विनाश किया करती थीं।

3) नई प्रौद्योगिकी ने सिंचाई विस्तारण को प्रोत्साहन दिया क्योंकि सिंचाई के बिना इस प्रौद्योगिकी का कोई उपयोग नहीं। हरित-क्रांत्योत्तर काल में सिंचित क्षेत्र पूर्व की तुलना में ऊँची दर से बढ़ा है, जैसा कि हमने इकाई 12, तालिका 12.7 में देखा था।

4) नई प्रौद्योगिकी ने संभवतः ऊँची आय के कारण भू-स्वामियों को स्वयं खेती के लिए प्रोत्साहित किया। कई अनुसंधानकर्त्ताओं ने ध्यान दिलाया है कि उच्च-उत्पादन-किस्म क्षेत्रों में भू-स्वामियों के एक बड़े वर्ग ने स्वयं खेती शुरू कर दी है। काश्तकारी का विस्तार और दूरवासी ज़मीदारवाद संभवतः कम हो गया है। इस प्रकार विकास पर दोनों के दुष्प्रभाव भी संभवतः कम हो गए हैं।

5) कृषि से शुद्ध आय प्राप्त कर नई प्रौद्योगिकी ने संभवतः भूमि का संकेन्द्रण करने और लघु व मध्यम कृषकों को बनाए रखने वाली प्रव त्ति को रोक दिया। यह पंजाब को छोड़कर सभी राज्यों में देखा गया।

6) भू विखंडन तो उच्च-उत्पादन-किस्म प्रौद्योगिकी के प्रतिकूल प्रभावों के कारण नहीं बल्कि जनसंख्या व द्धि तथा परिवार के सदस्यों के बीच भूमि के विभाजन के कारण से अधिक होता है। उच्च-उत्पादन-किस्म प्रौद्योगिकी ने संभवतः जोतों के समेकन को और अधिक प्रोत्साहन दिया होगा, क्योंकि ऐसा करने से एक नलकूप द्वारा सिंचाई सहज हो जाती है, जबकि छोटे व छितरे भू-खंडों की स्थिति में यह संभव नहीं होता। नलकूल सिंचाई नहर सिंचाई, तथा खेत-से-खेत सिंचाई की अपेक्षा अधिक स्थायी, नियंत्रित और प्रभावी होती है। हालांकि नहर सिंचाई किसी एक किसान के लिए सस्ती पड़ती है, किन्तु इसकी सामाजिक लागत बहुत ऊँची आती है।

7) उच्च-उत्पादन-किस्म प्रौद्योगिकी ने फसल सघनता बढ़ाकर – (क्योंकि एक ही भूखंड पर अल्पावधि परिपक्वन के कारण अधिक संख्या में फसलें उगायी जा सकती हैं) – अधिक रोज़गार पैदा करने में मदद की है (देखें तालिका 13.3)। यह विशेषतौर पर भूमिहीन श्रमिक परिवारों को लाभ पहुँचाता है जो श्रम को बेचकर अपनी आजीविका मुश्किल से ही चला पाते हैं। जैसा कि हम जानते हैं, रोज़गार में सुधार लोगों को अधिक आय देता है। वैसे अतिरिक्त रोज़गार प्रति श्रमिक में राज्यानुसार काफी अन्तर हैं (गेहूँ-उत्पादक राज्यों में उच्चतम, चावल-उत्पादक राज्यों में सीमित तथा अन्य राज्यों में अल्पतम)। यही नहीं समस्त रोज़गार की व द्धि दर कृषि पर निर्भर श्रमशक्ति में व द्धि

दर की तुलना में कुछ ही अधिक है। अभी तक यह नई प्रौद्योगिकी के सकारात्मक पहलुओं में से एक है।

तालिका 13.3 : नई प्रौद्योगिकी की रोज़गार संभावना

राज्य	अनाजों के तहत सिंचित क्षेत्र (000 हेक्टे.)	कृषि-क्षेत्र के प्रतिशत रूप में सिंचित क्षेत्र	कृषि-कर्मियों की संख्या (हज़ार में)	कृषि-कर्मचारी प्रति 100 हेक्टे,	रोज़गार के अतिरिक्त दिवस प्रति कर्मी प्रति वर्ष
आंध्र प्रदेश	3442	26	12592	98	11
असम	571	20	2815	97	9
बिहार	2249	21	14474	133	7
गुजरात	599	6	5484	53	5
केरल	460	17	2992	108	6
मध्य प्रदेश	898	5	12188	62	3
कर्नाटक	911	9	6737	65	6
उड़ीसा	996	13	5295	71	7
पंजाब/ हरियाणा	2896	27	4168	39	29
राजस्थान	1292	8	6024	36	9
तमिलनाडु	2855	39	9060	124	13
उत्तर प्रदेश	4146	18	21407	94	8
पश्चिम बंगाल	1354	20	7249	104	8
कुल	23553		122487	76	8

स्रोत : बी. सेन (1974)।

8) उच्च-उत्पादन-किस्म बीजों का परिपक्वन काल संक्षिप्त और तीव्र होता है। इस प्रकार, स्थानीय किस्मों की अपेक्षा इनके लिए बहुत ही संक्षिप्त अवधि में फसल कटाई कर लेने की आवश्यकता पड़ती है। यह कुछ समय के लिए श्रमिकों की माँग उच्च स्तर पर ले जाता है, इस प्रकार पारिश्रमिक बढ़ जाता है— जो श्रमिकों को लाभ पहुँचाता है। वास्तविक कृषि-वेतनों में रुझान पूर्व-कालिक अवधि में स्थिर वेतनों के मुकाबले उच्च-उत्पादन-किस्म पश्चात् अवधि में सभी राज्यों में सुधार दर्शाते हैं। वेतनों में व द्धि प्रारंभिक निम्न वेतन क्षेत्रों में ऊँची है (देखें तालिका 13.4)। इस प्रकार, श्रमिकों ने निम्न वेतन क्षेत्रों में (अपेक्षाकृत) अधिक कमाई की। परिणामस्वरूप, विभिन्न क्षेत्रों में वेतन अंतर उच्च-उत्पादन-किस्म पश्चात् अवधि में कम हो गए। तालिका 13.4 का अंतिम स्तंभ देखें और विभिन्न क्षेत्रों में अभिसरण को समझने के लिए 'निम्न वेतन क्षेत्रों तथा विभिन्न 'उच्च वेतन क्षेत्रों के बीच आंकड़ों की तुलना करें।

तालिका 13.4 : वास्तविक कृषि-वेतनों में प्रव त्तियाँ

(आधार वर्ष 1970-71 = 100)

राज्य	**1970-71 से 1971-72**	**1987-87 से 1988-89**	**प्रतिशत/व द्धि**
उच्च वेतन क्षेत्र			
पंजाब	99.2	108.2	9.1
हरियाणा	98.7	98.1	0.7
हिमाचल प्रदेश	105.3	119.8	13.8
केरल	105.6	161.7	53.6
निम्न वेतन क्षेत्र			
आन्ध्र प्रदेश	97.6	155.4	59.2
बिहार	98.5	150.0	55.2
उड़ीसा	99.8	141.7	42.0
मध्य प्रदेश	99.7	158.0	59.0

स्रोत : सी.एच.एच. राव (1994)।

9) आय में व द्धि के कारण गैर-कृषि गतिविधियों में सुधार होती है जो अग्र एवं पश्चगामी संबद्धताओं को बढ़ावा देती है। मशीन-मरम्मत सेवाएँ (पम्प-सेट, ट्रैक्टर, थ्रेशर, स्प्रेयर आदि), और व्यापार व वाणिज्य संबंधी गतिविधियाँ (जैसे कि डेरी-उद्योग, मुर्गी-पालन तथा कृषि-प्रसंस्करण इकाइयाँ) कुछ उदाहरण हैं। ब्लिन जैसे अनुभूतिक्षम पर्यवेक्षकों ने निष्कर्ष निकाला है कि हरित क्रान्ति के बाद छोटी जोतों वाले परिवारों की कौटुम्बिक संसाधनों से होने वाली आमदनी अपेक्षाकृत रूप से अधिक बढ़ी है। इस प्रकार, आय असमानताएँ में कमी की प्रव त्ति देखी गई है।

10) इन सब के कारण कृषि से पुरुष श्रमिकों के अलग हो जाने और उनके उच्च-आय कार्यों में चले जाने की प्रव त्ति भी पनपी है। अब कृषि के नारीकरण के संकेत भी मिलने लगे हैं।

11) संक्षिप्त व्यस्त काल तथा बढ़ी श्रमिक माँग और ग़ैर-कृषि गतिविधियों में सुधार, इन सभी ने कृषि-श्रमिकों के, (विशेषकर खेती काल के दौरान), पिछड़े क्षेत्रों से उन्नत क्षेत्रों की ओर प्रवास ज़रूरी बना दिया है। सिद्धू और ग्रेवाल के अनुसार, वर्ष 1978-79 तथा 1983-84 के दौरान पंजाब में प्रवासी श्रमिकों की अनुमानित संख्या क्रमशः 2,20,000 तथा 2,86,000 थीं।

12) इस प्रकार हम देखते हैं कि नई प्रौद्योगिकी राष्ट्रीय श्रम-बाज़ार के विकास में परिणत हुई। बहुत से क्षेत्रों में कृषि-मज़दूरी के अभिसरण की प्रव त्ति भी व्याप्त है (देखें तालिका 13.4) यह ऐसे निष्क्रिय व पिछड़े क्षेत्रों से श्रमिकों के प्रवसन के कारण हो सकती है जहाँ रोज़गार स्रोतों का विस्तार मुश्किल से ही होता है।

13.3 क्षेत्रीय असमानताएँ

प्राकृतिक कारकों की वजह से विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादिता में असमानता अपरिहार्य है। कुछ क्षेत्र उपजाऊ भूमि से संपन्न हो सकते हैं जबकि अन्य शुष्क कटिबंध हो सकते हैं।

प्रारंभ में उच्च उत्पादन किस्मों के केवल कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित रहने के फलस्वरूप क्षेत्रीय असमानताएँ और बढ़ गई थीं। खतरनाक स्थिति में अपनाई गई वह रणनीति अपरिहार्य ही थी। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि सरकार ने खाद्य संकट से उभरने के बाद अन्य क्षेत्रों के विकास पर उसी उत्साह के साथ ध्यान नहीं दिया। फिर भी उसका लाभ अन्य क्षेत्रों के समान ही पिछड़े क्षेत्रों से इन उच्च-उत्पादन किस्में अपनाने वाले लघु क्षेत्रों को श्रमिकों के प्रवसन के रूप में रिसकर जा पहुँचा। ये प्रवासी श्रमिक अपनी आमदनी का बड़ा भाग बचाकर उसे किसी-न-किसी तरीके से वापस 'घर' में लगा देते। इसके अतिरिक्त, वे अपनी सफलता की कहानियाँ अपने मूल-क्षेत्र में ले जाते हैं। अवश्य ही सरकार ने अनेक कदम उठाए : (क) उच्च-उत्पादक-किस्म बीजों को उपलब्ध कराया; (ख) उर्वरक जैसी आगतों की आपूर्ति बढ़ाई; (ग) सामान्य रूप में सिंचित क्षेत्र बढ़ाए; (घ) बैंकों के राष्ट्रीयकरण के जरिए संस्थागत ऋण प्रदान दिए; और (ङ) सार्वजनिक कृषि-अनुसंधान संस्थाएँ, विश्वविद्यालय आदि स्थापित कर कृषि-अनुसंधान विकास में पैसा लगाया।

इन सब बातों ने पिछड़े क्षेत्रों को उनकी मंदता से उभरने और उन्नत जिलों के समकक्ष आने में मदद की। यद्यपि असमानताएँ तो थीं ही, समय के साथ-साथ ये हरित क्रांति के अगले दौर में कम हो गईं। अनेक अध्ययनों ने यही दर्शाया है।

पूर्वी राज्यों में कुछ नए सफल प्रयोग भी हुए (मुख्यतः पश्चिम बंगाल में), जहाँ 'ऑपरेशन बर्गा' व अन्य भूमि-सुधार उपायों तथा अन्य सरकारी पहलों ने कृषि में तीव्र विकास संभव बना दिया।

हम पंजाब और बंगाल के उदाहरणों द्वारा विषमताओं में कमी की प्रव त्ति समझा सकते हैं। अपने छोटे आकार के बावजूद पश्चिम बंगाल का वास्तविक कृषि-क्षेत्र पंजाब के कृषि-क्षेत्र से लगभग 30 प्रतिशत अधिक है (देखें तालिका 13.5)। फिर, पंजाब पश्चिम बंगाल से 60 प्रतिशत अधिक खाद्य उत्पन्न करता है। यह पंजाब में ऊँची पैदावार और बहु-फसल अपनाने से संभव हुआ है (देखें तालिका 13.6)।

तालिका 13.5 : पंजाब तथा पश्चिम बंगाल में निवल व सकल कृषित-क्षेत्र (*000 हेक्टे.)

राज्य	1971-72		1981-82		1991-92	
	निवल	सकल	निवल	सकल	निवल	सकल
पंजाब	4076	5724	4210	6929	4139	7552
पश्चिम बंगाल	5463	7170	5565	7393	5334	8540
भारत	139721	165186	142121	177101	142509	185487

स्रोत : सी.एम.आई.ई., 1996।

तालिका 13.6 : विभिन्न राज्यों में खाद्य उत्पादन (करोड़ टन)

वर्ष	पश्चिम बंगाल	पंजाब	हरियाणा	आंध्र प्रदेश	उत्तर प्रदेश
1990-91	1.13	1.93	0.96	1.24	3.57
1991-92	1.29	1.96	0.91	1.17	3.55
1992-93	1.24	2.00	1.03	1.17	3.62
1993-94	1.31	2.16	1.03	1.22	3.72
1994-95	1.35	2.18	1.10	1.16	3.82
वद्धि 1990 -95 (%)	19.5	13.0	14.6	−6.9	8.4

स्रोत : भारत सरकार (1996)।

तालिका 13.7 दिखा रही है कि पश्चिम बंगाल के मुकाबले पंजाब प्रति हेक्टेयर कहीं अधिक आगतों (उर्वरक आदि) का प्रयोग करता है।

तालिका 13.7 : पंजाब तथा पश्चिम बंगाल में उर्वरक प्रयोग (किग्रा॰ प्रति हेक्टेयर)

वर्ष	पंजाब	पश्चिम बंगाल	भारत
1980-81	111.9	35.9	31.9
1990-91	171.2	90.9	72.4
1994-95	170.9	86.6	74.0

स्रोत : सी.एम.आई.ई. (1996)।

पश्चिम बंगाल में एक औसत जोत में पंजाब द्वारा प्रयुक्त उर्वरक से आधा ही प्रयोग किया जाता है। पश्चिम बंगाल में कृषि-भूमि का लगभग एक-तिहाई ही सिंचित है जबकि पंजाब एक सौ प्रतिशत सिंचित की ओर तेजी से बढ़ रहा है (देखें तालिका 13.8)।

तालिका 13.8 : पंजाब तथा पश्चिम बंगाल में कुल फसल-क्षेत्र के प्रतिशत रूप में वास्तविक व सकल सिंचित क्षेत्र

राज्य	1971-72		1981-82		1991-92	
	A	**B**	**A**	**B**	**A**	**B**
पंजाब	72.5	76.5	80.9	86.1	93.3	94.6
पश्चिम बंगाल	27.3	21.5	30.3	23.5	35.8	22.4
भारत	22.6	23.3	28.2	29.1	35.2	35.7

A : निवल सिंचित क्षेत्र; B : सकल सिंचित क्षेत्र

स्रोत : सी.एम.आई.ई., 1996।

तालिका 13.9 : विभिन्न राज्यों में उत्पादन में व द्धि दरें

(प्रतिशत प्रति वर्ष)

राज्य	चावल		खाद्यान्न	
	1967-68 से 1977-78	**1978-79 से 1988-89**	**1967-68 से 1977-78**	**1978-79 से 1988-89**
आंध्र प्रदेश	2.66	1.70	2.56	0.41
असम	0.8	2.21	1.27	1.63
बिहार	0.82	2.83	1.14	3.52
गुजरात	3.39	–0.43	2.23	–4.97
हरियाणा	11.34	5.12	2.86	3.94
हिमाचल प्रदेश	0.04	–1.14	1.24	0.36
जम्मू-कश्मीर	1.73	0.09	1.47	0.36
कर्नाटक	–0.01	–0.04	2.50	–0.58
केरल	0.54	–2.36	0.48	–2.30
मध्य प्रदेश	0.96	5.30	1.23	4.36
महाराष्ट्र	4.79	–0.44	4.84	–0.46
उड़ीसा	–1.00	2.61	0.80	2.59
पंजाब	18.21	7.04	5.29	4.57
राजस्थान	10.90	–1.77	3.03	1.37
तमिलनाडु	1.45	0/89	1.69	0.74
उत्तर प्रदेश	4.06	7.32	4.06	5.16
पश्चिम बंगाल	1.71	5.23	2.60	4.53
समस्त भारत	2.16	3.19	2.31	2.68

स्रोत : अर्थशास्त्र तथा सांख्यिकी निदेशालय, भारत सरकार

आगत प्रयोग का उच्च स्तर भी पंजाब में उच्चतर उत्पादन में परिणत हुआ है। 1992-93 में, पश्चिम बंगाल में उत्पादन प्रति हेक्टेयर भूमि 2027 किग्रा० के मुकाबले पंजाब में 3627 किग्रा० रहा। पश्चिम बंगाल में बढ़ोत्तरी का श्रेय 1977 से 1980 के दौरान भूमि-सुधार उपायों तथा 1978 में निर्वाचित त्रि-पंक्ति पंचायत प्रणाली की स्थापना को जाता है। 1983-84 से पश्चिम बंगाल कृषि उत्पादन में व द्धि दर के लिहाज से तीव्र विकासशील भारतीय राज्यों में से एक बन गया है। 1983-84 से 1994-95 की 12-वर्षीय अवधि से पश्चिम बंगाल

की औसत वार्षिक खाद्य-उत्पादन व द्धि-दर पंजाब की 4 प्रतिशत के मुकाबले 6.7 प्रतिशत रही है। 1990-95 के दौरान पश्चिम बंगाल ने उत्पादन पंजाब के 13 प्रतिशत के मुकाबले 19 प्रतिशत बढ़ाया है। उच्चतर उत्पादन स्तरों पर उच्च व द्धि-दर को कायम रखना अधिक दुष्कर होता है। पंजाब का तीन दशकों से भी अधिक विकास का प्रमाणित कीर्तिमान है जबकि पश्चिम बंगाल का यह संबंध दो दशकों पुराना भी नहीं है। अभी तक यह प्रशंसनीय है कि पश्चिम बंगाल यंत्रीकरण तथा आगत प्रयोग का स्तर काफी नीचा होने के बावजूद अच्छे खासे लंबे समय से तेजी से व द्धि कर रहा है। तालिका 13.9 दर्शाती है कि पहले पिछड़ गए राज्य हरित क्रांति के दूसरे दौर में उन्नत राज्यों के समकक्ष पहुँच रहे हैं। पूर्वी राज्यों, पश्चिम बंगाल, बिहार, उड़ीसा तथा असम और मध्य प्रदेश ने भी हरित क्रांति के प्रथम दौर के मुकाबले दूसरे दौर में कहीं ऊँची व द्धि-दरें दर्शायीं और इस प्रकार इन क्षेत्रों में नई प्रौद्योगिकी के प्रसार के संकेत दिए हैं। इन पिछड़े राज्यों का प्रदर्शन चावल की फसल के मामले में विशेषकर बेहतर रहा है।

शुष्क-भूमि कृषि-प्रौद्योगिकियों में अनुसंधान ने क्षेत्रीय असमानताओं को और कम करने में भी मदद की है। जैव-प्रौद्योगिकी, ऊतक संवर्धन तथा आनुवंशिक अभियांत्रिकी में विकास संभावनाएं इन पिछड़े क्षेत्रों में होने वाले नुकसान को और कम करेंगी, क्योंकि ये प्रौद्योगिकियां कृषि-जलवायु परिस्थितियां तथा सिंचाई व्यवस्था को द ष्टिगत रखते हुए सभी क्षेत्रों में समान रूप से प्रभावी होती है।

बोध प्रश्न 1

1) भारत में उच्च-उत्पादन-किस्म प्रौद्योगिकी के पाँच सकारात्मक प्रभावों पर प्रकाश डालें।

....

....

....

....

....

2) नई प्रौद्योगिकी के प्रवर्तन से उत्पन्न क्षेत्रीय असमानता के जोर पकड़ने हेतु क्या कारण थे?

....

....

....

....

....

13.4 विभिन्न खेतों में उत्पादिता में असमानताएँ

असमानताओं का एक और आयाम है, वह इस बात में निहित है कि एक ही क्षेत्र के अंदर विभिन्न कृषि-समूह विभिन्न प्रकार से संपन्न होते हैं और विभिन्न प्रकार से लाभ अर्जित करते हैं। कोई समूह-विशेष किस प्रकार लाभान्वित होगा यह इस बात पर निर्भर है कि वह कितने

सिंचित क्षेत्र का स्वामी है और उसमें से कितने का प्रयोग होता है। साथ ही, आगतों पर निवेश करने की क्षमता भी काफी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह प्रौद्योगिकी सिर्फ एक पैकेज (बीज, जल, उर्वरक) में ही प्रभावी है। इस प्रकार, साधनसंपन्न किसानों को उच्च-उत्पादक-किस्में प्रयोग करने और कीमती आगतें प्रयोग करने का प्रारंभिक लाभ मिला; इनसे ऊँची आय हुई। जैसा कि किसी भी नए प्रवर्तन में होता है, आद्य ग्राहकों को हमेशा अधिकतम लाभ मिलता है; विलम्बित ग्राहक न्यूनतम लाभधारी होते हैं और मध्यम ग्राहक दोनों के बीच का लाभ पाते हैं। इस प्रकार, शुरू-शुरू की अवधि में किसानों के विभिन्न आकार समूहों के बीच असमानताएँ बढ़ीं। सरकार असमानताएँ कम करने के सामाजिक पहलू की अपेक्षा उत्पादन बढ़ाने (आर्थिक पहलू) पर अधिक गंभीर थी।

आर्थिक साहाय्य (subsidy) पर आगतों (बीज, उर्वरक) की आपूर्ति और उदार संस्थागत ऋण के लाभ आद्य ग्राहकों द्वारा तुरंत स्वीकार कर लिए गए। यह अपरिहार्य भी था, क्योंकि, उद्देश्य था उत्पादन में तुरंत बढ़ोत्तरी करना। इसका अर्थ यह नहीं कि अन्य वर्गों ने इनका लाभ नहीं उठाया। छोटे व सीमांत किसानों को भी लाभ मिला। वस्तुतः जो भी उच्च-उत्पादन-किस्में अपना सका, लाभान्वित हुआ क्योंकि उच्च-उत्पादन किस्में उर्वरकों के बिना भी, सिंचित क्षेत्रों में ऊँची पैदावार देती हैं (भले ही यह उनसे कम हो, जो उर्वरक प्रयोग कर सकते हैं)। परंतु सिंचाई के बिना उच्च-उत्पादन किस्में स्थानीय किस्मों के मुकाबले अधिक पैदावार नहीं पातीं।

परंपरागत रूप से, यह देखा जाता है कि भूमि-जोत के आकार और उत्पादकता के बीच एक प्रतिलोम संबंध होता है। यह दर्शाता है कि स्वयं अपनी देखरेख होने के कारण से छोटे खेत बड़े खेतों की अपेक्षा अधिक उपज देते हैं, और यह कार्य छोटे किसान ही कर सकते हैं। किन्तु खेत के आकार और उत्पादकता के बीच प्रतिलोम संबंध हरित क्रांति के आरंभिक काल में उन साधनसंपन्न किसानों द्वारा पूंजीगत निवेश का कारण उलट गया। यह भी देखा गया कि छोटे किसानों को भूमि पट्टे पर देने के बड़े किसानों के पारंपरिक प्रतिमान भी बदल गए क्योंकि, बड़े किसानों ने नई प्रौद्योगिकी के कारण सुधरी आय को देखकर खेती के लिए भूमि अपने पास ही रख ली। कहीं-कहीं तो बड़े किसानों ने छोटे किसानों से भूमि पट्टे पर भी ली। इस आश्चर्यजनक घटना को 'विपरीत काश्तकारी' कहा जाता है। इस प्रकार, इन दो वर्गों के बीच असमानताएँ और बढ़ीं। विपरीत काश्तकारी भूमि-सुधार उपायों के परिणामस्वरूप काश्तकारों को मिले लाभों को गँवा देने की ओर संकेत कर रही है।

इन सभी परिवर्तनों ने, असमानता भले ही बढ़ाई हो पर, निश्चित रूप से छोटे व सीमांत किसानों की आय बढ़ाने में भी मदद की। खेत के आकार पर विचार किए बिना ही, नई प्रौद्योगिकी सभी को लाभ पहुँचाती है। वे छोटे व सीमांत किसान, जो ग़ैर-खेती हर गतिविधियों (डेरी-उद्योग, मुर्गी-पालन, घरेलू बागवानी, छोटे-मोटे व्यवसाय, परंपरागत शिल्प, आदि) जैसे पूरक स्रोतों से होने वाली अपनी आय से आगतों को क्रय कर सकते थे, लाभान्वित हुए। सघन खेती (अल्पावधि फसलों के कारण) के परिणामस्वरूप उच्च-उत्पादन-किस्म खेतों पर बढ़े रोज़गार ने छोटे किसानों को श्रम-बाज़ारों से वापस बुला लिया और उनका ध्यान स्वयं की खेती में संलग्न हो जाने पर केंद्रित कर दिया। यदि परिवार का आकार काफी बड़ा है, एक अथवा दो लोग परिवार के अपने खेत में काम करेंगे जबकि अन्य लोग अपना श्रम श्रमिकों के रूप में बाज़ार में प्रदान करेंगे।

कुछ ऐसे अध्ययन भी हैं जो यह दर्शाते हैं कि खेत के आकार और उत्पादकता के बीच परंपरागत रूप से देखा जाने वाला विपरीत संबंध इन्हीं सब तथ्यों के कारण अपनी पूर्वावस्था में आ गया। परिणामतः, 'जितना छोटा खेत उतनी अधिक आय' का पुनः प्रचलन हो गया।

13.5 कृषि-श्रमिकों पर प्रभाव

हमने इकाई 2 में देखा कि औपनिवेशिक नीति ने परंपरागत शिल्पकारों, दस्तकारों को उनके आजीविका स्रोत से दूर कर दिया था। चूँकि उनके लिए कोई अन्य विकल्प नहीं बचा था, वे भूमिहीन कृषि श्रमिक बन गए। सरकार कुछ भूमि-सुधार उपाय लेकर आयी परंतु ये मुख्यतः बिचौलियों के उन्मूलन और जोतों के समेकन तक ही सीमित थे। इन्होंने भूमि-सीमांकन लागू करने और ज़मींदार वर्ग का अधिशेष भूमि भूमिहीनों को वितरित करने के वायदे को नहीं निभाया। इसकी बजाय, ये नीतियाँ विभागीय कार्यक्रमों के माध्यम से श्रमिकों को रोज़गार प्रदान करने की परोक्ष युक्ति तक ही सीमित थीं। ये सब भूमिहीनता की समस्या को नहीं सुलझा सके और न ही इन्होंने उनकी आय व रोज़गार में सुधार का प्रयास किया।

इन सभी उपायों में से, उच्च-उत्पादन-किस्म प्रौद्योगिकी ने श्रमिक परिवारों की गरीबी पर अप्रत्यक्ष प्रहार किया। इसने फसल–सघनता को बढ़ाया, जिससे श्रमिक हेतु माँग पैदा हुई और वे अधिक रोज़गार पाने में सफल हुए। बढ़ी उपज तथा आय ने भी ग़ैर-कृषि कार्यों को बढ़ावा दिया जिसने और अधिक रोज़गार अवसर प्रदान किए। उच्च-उत्पादन-किस्म खाद्य-फसलों से उन्नत आय के परिणामस्वरूप, किसान वाणिज्यिक फसलों की ओर रुख कर सके जो कि लाभकारी होती हैं। यह घटना खाद्य-फसलों से कपास, तंबाकू, मिर्च तथा गन्ना जैसी वाणिज्यिक फसलों वाले फसल-प्रतिमान में परिवर्तन में परिणत हुई। कृषि श्रमिकों के लिए उन्नत रोज़गार अवसरों का यह एक और स्रोत था।

इस सभी परिवर्तनों ने श्रम-बाज़ार से छोटे किसानों की वापसी में मदद की (ताकि वे स्व-संचालित फार्मों पर और गैर-फार्म गतिविधियों में अधिक समय दे सकें)। इसने कृषि-श्रमिकों हेतु रोज़गार की संभावना को सुधारा और इस प्रकार ऊँचे पारिश्रमिक हेतु उनकी सौदाकारी शक्ति सुधरी। अनेक अध्ययन देशभर में सुधरी वास्तविक मजदूरी को दर्शाते हैं। यह प्रव त्ति सत्तर के दशकोपरांत, उन्नत उच्च-उत्पादन-किस्म जिलों में तो विशेष रूप से बलवती हुई है। कृषि-श्रमिक बाज़ार से वापसी मुख्यतः पुरुष श्रमिकों द्वारा होती है, जो अधिकाधिक रूप से कृषि को महिला श्रमिकों पर छोड़ रहे थे। इस प्रकार, कृषि का उत्तरोत्तर रूप से नारीकरण होती जा रही है, जैसा कि कृषि परिद श्य के पर्यवेक्षक मानते हैं।

उच्च-उत्पादन-किस्म प्रौद्योगिकी के प्रवेश के बाद एक और आश्चर्यजनक घटना हुई — राष्ट्रीय श्रम-बाज़ारों का उद्‌गमन। कृषि-उत्पाद बाज़ार उत्तरोत्तर अधिक एकीकृत होते गए। उच्च-उत्पादन-किस्म क्षेत्रों में उच्च रोज़गार संभावना के कारण, उच्च-उत्पादन किस्में नहीं अपनाने वाले, पिछड़े, गरीब क्षेत्रों से श्रमिकों ने रोज़गार व आमदनी की तलाश में पलायन शुरू कर दिया। वहाँ उन्हें अपने ग ह-क्षेत्रों में मिलने वाली मजदूरी व रोज़गार से काफी बेहतर पैसा प्राप्त होता था। उच्च–उत्पादन किस्मों की अल्पावधि प्रकृति, वर्धित फसल-सघनता, उच्च-उत्पादन–किस्म प्रयुक्त खेतों में संक्षिप्त व्यस्तता काल और स्थानीय श्रमिकों के लिए अच्छे अन्य रोजगारों ने पिछड़े इलाकों से श्रमिकों का पलायन अपरिहार्य कर दिया। परिणामस्वरूप, ग ह-क्षेत्र (जो कि अपेक्षाकृत निम्न वेतन दर वाला पिछड़ा है) में भी उनकी सौदाकारी शक्ति बढ़ गई। इस प्रकार, श्रम-बाज़ार राष्ट्रीय स्तर पर एकीकृत हो गए। पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार जैसे ग़रीब इलाकों से उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र (पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा हरियाणा) की ओर श्रमिकों का ऋतुनिष्ठ पलायन 1970 के दशक से ही चल रहा है। इन सब परिवर्तनों ने विकसित क्षेत्रों के साथ-साथ पिछड़े क्षेत्रों में भी श्रमिकों की आय सुधारी। इस प्रक्रिया में, वेतन अंतर जो सत्तर के दशक में बहुत विशाल हो गए थे, बाद की अवधि में संकुचित हो कर नीचे आ गए हैं।

13.6 फसलों के बीच असमानताएँ

असमानताओं का एक तीसरा आयाम है – स्वीकरणीय स्तरों, उत्पादन तथा पैदावार की द ष्टि से फसलों के बीच अंतर। हरित क्रांति को प्रायः 'गेहूँ क्रांति' के रूप में जाना जाता है, जो अपनाने, उत्पादन तथा उपज में अन्य फसलों की तुलना में गेहूँ की उत्कृष्टता दर्शाता है। उच्च-उत्पादन-किस्म (एच.वाई.वी.) प्रौद्योगिकी ने गेहूँ से शुरुआत की; तदोपरांत धान की विकसित किस्में देखने में आयीं। ये दोनों ही देश में मुख्य अनाज हैं, इसी नाते हरित क्रांति को 'अनाज क्रांति' के रूप में भी जाना गया, क्योंकि, इसने अन्य फसलों, खासकर खाद्यान्नेतर फसलों के मामले में अधिक कुछ नहीं किया है। गेहूँ में उपज-सुधार आश्चर्यजनक थे जबकि चावल के मामले में ऐसा नहीं था।

तालिका 13.10 : 1997 में मुख्य उत्पादक देशों में मुख्य फसलों की उपज (किग्रा./हेक्टे.)

क्र.	धान		गेहूँ		मूँगफली		गन्ना		कपास		जूट	
सं.	देश	उपज	देश	उपज	देश	उपज	देश	उपज	देश	उपज	देश	उपज
1.	चीन	6331	चीन	4087	चीन	2574	ब्राजील	69021	चीन	943	बंगलादेश	1577
2.	इण्डोनेशिया	4561	फ्रांस	6530	नाइजीरिया	1124	चीन	75982	अमेरिका	769	चीन	2517
3.	पाकिस्तान	2827	अमेरिका	2673	अमेरिका	2828	थाईलैण्ड	55878	पाकिस्तान	552	थाईलैण्ड	3548
4.	फिलीपाइन्स	2933	ऑस्ट्रेलिया	1712	इण्डोनेशिया	1519	मैक्सिको	72734	तुर्की	1065	म्यांमार	939
5.	थाइलैण्ड	2143	कनाडा	2128	सूडान	762	ऑस्ट्रेलिया	97337	अजेण्टीना	368	ब्राजील	1714
6.	भारत	2915	भारत	2654	भारत	988	भारत	69737	भारत	321	भारत	1830
7.	विश्व	3827	विश्व	2686	विश्व	1273	विश्व	63324	विश्व	584	विश्व	1734
विश्व औसत के % रूप में भारत में उपज		76.2		98.8		77.6		110.1		55.0		105.5

स्रोत : उत्पादन अब्दकोश, खाद्य एवं कृषि संगठन, 1997।

भारत में गेहूँ की पैदावार विश्व औसत का मुकाबला करती है जबकि धान की पैदावार विश्व औसत की मात्र तीन-चौथाई है (तालिका 13.10)। फसलों के बीच इन भेदों के अनेक कारण हैं।

एक महत्त्वपूर्ण कारण है कि भारत में परंपरागत गेहूँ-उत्पादक क्षेत्र (जिनमें पंजाब, हरियाणा तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश आते हैं) कृषि में सर्वाधिक उन्नत रहे हैं – जबकि परंपरागत धान उगाने वाले क्षेत्र (बिहार, बंगाल, असम, उड़ीसा) कुछ जिलों को छोड़कर सबसे अधिक अनुर्वर क्षेत्र हैं। अनुर्वर क्षेत्रों के लक्षण हैं : (i) भूमि असमानताओं के उच्च स्तर; (ii) निष्कृष्ट आधारिक संरचना (सड़कें, बिजली); (iii) भारी वर्षा और बारंबार चक्रवात परंतु अपर्याप्त जल निकास, जो बार-बार बाढ़ का कारण बनता है; (iv) निष्क्रिय कृषक समुदाय; और (iv) भीषण गरीबी से पीड़ित जनता। दूसरी ओर, परंपरागत गेहूँ उत्पादक क्षेत्राों के लक्षण हैं : (i) सफल भूमि-सुधार (बिचौलियों का उन्मूलन एवं भूमि जोतों का समेकन) (ii) यथासंगत अच्छी सिंचाई सुविधाएँ; (iii) उत्तम आधारिक संरचना (सड़क, बिजली); (iv) बड़े महानगरीय शहरों

से सामीप्य; (v) उन्नत कृषि-तकनीकें अपनाने को तत्पर परिश्रमी व सक्रिय कृषिक समुदाय; और (vi) सामान्यतः बेहतर जीवन-स्तर। ये तुलनात्मक कारक चावल तथा गेहूँ फसलों की खेती में सुस्पष्ट भेद पैदा करते हैं। 1983-84 में, 2.4 करोड़ हेक्टेयर गेहूँ उत्पादक क्षेत्र में से 1.6 करोड़ सिंचित था जबकि चावल उत्पादक क्षेत्र के 4 करोड़ हेक्टेयर में से मात्र 1.8 करोड़ हेक्टेयर सिंचित था।

धान की खेती में कुछ तकनीकी जटिलता भी इन दो फसलों में भेद उत्पन्न करती हैं। धान अनेक जलवायु तथा म दाओं के अनुकूल बन सकता है। चावल के लिए कृषि विधियाँ व्यापक रूप से भिन्न हैं : सीधे बोआई अथवा पौध रोपाई; सिंचित अथवा वर्षा-आपूर्ति; निम्न भूमि, उच्च भूमि अथवा पहाड़ी भाग; दीर्घ कालचक्र अथवा शीघ्रपक्व किस्म; लंबा अथवा छोटा डंठल; तथा प्लवमान धान जो 2 या 3 मीटर जल में जीवित बना रहता है। इस विविधता के अपने लाभ हैं (इस बात में कि धान कई भौतिक परिवेशों के प्रति सुग्राह्य है), परंतु इसके कुछ नुकसान भी हैं। धान की नई किस्मों का समावेश गेहूँ की अपेक्षा अधिक जटिल है– गेहूँ कम विविधताजन्य जलवायु वाली दशाओं और कम परिवर्तनशील तकनीकों के साथ उगाया जाता है। मैक्सिको से आयी उच्च-उत्पादन-किस्म गेहूँ की प्रारंभिक किस्मों ने लगभग पूरे एशिया में अच्छे परिणाम दिए (1965-67)।

विभिन्न पर्यावरणीय क्षेत्रों के उपयुक्त बनाने के लिए धान की बहुत सी किस्मों की आवश्यकता होती है। ताइवान से आये बीज (1966 व 1967 में अपनाए गए) गंगा नदी-घाटी में नाकामयाब रहे। भारतीय चावल अनुसंधान संस्थान् से प्राप्त आई.आर. 8 किस्म भारत के कुछ जिलों में उच्च रूप से उत्पादक थी परंतु अन्य जगह नहीं थी। दूसरे, वे धान के खेत जो वर्षा पर निर्भर हैं, मानसून के अधीन रहते हैं। इसी कारण सिंचाई वर्षा की एक आवश्यक पूरक बन जाती है। उसके बाद आती है फालतू पानी के अपवहन की समस्या। निचली भूमियाँ जो सामान्य मानसून के दिनों में भी जलाधिक्य से ग्रसित रहती हैं बंगाल, असम, उड़ीसा, पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार में पायी जाती हैं। यह भारत के उस समस्त पूर्वी भाग की एक मूल समस्या है, जो मानसून के भारी होने पर बाढ़ से घिर जाता है। दक्कन के उत्तर-पूर्वी भाग स्थित धान के खेत, सामान्य तौर पर, वर्षा पर निर्भर हैं और वे भी अनिश्चितताओं से ग्रस्त रहते है।

तीसरे, धान का पौधा रोगों व परजीवियों के प्रति गेहूँ की अपेक्षा कहीं अधिक संवेदनशील होता है। चावल मुख्यतः मानसून के दौरान पैदा होता है, जो कि कीटों के लिए शुष्क ऋतु की बजाय अधिक सहायक अवधि है। कीटनाशक इसीलिए अपेक्षाकृत अधिक मात्र में आवश्यक होते हैं। इस कारण भी नई किस्मों के समावेशन में मुश्किलें पैदा होती हैं।

उपर्युक्त तकनीकी पहलुओं के अतिरिक्त, अन्य कारक भी हैं जो इन भेदों को स्पष्ट करते हैं : मनुष्य का व्यवहार, खेती के प्रति उसका द ष्टिकोण, और राज्य सरकारों तथा प्रशासन द्वारा निभाई जा रही भूमिका। इन सब कारकों ने एक साथ मिलकर विभिन्न प्रकार के उच्च-उत्पादन-किस्म चावल में निकृष्ट प्रदर्शन की तुलना में उच्च-उत्पादन-किस्म गेहूँ की आश्चर्यजनक सफलता में योगदान दिया।

अन्य अनाजों का प्रदर्शन तो चावल से गया गुजरा रहा है। ज्वार, मक्का और बाजरा जैसे मोटे अनाजों को उच्च-उत्पादन-किस्म प्रौद्योगिकी द्वारा कम ही छुआ गया। ये फसलें अधिकांशतः असिंचित भूमि पर उगाई जाती हैं। जैसा कि हमने इकाई 11 में देखा, शुष्क-भूमि प्रौद्योगिकी उच्च-उत्पादन-किस्म प्रौद्योगिकी (जो सिंचाई आधारित है) से पूरी तरह भिन्न है। मक्का और ज्वार के संबंध में कुछ ही सफलता सुनने में आई है –'इकरीसैट' (ICRISAT) ने इन फसलों की नई किस्में प्रस्तुत करने में कुछ प्रगति की और पैदावार कुछ सुधरी है।

राव (2000) का अध्ययन दर्शा रहा है कि 1990 के दशक में फसलवार उपज में पूर्ववर्ती दशक की तुलना में कुछ गिरावट आयी है। (देखें तालिका 13.10) मोटे अनाजों और दलहन को छोड़कर नब्बे के दशक में सभी फसलों की पैदावार गिरी। अस्सी के मुकाबले नब्बे के दशक में सभी फसलों की उत्पादन-वद्धि-दरें घट गईं।

तालिका 13.11 : महत्त्वपूर्ण फसलों के क्षेत्र, उत्पादन और उपज की प्रव त्ति

(व द्धि—दर प्रतिशत प्रति वर्ष)

क्रम	फसलें	क्षेत्रफल		उत्पादन		उपज	
सं.	फसलें	80s	90s	80s	90s	80s	90s
1.	सभी फसलें	0.1	0.4	3.2	2.2	2.6	1.4
2.	खाद्यान्न	–0.2	–0.1	2.9	1.8	2.7	1.4
3.	ग़ैर-खाद्यान्न	1.1	1.5	3.8	3.3	2.3	1.4
4.	धान	0.3	0.5	3.6	1.9	3.2	1.3
5.	गेहूँ	0.5	1.7	3.6	3.1	3.1	1.6
6.	मोटे अनाज	–1.4	–1.8	0.4	0.2	1.7	2.0
7.	दाल	–0.1	–0.2	1.5	1.0	1.6	1.7
8.	तेलहन	2.4	0.8	5.5	3.4	2.9	2.6
9.	गन्ना	1.5	1.8	2.7	2.5	1.2	0.7
10.	कपास	–1.3	3.3	2.8	1.7	4.1	–2.0

स्रोत : वी. एम. राव (2000)

13.7 उच्च-उत्पादन-किस्म प्रौद्योगिकी की सीमाएँ

अनेक अध्ययनों ने उच्च-उत्पादक-किस्म प्रौद्योगिकी के नकारात्मक परिणामों को उजागर किया है। यह संकेत मिला है कि नई प्रौद्योगिकी ने (i) अंतरक्षेत्रीय तथा अंतरवर्गीय असमानताओं को बढ़ावा दिया है; (ii) अन्य फसलों की लागत पर मात्र एक अथवा दो फसलों को ही लाभ पहुँचाया; (iii) भूमि-जोतों के समेकन में मदद की; (iv) छोटे किसानों को सीमांत की ओर धकेल दिया; (v) भूमिहीनता को बढ़ाया, तथा कृषि श्रमिकों की सेना को बढ़ाया; और (vi) कृषि लागतों में व द्धि की।

कृषि परिद श्य के कुछ प्रमुख पर्यवेक्षकों ने इन सभी तर्कों का खंडन किया है। इन आलोचनाओं में से कुछ तो हरित-क्रांति काल के पहले दौर से ही जुड़ी है। कुछ ऐसा आभास होता है कि इन आलोचनाओं में से अधिकांश बहुत जल्दबाजी में की गई थीं और गहराई से देखे जाने पर हरित क्रांति के दूसरे दौर के अनुभव के बाद तो ये अर्थविहीन होकर रह गयी हैं।

लेकिन उच्च-उत्पादन-किस्म प्रौद्योगिकी के विरुद्ध की गईं कुछ अन्य आलोचनाएँ, (जो इसकी प्रौद्योगिकी की सीमाओं पर बल देती है।) नितांत अकाट्य लगती हैं। उच्च-उत्पादन-

किस्म प्रौद्योगिकी विकसित अर्थव्यवस्थाओं में कृषि हेतु उपयुक्त है क्योंकि यह पूँजी-गहन (रासायनिक उर्वरक तथा कीटनाशक जैसे मूल्यवान आगतें चाहने वाली) और ऊर्जा-गहन (रासायनिक उर्वरकों का उत्पादन करने में पैट्रोलियम-आधारित उत्पादों की काफी मात्र चाहने वाली) है। उच्च-उत्पादन-किस्म बीज कीट- एवं रोग-प्रवण होते हैं, इनके लिए पर्यावरण पर हानिकारक प्रभावों वाले कीटनाशकों की भारी मात्रा की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त, इसकी मशीनीकरण को बढ़ावा देने की प्रव त्ति होती है (अल्पकालिक फसल-ऋतु संयुक्त कटाई मशीनें, थ्रैशर आदि को अपनाना लाभकारी बना देता है, जैसा कि पंजाब में हुआ)। इस प्रकार की खेती भरपूर श्रम-शक्तिसंपन्न भारत जैसे देश के लिए प्रायः अनुपयुक्त मानी जाती है। इन समालोचकों के अनुसार, भारत को श्रम-गहन प्रौद्योगिकियाँ अपनानी चाहिए थीं। उसको सिंचाई, खासकर लघु सिंचाई, जल-फसल प्रौद्योगिकियाँ, जल अनुरक्षण प्रणालियाँ और जैविक उर्वरकों के विकास पर अधिक ध्यान देना चाहिए था।

हमने पहले उल्लेख किया था कि खाद्य-संकट के कारण उच्च-उत्पादन-किस्म प्रौद्योगिकी का अपनाना अपरिहार्य था। फिर भी, समालोचकों के अनुसार, खाद्य अभाव से उभरने के बाद उसी रणनीति के निरंतरता पर पुनर्विचार की आवश्यकता थी। हरित क्रांति का प्रयोग भारतीय कृषि परिद श्य की सभी कमियों के लिए किए जाने की बजाय केवल एक तत्काल विमोचन के रूप में किया गया। कृषि पद्धति, सिंचाई, उत्पादन तथा वितरण की रणनीतियों से उत्पन्न होने वाली बुराइयाँ, सभी इसी रणनीति से संबद्ध प्रतीत होती हैं। श्रम आधिक्य, बेरोज़गारी, अल्प-रोज़गारी, गरीबी तथा निम्न क्रय-शक्ति की समस्याएँ किसी एक रणनीति से ही हल नहीं होतीं।

अपनी निहित त्रुटियों के कारण उच्च-उत्पादन-किस्म प्रौद्योगिकी स्थायी सफलता गाथा नहीं हो सकती। कृषि-जलवायु तथा कृषि-पद्धतीय बाधाएँ इस प्रौद्योगिकी के माध्यम से कृषि विस्तार के रास्ते बाधक हो ही जाती हैं।

यह अभी गेहूँ तथा धान जैसी सफलतम फसलों में भी कृषि-उत्पादन और उत्पादिता को विश्व स्तर तक लाने में सफल नहीं हुई है (देखें तालिका 13.10)। इन औसत स्तरों तक पहुँचने से पूर्व ही और जबकि हम अभी तक उपज के मामले में प्रमुख उत्पादनशील देशों से पीछे चल रहे हैं, उपज में व द्धि-दरों ने पहले ही ह्रासमान प्रव त्ति दर्शानी शुरू कर दी है।

अस्सी के दशक की तुलना में, नब्बे के दशक में ये पहले ही नीचे आ चुकी हैं (देखें तालिका 13.11)। हाल ही में, अनुसंधानकर्त्ताओं द्वारा और साथ ही सरकारी दस्तावेजों में कृषि निष्पादन को दो कालों में वर्गीकृत किया गया है। ये काल हैं : (क) 1991 में लाए गए आर्थिक सुधारों से पहले का दशक, और (ख) 1991 के बाद का दशक। तालिका 13.11 अस्सी व नब्बे के दशक हेतु महत्त्वपूर्ण फसलों के क्षेत्र, उत्पादन तथा पैदावारों में व द्धि दरों को दर्शाती है। जैसा कि इस तालिका से देखा जा सकता है, सुधार पश्चात् काल में उत्पादन तथा उत्पादिता की व द्धि दरें और घटीं हैं।

हरित क्रांति उन इलाकों में भी अपनी अन्तिम सीमाओं तक पहुँची हुई प्रतीत होती है जहाँ यह सर्वाधिक सफल रही है। वास्तव में इसके दुष्प्रभाव इतने स्पष्ट हैं कि उनको नकारा नहीं जा सकता है। उदाहरण के लिए, भूमिगत जल का अति-दोहन होता है, जो जल-स्तर में गिरावट के साथ किसान को बाध्य करता है कि वित्तीय संसाधनों की सुलभता पर निर्भर रहते हुए वह या तो कुएँ को गहरा करे अथवा इसे छोड़ दे। अनेक स्थानों पर किसान कृषि को ही छोड़ रहे हैं और कृषिक अथवा ग़ैर-कृषि श्रमिक बनते जा रहे हैं। क्षारीयता तथा जल-अवरोध के कारण पड़ने वाले भू-निम्नीकरण के विपरीत प्रभाव कई बातों में देखे जा

सकते हैं, जैसे— फार्म उत्पादन तथा आय की कमी, बेरोज़गारी तथा पलायन, विषमताएँ तथा पारिस्थितिक असंतुलन।

भारतीय कृषि में एक और खोज की आवश्यकता है, क्योंकि, वह नवप्रवर्तन जो साठ के दशक में शुरू किया गया था, उसकी समयावधि समाप्त हो चुकी है। वैश्वीकरण के युग में तो इसकी नितांत आवश्यकता है, जहाँ विश्व बाज़ारों में केवल सर्वोत्तम ही टिक सकता है। यदि भारतीय कृषि को भविष्य में फलना-फूलना है, तो बहुत अधिक उत्कृष्ट उत्पादकता स्तरों वाले प्रमुख उत्पादनशील देशों के साथ प्रतिस्पर्धा करने के लिए लागत-प्रभावी प्रौद्योगिकियाँ (देखें तालिका 13.10) अत्यावश्यक हैं, अब जबकि भारत विश्व स्वास्थ्य संगठन का एक हिस्सा है भारतीय कृषि को बढ़ती जनसंख्या तथा फसल अधीन क्षेत्रफल में एक प्रत्याशित कमी के फलस्वरूप बढ़ रही खाद्य एवं गैर-खाद्य माँगों को पूरा करना है। वैज्ञानिक से भारत के राष्ट्रपति बने (डॉ॰ कलाम) तर्क प्रस्तुत करते हैं कि 17 करोड़ हेक्टेयर से होने वाले 20 करोड़ टन खाद्य-उत्पादन को वर्ष 2020 तक 10 करोड़ हेक्टेयर से होने वाले 30 करोड़ टन तक बढ़ाना होगा। यह वर्तमान उत्पादकता स्तरों को दो गुना करके ही संभव है। इस प्रकार, उन्होंने एक द्वितीय हरित क्रांति का आह्वान किया है, जिसको वस्तुतः पहली क्रांति के नकारात्मक परिणामों से बचना चाहिए। इस अपेक्षित नव विकास के दो स्त्रोत हो सकते हैं : (क) जल-संसाधनों की प्रभावशाली व्यवस्था, और (ख) जैव-प्रौद्योगिकी का तीव्र प्रसार।

बोध प्रश्न 2

1) क्या आप ऐसा मानते हैं कि कृषि श्रमिक उच्च-उत्पादन-किस्म प्रौद्योगिकी के पदार्पण से लाभान्वित हुए हैं?

....

....

....

....

....

2) चावल उत्पादक क्षेत्रों में उच्च-उत्पादक-किस्म प्रौद्योगिकी को कम सफलता क्यों मिली?

....

....

....

....

....

13.8 सारांश

भारत में उच्च-उत्पादन-किस्म (एच.वाई.वी.) प्रौद्योगिकी ने साठ के दशक के भीषण खाद्य अभाव से उभरने में मदद की। इसने खाद्यान्न उत्पादन अधिकांशतः पैदावार में व द्धि करके बढ़ाया।

आरंभ में यह नई प्रौद्योगिकी इसके साथ ही जुड़ी आगतों की उपलब्धता के कारण पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में लायी गई। एच.वाई.वी. बीजों के प्रयोग से होने वाली ऊँची आय ने किसानों को प्रोत्साहित किया। अन्य क्षेत्रों में किसान, हालाँकि, इस नई प्रौद्योगिकी को नहीं अपना सके। परिणामस्वरूप, आरंभिक वर्षों में अंतरक्षेत्रीय असमानता बढ़ी। समय के साथ, अन्य राज्यों में भी किसानों ने एच.वाई.वी. प्रौद्योगिकी अपना ली है और राज्यों के बीच पैदावार में अंतर कम हो रहा है।

एच.वाई.वी. प्रौद्योगिकी ने कृषि-श्रमिकों के लिए रोज़गार अवसरों में एक निश्चित व द्धि की ओर अभिमुख किया है। पिछड़े से उन्नत क्षेत्रों की ओर कृषि-श्रमिकों का बड़े स्तर पर ऋतु-पलायन होता है। श्रम की गतिशीलता और बढ़े रोज़गार अवसरों ने वास्तविक वेतन को बढ़ाया है।

शुरुआत में एच.वाई.वी. प्रौद्योगिकी गेहूँ में लायी गई। बाद में, एच.वाई.वी. धान के स्वीकरण को भी उठाया गया है। बहरहाल, अन्य फसलों के मामले में एच.वाई.वी. प्रौद्योगिकी से आपेक्षिक लाभ निस्संदेह सीमित हैं।

13.9 शब्दावली

जनसंख्या विस्फोट : स्वतंत्रता से पूर्व भारत में जन्मदर व मुत्युदर, दोनों ऊँची थीं। परिणामतः जनसंख्या व द्धि दर तर्कसंगत रूप से कम थी। स्वतंत्रोत्तर काल में, बेहतर स्वास्थ्य-रक्षा सुविधाओं के कारण मृत्य दर गिरी जबकि जन्म दर ऊपर ही जाती रही। इसका परिणाम हुआ – ऊँची जनसंख्या व द्धि दर, जिसको जनसंख्या विस्फोट भी कहा जाता है।

फसल सघनता : एक वर्ष में एक ही भूखंड पर उगायी गई फसलों की संख्या। कोई भी प्रौद्योगिकी जो फसल प्रबलता बढ़ाने में मदद करती है, भू-संसाधन को बढ़ाती है जो कि बहुत अप्रचुर है।

वास्तविक वेतन : कृषि श्रमिकों हेतु उपभोक्ता मूल्य सूचकांक द्वारा अपस्फीत मौद्रिक वेतन। वास्तविक वेतन, इस प्रकार, पारिश्रमिक का एक अधिक यथार्थपरक मापदंड है और समय के साथ चक्रव द्धिमान हो सकता है क्योंकि मूल्य सूचकांक एक आधार वर्ष के साथ बनाया जाता है।

13.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Etienne, G., 1988, *Food and Poverty: India's Half Won Battle*, Sage Publications.

Blyn, G, 1983, The Green Revolution Revisited, *Economic Development and Cultural Change.*

Byres, T. J., 1972, 'The Dialectic of India's Green Revolution', South Asian Review, Vol. 5, No. 2

Kurien, C.T., 1981, Dynamics of Rural Transformation: A Study of Tamil Nadu, 1950-75, Orient Longman.

Dantwala, M.L., 1991, *Indian Agricultural Development since Independence*: A Collection Essays, Oxford and IBH Publishing Co.

Rao, V.M., 2000, *Modernising Indian Agriculture: Priority Tasks and Critical Policies,* DRG Study No. 21, Reserve Bank of India, Mumbai.

Rao, C.H.H., 1994, *Agricultural Growth, Rural Poverty and Environmental Degradation in India*, Oxford University press. Delhi.

Sen, B., 1974, *The Green Revolution in India* : A perspective, New York, Wiley.

13.11 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

बोध प्रश्न 1

1) भाग 13.2 पढ़ें और पाँच सकारात्मक पहलुओं पर प्रकाश डालें।

2) क्षेत्रों के बीच असमानता पर ज़ोर देने हेतु कारण हो सकते हैं – नई प्रौद्योगिकी के स्वीकरण में अन्तर और आगतों की असमान उपलब्धता, आदि। भाग 13.3 देखें और उत्तर दें।

बोध प्रश्न 2

1) श्रम हेतु माँग में व द्धि, वास्तविक वेतन में व द्धि तथा राष्ट्रीय श्रम-बाज़ार बनाने के कारण नई प्रौद्योगिकी के पदार्पण से कृषि-श्रमिक लाभान्वित हुए हैं। विस्त त विवरण के लिए भाग 13.5 देखें।

2) धान उत्पादन क्षेत्रों में प्रतिकूल परिस्थितियों पर प्रकाश डालें और प्रश्न का उत्तर दें।

इकाई 14 कृषि-उत्पादकता में प्रव त्तियाँ

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 कृषि–उत्पादन में प्रव त्तियाँ

- 14.2.1 स्वतंत्रतापश्चात् प्रव त्तियों में परिवर्तन
- 14.2.2 कृषि अधीन क्षेत्र में परिवर्तन
- 14.2.3 उत्पादकता में परिवर्तन

14.3 कृषि-उपज की अंतरराष्ट्रीय तुलना

14.4 उत्पादकता में क्षेत्रीय अन्तर

14.5 भारत में निम्न कृषि-उत्पादकता के कारण

- 14.5.1 संस्थागत त्रुटियां
- 14.5.2 प्रौद्योगिकीय पिछड़ापन
- 14.5.3 सामाजिक व अन्य सामान्य कारक
- 14.5.4 पूंजी निर्माण का निरंतर अभाव

14.6 उत्पादकता बढ़ाने के उपाय

- 14.6.1 संस्थागत उपाय
- 14.6.2 प्रौद्योगिकीय परिवर्तन
- 14.6.3 संरचनात्मक परिवर्तन
- 14.6.4 सरकारी-नीतियाँ

14.7 सारांश

14.8 शब्दावली

14.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.10 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

14.0 उद्देश्य

यह इकाई आपको इस योग्य बनाएगी कि आप :

- कृषि-उत्पादन में रुझान स्पष्ट कर सकें;
- उत्पादकता में रुझानों की जाँच कर सकें;
- भारत में निम्न कृषि-उपादकता के कारणों को पहचान सकें; और
- उत्पादकता के स्तर को सुधारने के उपायों की विवेचना कर सकें।

14.1 प्रस्तावना

स्वतंत्रताप्राप्ति के समय भारत में कृषि में श्रम तथा भूमि की निम्न उत्पादकता था। अर्थव्यवस्था समय-समय पर पड़ने वाले अकाल और निरंतर खाद्य अभाव से ग्रस्त थी। तेजी से बढ़ती जनसंख्या कृषि पर दवाब डालती जा रही थी। इसके अतिरिक्त, श्रम-शक्ति का एक बहुत बड़ा अनुपात कृषि में लगा था, इसी से ग्रामीण क्षेत्रों में बहुरूपी बेरोजगार तथा अल्प-बेरोजगार की समस्याएँ पैदा हुई। सिंचाई सुविधाएँ कृषि-क्षेत्र के 80 प्रतिशत से अधिक के लिए अनुपलब्ध थीं। भारत की कृषि-अर्थव्यवस्था का वर्णन ''मानसून में जुआ' के

रूप किया जाता था क्योंकि हम वर्षा तथा एक अच्छे मानसून की अनिश्चितता पर बहुत ही अधिक निर्भर थे।

भारतीय कृषि का प्रौद्योगिक पिछड़ापन सर्वव्यापक था। प्रयोग किए जाने वाले औजार व साधन परंपरागत थे और पुराने भी। कृषि-उत्पादन हेतु ऊर्जा-स्रोत थे। पशु-बल और बाहुबल, जिनके अपने स्पष्ट नुकसान थे। खेती की तकनीकें सामान्यतौर पर पारंपरिक थीं। गोबर ही खाद का प्रधान स्रोत था।

प्रौद्योगिक प्रक्रिया के अभाव में, कृषि उत्पादन तथा रोजगार में केवल कृषि अधीन क्षेत्रफल को बढ़ाकर व द्धि की जा सकती थी। यह बात बाढ़ों, सूखों और म दा क्षरण की और अधिक प्रबलता से बढ़ते हुए परिस्थितिक सन्तुलन में बाधा उत्पन्न कर रही थी। सिंचाई सुविधाओं को सुधारे बिना कृषि क्षेत्र केवल एक बार तभी प्रयोग किया जा सकता था जब पर्याप्त वर्षा-जल उपलब्ध हो। इस प्रकार, उत्पादन प्रौद्योगिकी, बीज की गुणवत्ता, भण्डारण सुविधाएँ आदि को सुधारने हेतु आवश्यकता गहराई से महसूस की जा रही थी। इसके आधुनिकीकरण के बिना कृषि-क्षेत्रक के भारतीय अर्थव्यवस्था पर एक बोझ बन जाने का खतरा था।

इकाई 5 में हमने जाना कि भारत में कृषि क्षेत्र की संव द्धि अनेक कारणों से आवश्यक है। प्रथमतः, यह कार्य बल के एक ऐसे बड़े अनुपात का पोषण करता है जो अपनी आजीविका कृषिक गतिविधियों से अर्जित करता है। इस कार्य बल की आय तभी बढ़ सकती है जब कृषि-उत्पादन और उत्पादकता तेजी से बढ़ें। दूसरे, कृषि क्षेत्र एक ओर कच्चे-माल तथा खाद्य की आपूर्ति करके और दूसरी ओर उद्योग के उत्पादों हेतु माँग पैदा करके औद्योगिक क्षेत्र को सहारा देता है, जो अत्यावश्यक है। तीसरे, कृषि अभी तक भारतीय अर्थव्यवस्था का एक बहुत बड़ा घटक बना हुआ है। इसकी संव द्धि अर्थव्यवस्था की संव द्धि को आगे बढ़ा सकती है। अन्ततः, कृषि क्षेत्र में संव द्धि उन अधिशेषों को उत्पन्न करने में मदद करेगी जो अर्थव्यवस्था में संसाधन जुटाने हेतु अत्यावश्यक हैं।

14.2 कृषि-उत्पादन में प्रव त्तियाँ

जैसा कि आप जानते हैं, कृषि उत्पादन दो विधियों से बढ़ाया जा सकता है : (1) खेती के अधीन और अधिक क्षेत्र लाकर, और (2) भूमि की उत्पादकता बढ़ाकर। यदि भूमि प्रचुरता से उपलब्ध हो तो कृषि-उत्पादन आसानी से बढ़ाया जा सकता है, क्योंकि भारत में अतिरिक्त श्रम उपलब्ध है।

कृषि अधीन क्षेत्र में संव द्धि की भी सीमाएं होती हैं। अधिक से अधिक क्षेत्र कृषि के अधीन केवल वन आवरणों, हरित भूमियों, वर्षा-जल अपवहन क्षेत्रों आदि को घटा कर ही लाया जा सकता है। ये सब कृषि-उत्पादन पर एक नकारात्मक प्रभाव डालने वाले हैं, क्योंकि, पारिस्थितिक सन्तुलन पर इनका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार, भारत में कृषि-उत्पादन में दीर्घावधि व द्धि मूलतः उत्पादकता अथवा भूमि की उपज बढ़ाकर ही साकार की जा सकती है। उत्पादकता में संव द्धि ही, इस प्रकार, भारत में कृषि-उत्पादन में व द्धि की कुंजी है।

14.2.1 स्वतंत्रतापश्चात् प्रव त्तियों में परिवर्तन

यह तो आपको ज्ञात ही है कि भारत में अनेक फसलें उगाई जाती हैं। विभिन्न फसलों का उत्पादन जोड़ना सैद्धांतिक द ष्टि से उचित नहीं माना जाता। इसी कारण कृषि उत्पादन का परिमाणात्मक मापन कठिन हो जाता है। सामान्यतया कृषि-उत्पादन की व द्धि कृषि–उत्पादन के सूचकांक में परिवर्तन द्वारा मापी जाती है। कृषि उत्पादन का सूचकांक एक नियत

आधार-वर्ष की तुलना उत्पादन-स्तर में आए परिवर्तनों को अभिव्यक्त करता है। कृषि-उत्पादन वार्षिक उतार-चढ़ाव आते ही रहते हैं। अतः कुछेक सन्निकट वर्षों के औसत उत्पादन को सूचक श ंखला का आधार बनाया जाता है। किसी फसल-समूह के लिए सूचकांक उपयुक्त भार मानित उत्पादन–स्तरों को जोड़कर प्राप्त किया जाता है। इस आंकड़े में परिवर्तन इस समूह में शामिल फसलों की संव द्धि-दर का एक सांझा अनुमान प्रस्तुत करता है। आइए हम सभी फसलों तथा कुछ प्रमुख फसल समूहों की संव द्धि दरों की एक झांकी पर विचार करें।

तालिका 14.1 : 1949-50 से 1997-98 के दौरान कृषि-उत्पादन व द्धि दरें

(अखिल भारत, प्रतिशत में, आधार 1979-82 = 100)

फसल अवधि	सभी फसलें	खाद्यान्न			गैरखाद्य फसलें		
		सभी खाद्यान्न	धान	गेहूँ	तिलहन	रेशे	सभी ग़ैर-खाद्यान्न
1949-50से 1997-98	2.68	2.50	2.67	5.47	2.77	2.40	2.98
1949-50 से 1964-65 (I)	3.15	2.82	3.50	3.98	3.20	4.56	3.74
1967-68से 1997-98 (II)	2.88	2.39	2.85	4.59	3.60	2.68	3.35
1967-68से 1980-81 (II-A)	2.19	2.15	2.22	5.65	0.98	2.53	2.26
1980-81से 1997-98 (II-B)	3.23	2.58	3.06	3.57	5.36	3.63	4.45

स्रोत : 'एग्रीकल्चरल स्टेटिस्टिक्स ऐट ए ग्लांस भारत सरकार।

तालिका 14.1 निम्नलिखित की चक्रवर्ती उत्पादन-व द्धि दर दर्शाती है : (i) सभी फसलें एक साथ मिलाकर, (ii) खाद्यान्न, और (iii) खाद्यान्नेतर। यह तालिका खाद्यान्नों (गेहूँ तथा चावल), और खाद्यान्नेतर (तिलहन तथा रेशा) में कुछ प्रमुख फसल–समूहों की उत्पादन-व द्धि दर भी दर्शाती है।

यहाँ ली गई अवधि 1949-50 से 1997-98 तक की है। हमने अपने विश्लेषण के लिए इस काल को दो उप-कालों में बाँटा है, नामतः (i) प्रथम काल : 1949-50 से 1964-65, तथा (ii) द्वितीय कालः 1967-68 से 1997-98 वर्ष 1949-50 से 1964-65 (प्रथम काल) के आँकड़े हरितक्रांति के रूप में जाने वाली नई कृषि-रणनीति के स्वीकरण से पूर्व कृषि-उत्पादन में व द्धि दर्शाते हैं । परवर्ती काल, यथा 1967-68 से 1997-98 (द्विवितीय काल) हरित क्रांति काल से सम्बन्ध रखता है। हमें इन आँकड़ों से द्वितीय काल के दौरान कृषि-उत्पादन पर हरित क्रांति का प्रभाव दर्शाने की आशा करनी चाहिए। यह काल और आगे दो उप-कालों में उप–विभाजित किया गया है, यथा 1967-68 से 1980-81 (द्वितीय-ए काल) और 1980-81 से 1997-98 (द्वितीय-बी काल) ताकि प्रव त्तियों में आ रहे परिवर्तनों की भली प्रकार विवेचना संभव हो सके।

तालिका 14.1 से स्पष्ट है कि 1949-50 से 1997-98 की अवधि के लिए सम्पूर्ण कृषि-उत्पादन व द्धि-दर (खाद्यान्न एवं खाद्यान्नेतर) लगभग 2.68 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। इस काल

में खाद्यान्नेतरों में व द्धि-दर 2.98 प्रतिशत प्रतिवर्ष है, जबकि, खाद्यान्नों में 2.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष दर से संव द्धि हुई है। खाद्यान्नों में गेहूँ की उत्पादन व द्धि-दर बहुत ऊँची रही है, यथा 5.47 प्रतिशत प्रतिवर्ष, जबकि चावल की दर सभी फसलों के लिए औसत संव द्धि-दर के करीब रही है, (2.67 प्रतिशत प्रतिवर्ष)। भारत में इस अवधि के दौरान जनसंख्या व द्धि लगभग 2 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही है। इस प्रकार, प्रति व्यक्ति कृषि-उत्पादन में व द्धि नाम मात्र रही है। प्रति व्यक्ति उपलब्धता और खाद्य सुरक्षा के मुद्दे पर बाद में हम इकाई 22 में चर्चा करेंगे।

प्रथम काल और द्वितीय काल, यथा हरित-क्रांतिपूर्व तथा हरितक्रांत्योत्तर अवधियों के बीच तुलना यह दर्शाती है कि सभी फसलों की उत्पादन-व द्धि दर पूर्व हरित-क्रांति अवधि में हरितक्रांत्योत्तर अवधि से ऊँची रही। यह द्वितीय काल में 2.88 प्रतिशत प्रतिवर्ष के मुकाबले 3.15 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही। यह रुझान खाद्यान्नों के साथ-साथ खाद्यान्नेतरों में भी देखने में आता है। यह सिर्फ गेहूँ के मामले में ही है कि प्रथम काल में संयुक्त उत्पादन-व द्धि दर (3.98 प्रतिशत) द्वितीय काल में रही दर (4.59 प्रतिशत) से कम थी। इन व द्धि-दरों का एक अन्य पहलू यह है कि द्वितीय काल के भीतर, उत्पादन में व द्धि-दर द्वितीय-ए काल, यथा (1967-68 से 1980-81) के मुकाबले द्वितीय-बी काल (1980-81 तथा 1997-98 के बीच) में ऊँची रही है। इससे इस विचार की पुष्टि होती है कि संव द्धि-दर में बढ़ोत्तरी का क्रम बना हुआ है।

तालिका 14.1 यह भी दर्शाती है कि गेहूँ ने पूरे 49 वर्ष की अवधि में उच्चतम व द्धि दर प्राप्त की है। इसके अतिरिक्त, नई कृषि रणनीति के शुरू किए जाने के तत्काल बाद, गेहूँ उत्पादन की व द्धि-दर तेजी से बढ़ी है। गेहूँ उत्पादन में व द्धि-दर जो प्रथम काल में 3.98 प्रतिशत प्रतिवर्ष के लगभग थी, द्वितीय काल में 4.59 प्रतिशत हो गई किन्तु द्वितीय काल का आगे विश्लेषण यह भी दर्शाता है कि गेहूँ उत्पादन की व द्धि-दर द्विवितीय-बी काल की अपेक्षा द्वितीय-ए काल के दौरान ऊँची थी। इस प्रकार गेहूँ में प्रारम्भिक व द्धि कोई लम्बी अवधि के लिए कायम नहीं रह सकी। दूसरी ओर, चावल उत्पादन में व द्धि-दर प्रथम काल की अपेक्षा द्विवितीय काल में कम नीचे गिरी। यह प्रथम काल में 3.50 प्रतिशत प्रतिवर्ष से द्वितीय काल में 2.22 प्रतिशत पर गिरी परन्तु बाद में द्वितीय-बी कालमें 3.06 प्रतिशत तक बढ़ी। वास्तव में, गेहूँ को छोड़कर तिलहन, रेशा, तथा खाद्यान्नेतर जैसे सभी फसल-समूहों ने 1967-68 और 1980-81 के बीच की अवधि के मुकाबले 1980-81 के बाद से उत्पादन में एक ऊँची वद्धि-दर को प्राप्त किया है। अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं नई कृषि-रणनीति से लाभ प्रारम्भतः गेहूँ तक सीमित थे परन्तु बाद में ये सभी फसलों तक फैले। दूसरे, कृषि-उत्पादन में व द्धि-दर में बढ़ने की प्रव त्ति भी दिखाई पड़ रही है।

14.2.2 कृषि अधीन क्षेत्र में परिवर्तन

जैसा कि पहले भी कहा गया है, कृषि-उत्पादन में व द्धि का श्रेय कृषि अधीन क्षेत्रफल में व द्धि को या फिर प्रति हेक्टेयर उत्पादिता व द्धि को दिया जा सकता है। हम इस बात की जाँच करेंगे कि 1949-98 की अवधि में 2.68 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से उत्पादन में व द्धि किस तरह से हुई थी। यहाँ हम कृषि उत्पादन में इस व द्धि-दर हेतु इनके योगदान की जाँच करेंगे : i) कृषि अधीन क्षेत्रफल में व द्धि, और ii) उत्पादिता प्रति हेक्टेयर।

तालिका 14.2 सभी फसलों के साथ-साथ कुछ प्रमुख फसलों और फसल-समूहों के अधीन क्षेत्रफल में व द्धि-दर को दर्शाती है।

तालिका 14.2 : 1949-98 के दौरान कृषि अधीन क्षेत्रफल की व द्धि-दर

आधार : 1981-82 को समाप्त वर्षत्रय = 100(प्रतिशत में)

फसल अवधि	सभी फसलें	खाद्यान्न			गैरखाद्य फसलें		
		सभी खाद्यान्न	चावल	गेहूँ	खाद्यान्नेत्तर	तिलहन	रेशा
1949-50 से 1997-98	0.62	0.41	0.77	2.21	1.27	1.23	0.26
1949-50 से 1964-65 (I)	1.58	1.35	1.21	2.69	2.44	2.67	2.71
1967-68 से 1997-98 (II)	0.38	0.03	0.62	1.51	1.42	1.41	0.07
1967-68 से 1980-81 (II-A)	0.51	0.38	0.77	2.94	0.94	0.26	0.19
1980-81 से 1997-98 (II-B)	0.31	(–) 0.28	0.52	0.81	1.98	2.35	0.45

स्रोत : 'एग्रीकल्चरल स्टेटिस्टिक्स ऐट ए ग्लान्स', भारत सरकार।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि 1949-50 से 1997-98 के दौरान सभी फसलों के लिए उत्पादन में व द्धि-दर 2.68 प्रतिशत प्रतिवर्ष था। जबकि कृषि अधीन क्षेत्र में व द्धिदर केवल 0.62 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। इस प्रकार, उत्पादन व द्धि में क्षेत्रफल व द्धि द्वारा एक मामूली अनुपात में ही योगदान दिया गया है। आप तालिका 14.2 से देख सकते हैं कि कृषि अधीन क्षेत्र में सबसे अधिक व द्धि हरित-क्रांतिपूर्व अवधि, यथा प्रथम काल में हुई, जो 1.58 प्रतिशत प्रतिवर्ष तक आंकी गई है। तालिका 14.1 से स्मरण करें कि इस अवधि के दौरान कृषि उत्पादन 3.15 प्रतिशत प्रतिवर्ष बढ़ा था। इस प्रकार, इस अवधि के दौरान प्राप्त ऊँची दर में काफी बड़ा योगदान कृषि अधीन क्षेत्र में व द्धि द्वारा किया गया। बहरहाल, द्वितीय काल में हम एक भिन्न तस्वीर पाते हैं— कृषि अधीन क्षेत्र में व द्धि 2.88 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी जबकि उत्पादन-व द्धि मात्र 0.38 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। उत्पादन-व द्धि के मुकाबले क्षेत्रफल व द्धि का अंशदान द्वितीय-बी काल में और भी कम हो गया।

कृषि अधीन क्षेत्र में व द्धि-दर का फसलवार विश्लेषण दर्शाता है कि प्रथम काल, यथा 1949-50 से 1964-65 के दौरान अधिकांश फसल-समूहों के अधीन क्षेत्र तेजी से बढ़ा। सामान्यतः खाद्यान्नेतरों के लिए यह 2.44 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ा। इस प्रकार, कृषि अधीन क्षेत्र में व द्धि-दर खाद्यान्नों के मुकाबले खाद्यान्नेतरों में अधिक थी। खाद्यान्न फसलों के लिए यह 1.35 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ी। वैसे, गेहूँ की फसल वाला क्षेत्र लगभग दुगनी दर से बढ़ा, यथा 2.69 प्रतिशत प्रतिवर्ष। हरित–क्रांत्योत्तर काल में भी गेहूँ की फसल वाला क्षेत्र अपेक्षाकृत तेजी से बढ़ रहा है। उदाहरण के लिए, जबकि द्वितीय-बी काल, यथा 1980-81 से 1997-98, के दौरान खाद्यान्नों वाला क्षेत्र 0.28 प्रतिशत की दर से घटा, गेहूँ वाला क्षेत्र 0.81 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रहा था। यह अंशतः अन्य खाद्य फसलों के साथ-साथ खाद्यान्नेतरों से गेहूँ की ओर क्षेत्र चले जाने के कारण हो सकता है।

द्वितीय-बी काल के दौरान सामान्यतौर पर खाद्यान्नेतर-उत्पादन और खासतौर पर तिलहनों में प्राप्त ऊँची व द्धि-दर (देखें तालिका 14.1) का श्रेय अंशतः इस काल में इन फसलों वाले

क्षेत्र में अपेक्षाकृत ऊँची व द्धि-दर को दिया जाना चाहिए। इसका अर्थ है कि खाद्यान्नेतरों की कृषि में और क्षेत्र लगाया जा रहा हैं।

कुल मिलाकर, क्षेत्र में व द्धि भारत में कृषि-उत्पादन की कुल व द्धि का प्रमुख कारण नहीं केवल स्वतंत्रतापश्चात् के आरंभिक वर्षों में ही कृषि अधीन क्षेत्र में खासी अच्छी व द्धि देखी गई थी। संपूर्ण हरित–क्रांत्योत्तत्तर काल में उत्पादन-व द्धि में क्षेत्र-व द्धि का योगदान बहुत कम रहा है।

14.2.3 उत्पादकता में परिवर्तन

उत्पादन-व द्धि में क्षेत्र-व द्धि की भूमिका का विश्लेषण करने के बाद यह भी उपयुक्त होगा कि उत्पादकता में परिवर्तन की भूमिका की जाँच की जाए। चूँकि क्षेत्र विस्तार की अपनी सीमाएँ हैं, अधिकांश देशों में एक लंबे समय से कृषि-उत्पादन व द्धि में उत्पादकता-व द्धि का योगदान ही प्रमुख पाया गया है। यही स्थिति भारतीय कृषि के संबंध में होनी चाहिए।

स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद से महत्त्वपूर्ण फसल-समूहों की उत्पादकता में व द्धि तालिका 14.3 में दी गई है। समय अवधि और उप-अवधियों पिछली तालिका के अनुरूप ही हैं।

तालिका 14.3 : 1949-98 के दौरान उत्पादकता में व द्धि-दर

(आधार : 1981-82 को समाप्त वर्षत्रय = 100, प्रतिशत में)

फसल अवधि	सभी फसलें	खाद्यान्न			खाद्यान्नेतर		
		खाद्यान्न	चावल	गेहूँ	खाद्यान्नेतर	तिलहन	रेशा
1949-50 से 1997-98	1.60	1.70	1.89	2.18	1.37	1.14	2.12
1949-50 से 1964-65 (I)	1.21	1.36	2.25	1.27	0.89	0.30	1.88
1967-68 से 1997-98 (II)	1.99	1.98	2.27	3.04	1.74	1.70	2.56
1967-68 से 1980-81 (II-A)	1.28	1.33	1.45	2.62	1.19	0.68	2.31
1980-81 से 1997-98 (II-B)	2.24	2.40	2.52	2.73	2.13	2.30	3.13

स्रोत : 'एग्रीकल्चरल स्टेटिस्टिकल्स ऐट ए ग्लान्स', भारत सरकार।

जैसा कि पहले बताया गया है, 1949-50 से 1997-98 की अवधि के दौरान कृषि-उत्पादन में व द्धि लगभग 2.68 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही। क्षेत्रफल में व द्धि लगभग 0.62 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही जबकि उत्पादकता में व द्धि-दर लगभग 1.60 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही। गेहूँ उत्पादकता में व द्धि उच्चतम रही, यह 3.18 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। सामान्यतः खाद्येतर फसलों की उत्पादकता में व द्धि खाद्यान्नों की उत्पादकता–व द्धि से कम रही है।

जैसा कि पहले कहा गया, हरित-क्रांत्योत्तर काल (1967-68 से 1997-98) के दौरान उत्पादन व द्धि की दर 2.88 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही। इस अवधि में क्षेत्र में व द्धि-दर केवल 0.38 प्रतिशत प्रति वर्ष थी जबकि उत्पादकता 1.99 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ी। उत्पादकता में सबसे तीव्र व द्धि-दर गेहूँ की रही इसके बाद रेशों का क्रम आता है। तालिका 14.3 दर्शाती

है कि हरित-क्रांत्योत्तर काल में उत्पादकता व द्धि-दर हरित-क्रांतिपूर्व अवधि में रही इस व द्धि-दर की अपेक्षा ऊँची थी।

उप-अवधियों 1967-68 से 1980-81 (द्वितीय-ए काल) तथा 1980-81 से 1997-98 (द्वितीय-बी काल) का विश्लेषण दर्शाता है कि उत्पादकता की व द्धि-दर सभी फसलों के साथ-साथ विभिन्न फसल-समूहों के लिए भी दूसरी अवधि में ऊँची रही है। इस अवधि में खाद्यान्न-उत्पादन में व द्धि मूलतः खाद्यान्नों की उत्पादकता में व द्धि की वजह से है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि 1980-81 से उत्पादकता-व द्धि दर अधिक व्यापक रूप से फैली है और केवल गेहूँ तक सीमित नहीं है। सामान्यतः गैर-अनाजों तथा विशेषतः रेशाों तथा तिलहनों की उत्पादकता-व द्धि दर द्वितीय-ए काल की अपेक्षा द्वितीय-बी काल में अधिक ऊँची है।

उत्पादकता में व द्धि अब उत्तर-पश्चिमी भारत तक ही सीमित नहीं रही है। द्वितीय-बी काल में, (यथा 1980-81 के पश्चात्) देश के अनेक क्षेत्रों में उत्पादकता-व द्धि दिखाई पड़ रही है। खाद्यान्न उत्पादकता केंद्रीय तथा पूर्वी भारत के उन कुछ अल्प–विकसित क्षेत्रों में अपेक्षाकृत अधिक तेजी से बढ़ी है जहाँ हरित क्रांति के आरंभिक चरण में काफी कम थी। संक्षेप में, विभिन्न फसलों तथा क्षेत्रों के बीच उत्पादकता-व द्धि के व्यापक फैलाव के साथ, कृषि-उत्पादन में स्थायी बढ़ोत्तरी एक वास्तविक संभावना बन गई है। यह कृषि-उत्पादन की भावी व द्धि के लिए अच्छा संकेत है।

बोध प्रश्न 1

1) बताएँ कि निम्नलिखित कथन सत्य हैं अथवा असत्य :

   क) उत्पादकता व द्धि के माध्यम से कृषि-उत्पादन बढ़ाने के लिए संभावना सीमित है।

   ख) कृषि-अधीन क्षेत्र में व द्धि ही कृषि-उत्पादन में व द्धि का एक मात्र साधन है।

   ग) हरित-क्रांतिपूर्व काल, यथा, 1949-50 से 1964-65 में कृषि-उत्पादन की व द्धि-दर हरित–क्रांत्योत्तर काल, यथा 1967-68 से 1997-98 की व द्धि-दर से अधिक थी।

   घ) उत्पादकता-व द्धि ने हरित-क्रांत्योत्तर काल में उत्पादन-व द्धि दर में अधिक योगदान दिया।

   ङ) गेहूँ ही एकमात्र ऐसी फसल है जो उत्पादकता में तीव्र व द्धि का क्रम बनाए हुए है। अन्य सभी फसलों के लिए यह उत्पादकता व द्धि-दर धीमी पड़ रही है।

2) स्वतंत्रतापश्चात् कृषि-उत्पादन की प्रव त्तियों की संक्षिप्त विवेचना करें।

....

....

....

....

....

....

3) स्वातंत्रतापश्चात् भारत में कृषि-उत्पादन व द्धि में उत्पादिता-व द्धि के योगदान का संक्षिप्त विश्लेषण करें।

....

....

....

....

....

4) स्वतंत्रतापश्चात् भारत में कृषि-उत्पादन बढ़ाने में कृष्याधीन क्षेत्र में व द्धि की भूमिका का विवेचन करें।

....

....

....

....

....

14.3 कृषि-उपज की अंतरराष्ट्रीय तुलना

विकास योजना के पाँच दशकों के बाद और नई कृषि-रणनीति के स्वीकरण के तीन दशकों के बाद भी, भारतीय कृषि में कुल उत्पादकता अभी बहुत निम्न है। कुछ अन्य देशों से कुछ प्रमुख फसलों की उत्पादकता की तुलना दर्शाती है कि भारत में उत्पादकता स्तर बढ़ाने हेतु विशाल संभावनाएं अभी 1989-91 (तीन वर्षों का औसत) तथा 1998 के बीच विभिन्न फसलों की उत्पादकता की तुलना निम्न तालिका 14.4 में प्रस्तुत है। ये आँकड़े 'एफ.ए.ओ. इयर बुक, 1998 से लिए गए हैं और भारत तथा अन्य देशों (चीन, जापान, अमेरिका, आदि) के बीच उत्पादकता में सुविस्त त भेद दर्शाते हैं।

अन्य फसलों की तुलना में, भारत में चावल उत्पादन क्षेत्र सबसे बड़ा है। यह भारतीय कृषि क्षेत्र की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण फसल है। फिर, धान की प्रति हेक्टेयर उत्पादकता बहुत कम है। वर्ष 1998 में यह अमेरिका, जापान व चीन की उत्पादकता के 50 प्रतिशत से भी कम थी। मिस्र की तुलना में यह केवल 34 प्रतिशत थी। पूरे विश्व की तुलना में, भारत में चावल का उत्पादकता स्तर 85 प्रतिशत था। 1989-91 के साथ एक तुलना, तथापि, दर्शाती है कि चीन ने उत्पादकता में नौ प्रतिशत के आसपास व द्धि की है। उत्पादकता में व द्धि भारत में लगभग 11.5 प्रतिशत थी और पाकिस्तान में लगभग 22 प्रतिशत थी।

गेहूँ के मामले में उत्पादकता की दशा अपेक्षाकृत बेहतर है। 1998 में, भारत में उत्पादकता विश्व औसत से अधिक और एशियाई औसत से मामूली कम है। बहरहाल, यह चीन, जापान और मिस्र से कम ही है। फिर भी गेहूँ की उत्पादकता में जो व द्धि भारत में देखी गई, वह चीन अथवा पाकिस्तान में हुई व द्धि जितनी नहीं थी।

तालिका 14.4 : चुनी हुई फसलों की प्रति हेक्टेयर उत्पादकता

(क्विंटल प्रति हेक्टेयर में)

फसल	चावल		गेहूँ		मूँगफली		कपास (लिंट)	
देश	1989-91	1998	1989-91	1998	1989-91	1998	1989-91	1998
विश्व औसत	35	37	25	21	12	13	16	16
भारत	26	29	22	26	9	13	7	15
एशिया	36	38	24	27	12	15	16	16
चीन	56	61	31	37	21	26	24	25
जापान	61	62	34	35	20	25	उपलब्ध नहीं	उपलब्ध नहीं
अमेरिका	64	63	24	29	26	30	19	18
मिस्र	71	85	49	60	22	27	21	21
पाकिस्तान	23	28	18	22	11	11	19	16

स्रोत : 'एग्रीकल्चरल प्रोडक्शन इयर बुक', एफ.ए.ओ.।

मूँगफली, (एक प्रमुख तिलहन), के मामले में भारत में उत्पादकता न सिर्फ विश्व औसत से नीचे है बल्कि अमेरिका में उत्पादकता के एक-तिहाई तथा जापान में उत्पादकता के 40 प्रतिशत के आसपास है। यह एशिया में औसत से नीचे और तालिका 14.4 में दर्शाये गए अन्य देशों की उत्पादकता की अपेक्षा निम्न है। भारत में मूँगफली की उत्पादकता में व द्धि चीन, जापान तथा मिस्र में उत्पादकता-व द्धि के मुकाबले धीमी रही है।

यद्यपि भारत को कपास (एक प्रमुख रेशा फसल) की उत्पादकता में एक तीव्र व द्धि का अनुभव है, वह चीन, मिस्र तथा अमेरिका में उत्पादकता प्रति हेक्टेयर से अभी भी काफी नीचे है। यह समस्त एशियाई देशों में दर्ज उत्पादकता से मामूली रूप से नीचे है।

अन्य देशों के साथ भारत में फसल-वार उपज के इस तुलनात्मक विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि स्वतंत्रता के पचास वर्षों बाद भी हमारा उत्पादकता-स्तर कुछ अन्य देशों से काफी नीचे है। यहाँ ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है कि चीन (बड़ी जनसंख्या वाला एक अन्य देश) में उत्पादकता भारत में उत्पादकता-स्तरों से काफी ऊपर है। इसके अतिरिक्त, चीन अनेक प्रमुख फसलों के मामले में तीव्रतर उत्पादकता-व द्धि दर के दौर से गुजर रहा है। भारतीय कृषि को कृषि-उत्पादकता-व द्धि दर को बढ़ाने की आवश्यकता है।

बोध प्रश्न 2

1) बताएँ कि निम्नलिखित कथन सत्य हैं अथवा असत्य :

   क) कृषि-उत्पादकता में व द्धि कृषि-उत्पादन की व द्धि में एक प्रमुख योगकारक रही है।

   ख) स्वतंत्रता उपरांत सभी फसलों की उत्पादकता में व द्धि-दर दो प्रतिशत से अधिक रही है।

ग) खाद्यान्नों के मामले में उत्पादकता-व द्धि दर खाद्यान्नेतरों हेतु व द्धि-दर की अपेक्षा अधिक रही है।

घ) वर्ष 1980-81 के बाद से सभी फसलों की उत्पादिता व द्धि में तेजी आई है।

च) वर्ष 1998 में भारत में गेहूँ की उत्पादकता विश्व-औसत से अधिक थी परंतु एशियाई देशों हेतु औसत से कम थी।

2) भारत में कृषि-उत्पादकता में व द्धि का संक्षिप्त मूल्यांकन करें। क्या भारत के लिए ये रुझान उत्साहवर्धक हैं?

....

....

....

....

....

3) ''भारत में कृषि-उत्पादकता स्तरों की कुछ अन्य देशों के साथ तुलना सुधार की संभावनाओं उजागर करती है।'' विवेचन करें।

....

....

....

....

....

14.4 उत्पादकता में क्षेत्रीय विभिन्नता

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में फसलों की उपज में उल्लेखनीय अंतर है। एक फसल, चावल उदाहरण के लिए प्रति हेक्टेयर औसत उपज सभी राज्यों में एक-सी नहीं है। आपको मालूम होगा कि पंजाब तथा हरियाणा में गेहूँ की प्रति हेक्टेयर भूमि उपज काफी ऊँची है; विकसित देशों की उपज के लगभग बराबर। दूसरी ओर, पंजाब में गेहूँ की उपज बिहार की उपज से लगभग दुगुनी है।

वर्ष 1998-99 के लिए भारत में खाद्यान्नों की उपज 16.2 क्विंटल प्रति हेक्टेयर रही। आप तालिका 14.5 से देख सकते हैं कि प्रमुख राज्यों में पंजाब की खाद्यान्नों में पैदावार अधिकतम रही जबकि निम्नतम उड़ीसा में रही। इसके अलावा, आप देख सकते हैं कि पंजाब में खाद्यान्न उपज उड़ीसा में खाद्यान्न उपज में चार गुना अधिक रही। प्रमुख राज्यों में आंध्र प्रदेश, हरियाणा, केरल, पंजाब, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल की उपज राष्ट्रीय औसत से अधिक रही। दूसरी ओर, असम, बिहार, गुजरात, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा तथा राजस्थान की उपज राष्ट्रीय औसत से कम रही।

तालिका 14.5 : राज्य स्तर पर फसल-पैदावार के अंतर्गत उपज एवं क्षेत्रफल (1998-1999)

(उपज किग्रा०/हेक्टेयर में; क्षेत्रफल हजार हेक्टेयर में)

राज्य	चावल				गेहूँ				खाद्यान्न			
	उपज	सूचकांक	क्षेत्रफल	स.कृ.क्षे. का %	उपज	सूचकांक	क्षेत्रफल	स.कृ.क्षे. का%	उपज	सूचकांक	क्षेत्रफल	स.कृ.क्षे. का %
आन्ध्र प्रदेश	2601	138	4109	30.6	720	26.9	12.5	0.1	1877	116.3	7286	54.3
असम	1340	71	2491	62.6	1330	49.6	87.9	2.2	1290	79.9	2729	68.6
बिहार	1437	76	5067	50.0	2183	81.5	2089	20.6	1593	98.7	9049	89.2
गुजरात	1470	78	642	5.8	2300	85.9	581	5.3	1303	80.7	3997	36.3
हरियाणा	2964	157	831	13.7	3880	144.8	2017	33.2	2482	153.8	4027	66.3
कर्नाटक	2364	126	1358	11.0	766	28.6	248	2.0	1250	77.4	7371	59.8
केरल	1960	104	425	14.1	––	––	––	0.0	1877	116.3	454	15.0
मध्य प्रदेश	1100	58	5396	21.2	1800	67.2	4327	17.0	1103	68.3	17666	69.4
महाराष्ट्र	1770	94	1478	6.8	1460	54.5	799	3.7	1058	65.6	13802	63.5
उड़ीसा	993	53	4469	54.4	1320	49.3	5	0.1	903	55.9	5351	65.1
पंजाब	3400	181	2159	27.5	4230	157.9	3229	41.2	3786	234.6	5693	72.6
राजस्थान	1180	63	147	0.7	2740	102.3	2474	12.0	998	61.8	12851	62.1
तमिलनाडु	2670	142	2174	33.7	–	–	–	0.0	1948	120.7	3558	55.1
उत्तर प्रदेश	2120	113	5549	21.2	2670	99.7	9014	34.5	2088	129.4	20301	77.7
पश्चिमी बंगाल	2180	116	5801	64.0	2390	89.2	351	3.9	2135	132.3	6444	71.1
भारत	1882	100	43433	22.9	2679	100.0	25887	13.7	1614	100.01	123581	65.2

स्रोत : 'इकॉन्मिक सर्वे ऑव इण्डिया', 2002-03।

हम जानते ही हैं कि किसी राज्य के विकास स्तर और खाद्यान्न उत्पादिता के बीच गहरा संबंध है। विकसित राज्यों में उत्पादकता भी अधिक होती है। गुजरात तथा महाराष्ट्र जैसे कुछ अपवाद हैं जहाँ उपज राष्ट्रीय औसत की अपेक्षा कम है यद्यपि ये राज्य तुलनात्मक रूप से ऊँची प्रति व्यक्ति आय तथा विकास दर वाले हैं।

तालिका 14.6 में हम वर्ष 1970-71, 1980-81, 1990-91 तथा 1998-99 के लिए खाद्यान्नों की प्रति हेक्टेयर उपज प्रस्तुत कर रहे हैं। तालिका में स्तंभ-6 1998-99 में उपज 1970-71 के अनुपात के रूप में दर्शाता है। इस तालिका से स्पष्ट देखते है कि अखिल-भारतीय औसत आधार पर 1970-71 की तुलना में 1998-99 में खाद्यान्न उपज लगभग दो गुना (1.9 गुना) रही। आंध्र प्रदेश, हरियाणा, महाराष्ट्र, पंजाब तथा उत्तर प्रदेश राष्ट्रीय औसत से ऊँची दर से खाद्यान्न उपज बढ़ाने में सक्षम रहे हैं। दूसरी ओर, असम, केरल,

उड़ीसा तथा राजस्थान ने खाद्यान्न उपज में बहुत थोड़ी-सी व द्धि की है। केरल तथा महाराष्ट्र के मामले में पैदावार व द्धि में काफी विषमता है। 1970-71 में केरल की उपज 1430 किग्रा॰/हेक्टे॰ थी जो महाराष्ट्र की उपज से लगभग तीन गुना थी। किन्तु, 1998-99 में महाराष्ट्र के लिए यह अनुपात दो से भी कम हो गया। तालिका 14.6 में दिए गए 15 प्रमुख राज्यों के बीच, केरल 1970-71 में दूसरे स्थान से (खाद्यान्न उपज के लिहाज से) 1998-99 में नौंवे स्थान पर फिसल गया।

परम्परागत रूप से देश के पूर्वी भाग के राज्य चावल उत्पादक राज्य हैं। असम, बिहार, उड़ीसा, तथा पश्चिम बंगाल राज्यों में चावल की फसल के अधीन क्षेत्र इन राज्यों के सकल कृषि-क्षेत्र के 50 प्रतिशत से भी अधिक हैं। फिर भी, इन राज्यों में चावल की उपज पंजाब तथा हरियाणा की उपज के मुकाबले काफी कम है (देखें तालिका 14.5)। पंजाब तथा हरियाणा परम्परागत रूप से गेहूँ-उत्पादक राज्य हैं। साठ के दशक में वे चावल उत्पादन हेतु उपयुक्त नहीं समझे जाते थे। फिर भी, शुष्क तथा शीत जलवायु हेतु उपयुक्त चावल की नई किस्मों के विकास ने इन राज्यों में चमत्कार कर दिया। आप तालिका 14.5 से देख सकते हैं कि हरियाणा तथा पंजाब में चावल की प्रति हैक्टेयर उपज उड़ीसा तथा बिहार की उपज के मुकाबले काफी ऊँची है।

तालिका 14.6 : समय-समय पर खाद्यान्न पैदावार में व द्धि

(कि०ग्रा. हेक्टियर प्रति)

	राज्य	1970-71	1980-81	1990-91	1998-99	1998-99 /1970-71
	1	2	3	4	5	6
1	आन्ध्र प्रदेश	780	1140	1590	2000	2.6
2	असम	970	1070	1270	1290	1.3
3	बिहार	800	990	1300	1440	1.8
4	गुजरात	860	1000	1050	1430	1.7
5	हरियाणा	1240	1520	2350	2700	2.2
6	कर्नाटक	830	890	910	1350	1.6
7	केरल	1430	1540	1870	1770	1.2
8	मध्य प्रदेश	650	700	1000	1110	1.7
9	महाराष्ट्र	430	690	850	970	2.3
10	उड़ीसा	880	870	1000	1080	1.2
11	पंजाब	1860	2460	3390	3740	2.0
12	राजस्थान	690	530	860	960	1.4
13	तमिलनाडु	1340	1340	1910	2280	1.7
14	उत्तर प्रदेश	1000	1220	1740	1960	2.0
15	पश्चिमी बंगाल	1220	1360	1740	2200	1.8
	भारत	870	1020	1380	1620	1.9

स्रोत : 'इकॉन्मिक सर्वे, 2002-03।

14.5 भारत में निम्न कृषि-उत्पादकता के कारण

स्वतंत्रता के बाद से नीति-निर्माताओं ने हमेशा कृषि-उत्पादकता में एक तीव्र व द्धि की आवश्यकता पर बल दिया है। इस उद्देश्य से यह आवश्यक था कि उत्पादकता के निम्न स्तर हेतु जिम्मेदार कारकों की पहचान कर उन्हें यथासम्भव दूर करें। भारतीय कृषि में भूमि की निम्न उत्पादकता हेतु उत्तरदायी कारकों को चार श्रेणियों में बाँटा गया है। ये हैं –

क) संस्थागत त्रुटियां;

ख) प्रौद्योगिक पिछड़ापन;

ग) समाजशास्त्रीय व अन्य सामान्य कारक; और

घ) निवेश का चिरंतन अभाव।

आइए हम कृषि-उत्पादकता पर इन कारकों में से प्रत्येक के प्रभाव की जाँच करें।

14.5.1 संस्थागत त्रुटियां

ये कमियाँ कृषि-व्यवस्था और उसकी संक्रियाओं की अन्तर्निहित कमजोरियों को बतलाती हैं। इस व्यवस्था इसके कार्य और प्रगति को प्रभावित करने वाले पक्ष ये है : – (1) भूमि-संबंध प्रणाली, (2) ऋण एवं विपणन प्रणाली, तथा (3) अर्थव्यवस्था में विकास आवेगों का अभाव।

कृषिक संबंधों की व्यवस्था का विस्त त अध्ययन हमने खंड 1 में किया था। यहां हम इनके उत्पादिता पर विपरीत प्रभावों की संक्षिप्त सी चर्चा ही करेंगे। स्वतन्त्रतापूर्व भू-स्वामी वर्ग अपने स्वामित्व अधिकारों का प्रयोग अपने ही लाभ के लिए करता था। तेजी से बढ़ती जनसंख्या की दशा में, भूमि हेतु माँग अपने उत्कर्ष पर थी। वंशगत अधिकार रखने वाले मुठ्ठी भर कृषकों के साथ किसानों की काश्तकारी शर्तें मेल नहीं खाती थीं। इस प्रकार भू-स्वामिगण भूमि पर लगान बढ़ाने में सक्षम थे। कृषकगण भूमि पर कुछ भी सुधार करने के लिए यथाशक्ति सब कुछ लगा चुके थे। भू-स्वामी स्वयं भी लगान बढ़ाने की अपनी क्षमता को देखते हुए इस प्रकार के किसी भी सुधार को करने में रुचि नहीं रखते थे। भूमि-वितरण भी बहुत असमान था और भू-स्वामी ग्रामीण क्षेत्रों में श्रम की प्रचुरता का पूरी तरह से अपने ही लाभ हेतु प्रयोग करते थे। भूमि-सुधारों के उपायों के माध्यम से इस स्थिति को ठीक करने के लिए स्वतन्त्रता के तत्काल बाद प्रयास किए गए। बिचौलियों का उन्मूलन, किसानों को काश्तकारी अवधि की और अधिक सुरक्षा प्रदान करने हेतु काश्तकारी सुधार, भूमि लगान के नियमन तथा भूमि-जोतों पर उच्चतम सीमा लागू करके भूमि पुनराबंटित करने के कुछ प्रयास किए गए हैं। ये केवल अंशतः ही सफल रहे हैं और अधिकतर तो विफलप्राय ही रहे हैं।

शोषणकारी ऋण प्रणाली और मण्डी तक आसान पहुँच का अभाव निम्न कृषि-उत्पादकता हेतु उत्तरदायी अन्य कारक थे। उचित विपणन व्यवस्था के अभाव में उत्पादक अपनी उपज का पूरा मूल्य पाने में अक्षम होता है। बाजार में बिचौलिए उत्पादक के पास और उपजाने के लिए मामूली-सा नफा छोड़कर अधिकांश लाभ स्वयं हड़प जाते हैं। ऋण की ऊँची लागत और उसकी अपर्याप्तता भी भूमि में किसी भी सुधार को खेतीहरों के लिए असंभव बना रही थी। इन मामलों पर खंड 5 में विस्तार से चर्चा की जाएगी।

सार्थक व द्धि और भारतीय अर्थव्यवस्था के औद्योगीकरण के अभाव ने भी एक ऐसी व्यवस्थागत दुर्बलता का रूप धारणकर लिया था जिसने कृषि को अधिकाधिक श्रमबल के आवेग को सहने पर बाध्य किया। गैर-कृषि क्षेत्रों में रोजगार अवसरों के अभाव में अधिक

से अधिक श्रमिक कृषि से ही बँधे रहे। अधिकांश अतिरिक्त श्रमबल ने कृषि-उत्पादन में कोई योगदान नहीं किया बल्कि वे विद्यमान कार्य अवसरों का उपयोग मात्र करते रहे।

अतः यह तो स्पष्ट ही है कि अपनी अन्तर्निहित त्रुटियों के कारण कृषि-व्यवस्था टूटती जा रही थी। इसीलिए, स्वतन्त्रोत्तर काल में, इन कमजोरियों में से कुछ को दूर करने की आवश्यकता पर जोर दिया गया। यद्यपि हम भारतीय कृषि में संस्थागत कमियों को दूर करने हेतु किए गए उपायों की सफलता का मूल्यांकन नहीं कर रहे हैं, आगामी पाठांश में उनमें से कुछ पर हम बातचीत अवश्य करेंगे।

14.5.2 प्रौद्योगिकीय पिछड़ापन

इकाई 12 में आपने जाना कि भारतीय कृषि का प्रौद्योगिकीय पिछड़ापन निम्न उत्पादकता का एक महत्त्वपूर्ण कारक है। प्रौद्योगिकी का पिछड़ापन परम्परागत औजार व साधनों में प्रकट होता है। लकड़ी का हल और बैलों की एक जोड़ी कृषि कार्यों को चलाने के प्रमुख साधन रहे हैं। यद्यपि कृषि का कुछ यंत्रीकरण स्वतन्त्रता के पश्चात् हुआ है, ट्रैक्टरों, कटाई-मशीनों, शुष्कन यन्त्रों तथा अन्य यांत्रिक उपकरणों का कुल प्रयोग कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित हैं। काफी बड़ी संख्या में किसान प्राचीन औजारों तथा साधनों का प्रयोग कर रहे हैं।

स्वतंत्र भारत में प्रारंभिक वर्षों में परम्परागत औजारों तथा उपस्करों के अतिरिक्त, उर्वरक का प्रयोग मात्र गोबर से बनी खादों तक ही सीमित था। यद्यपि 1966-67 के बाद से रासायनिक उर्वरकों को (विशेषकर नई कृषि प्रौद्योगिकी के अनुप्रयोग के पश्चात्) प्रोत्साहन मिला है, फिर भी ऐसे उर्वरकों के प्रयोग में विभिन्न क्षेत्रों में बहुत भारी विषमताएं बनी हुई हैं।

कृषि कार्यों की जल की आपूर्ति पर निर्भरता निर्णायक सिद्ध होती है। यहां तक कि जुताई भी म दा के नमी स्तरों पर निर्भर रहती हैं। इसीलिए मिट्टी में उचित मात्रा तथा उपयुक्त समयों पर जल देते रहना पड़ता है। वर्षा-आधारित सिंचाई प्रणाली में वर्षा के सही समय और सही परिमाण के साथ नहीं आने पर इन शर्तों इनमें से किसी भी शर्त को पूरा न करने से समस्याएँ पैदा होती हैं और उत्पादकता पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय कृषि-अधीन क्षेत्र का 80 प्रतिशत से अधिक और वर्तमान में भी 66 प्रतिशत सिंचाई के लिए वर्षा पर ही निर्भर है। सिंचाई सुविधाओं में सुधार ने सिंचित भूमि पर जुताई की गहनता बढ़ाई है। ऐसी भूमि के काफी बड़े हिस्से पर एक से अधिक फसलें और कुछ मामलों में तो तीन फसलें भी, ली जा रही हैं। परन्तु वह क्षेत्र जो वर्षा पर निर्भर है कुल कृषि-अधीन सकल क्षेत्र का बहुत बड़ा भाग बना हुआ है। कुल मिलाकर देश की औसत उत्पादकता इसी कारण निम्न बनी हुई है।

14.5.3 सामाजिक व अन्य सामान्य कारक

भारतीय कृषि व्यवस्था का उस सामाजिक व्यवस्था से गहरा संबंध है जो कृषिक गतिविधियों में संलग्न समुदाय से जुड़ी है। भारत के ग्राम समुदाय में जातीय विभाजनों और सामाजिक पदानुक्रम का वर्चस्व चल रहा है। सामाजिक परम्पराओं के अलावा धार्मिक प्रव त्तियाँ और सामाजिक कर्मकाण्ड भी समुदाय को परम्परा के साथ एक बंधन में बाँधे रखते हैं और आधुनिकीकरण के रास्ते में रोड़ा अटकाते हैं। जन्म, म त्यु तथा विवाहों से जुड़े धार्मिक व सामाजिक कर्मकाण्ड खर्चा बढ़ाते हैं, जो अक्सर ऋण लेकर पूरे किये जाते है। अधिकांश मामलों में, चूँकि ऋण चुकाने की क्षमता नहीं होती, यह भूमि-हस्तांतरण तथा भूमिहीन श्रमिकों की संख्या में व द्धि की ओर प्रव त्त करता है। इसी प्रकार, जनसंख्या व द्धि और वसीयत कानून उन जोतों के प्रविभाजन की ओर प्रव त्त करते हैं जो किसी परिवार हेतु

आर्थिक साधन बने रहने की द ष्टि से बहुत ही छोटे होते जा रहे हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक संसाधनों की काफी बर्बादी होती है, क्योंकि, कुछ समुदाय-सेवाएँ जाति अथवा सामुदायिक आधार पर बँटी हैं। विशेषतौर पर नारी शिक्षा तथा आमतौर पर बच्चों की शिक्षा की ओर व्यापक स्तर पर फैली उदासीनता विरासत में मिली सामाजिक कमजोरी है। परिणामतः, भावी जनसंख्या व द्धि तथा कृषि-उत्पादन पर इसका हानिकारक प्रभाव पड़ता है। ये सामाजिक विभाजन प्रव त्तियों के आधुनिकीकरण और प्रौद्योगिकी में सुधारों के माध्यम से श्रम की कठोरता घटाने हेतु संशक्तिशील सामाजिक कार्रवाई को पनपने ही नहीं देते। स्वास्थ्य सेवाओं, पेयजल, और वर्ष भर व्यवहार्य मार्गों के अभाव भी परिवर्तन के प्रति उदासीनता का वातावरण बनाए रखते हैं।

14.5.4 निवेश का निरंतर अभाव

भारतीय कृषि में निम्न उत्पादकता के ज़ारी रहने के पीछे महत्त्वपूर्ण कारकों में एक है – निवेश आवश्यकताओं की उपेक्षा। सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा निवेश भारत में लगभग पूरे ब्रिटिश शासन में न्यूनतम था। जो कुछ भी निवेश किए गए थे वे उन स्थायी दुर्भिक्षकारी स्थितियों से उभरने के लिए शुरू किए गए थे जो उन्नीसवीं सदी के अंत में उभरने लगी थीं। परंतु सिंचाई परियोजनाओं को तैयार करने की दिशा में प्रगति बहुत धीमी और नगण्यप्राय थी। कृषि में निजी क्षेत्र भी आरंभ नहीं हुआ था क्योंकि जमींदार लोग व्यवस्था का शोषण अपने हित में करने में सक्षम थे और निवेश करने में उन्हें कोई रुचि नहीं थी।

स्वतंत्रता के तुरंत पश्चात् इस स्थिति को ठीक करने के कदम उठाये गए थे। परंतु उपेक्षा के लंबे काल और कृषि क्षेत्र के व हत् आकार के कारण कृषि क्षेत्र का विकास के लिए भारी निवेश की आवश्यकता थी। एक गरीब अर्थव्यवस्था के लिए एक साथ औद्योगिकीकरण एवं कृषि विकास के लिए पर्याप्त संसाधनों को तत्काल सुलभ बनाना बहुत ही दूरूह कार्य थे। सिंचाई के लिए जल-संसाधनों का बिजली-निर्माण आदि के प्रयोग में लाने के लक्ष्य के साथ बहुउद्देश्यीय नदी-घाटी परियोजनाओं की स्थापना, जल-विद्युत् शक्ति की आपूर्ति और बाढ़ नियंत्रण के लिए प्रयास किए गए। इन कार्यों पर हुआ निवेश, अति विशाल था। इन योजनाओं के कारण विस्थापित जन समुदायों के पुनर्वास की समस्याएं भी काफी जटिल रही हैं।

कुल मिलाकर, स्वातंत्र्योत्तर काल में सिंचाई व्यवस्था को सुधारने के लिए सार्वजनिक निवेश स्वतंत्रतापूर्व काल में किए निवेश से काफी अधिक था। परंतु यह सारा प्रयास कृषि क्षेत्र की दीर्घकालिक उपेक्षा द्वारा पहुँचाये गए नुकसान की भरपाई करने के लिए पर्याप्त नहीं था। विद्यमान नहर प्रणाली को सुधारने और पुनर्प्रचलित किए जाने की आवश्यकता थी। प्रौद्योगिकीय अनुसंधान किए जाने और प्रयोगशाला से खेतों तक लाने की आवश्यकता थी। नई प्रौद्योगिकी के प्रसार के लिए संसाधन उत्पन्न किए जाने थे। समुदायिक सेवाएँ सुधारी जानी थीं। फिर भी कृषि क्षेत्र लगातार पर्याप्त निवेश के अभाव से जूझ रहा था। योजनाओं में कृषि को प्रदान प्राथमिकता उद्योग को दी जाने वाली प्राथमिकता से कम ही रही।

बोध प्रश्न 3

1) बताएँ कि निम्नलिखित कथन सत्य हैं अथवा असत्य :

   क) जमींदार लोग इतना अधिक लगान वसूलते थे कि किसानों के पास उनकी भरण-पोषण की आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद निवेश के लिए बहुत ही कम बचता था।

   ख) ब्रिटिश शासन के दौरान सिंचाई स्रोतों का अच्छा खासा विकास हुआ था।

ग) ब्रिटिश शासकों ने भारत में कृषि के विकास हेतु विशाल धनराशियों का निवेश किया।

घ) बहुत से खेतों में अभी भी प्राद्योगिकय पिछड़ापन चल रहा है।

ङ) ग्रामीण समाजशास्त्रीय परिस्थितियाँ भी भारत में निम्न कृषि-उत्पादकता हेतु उत्तरदायी हैं।

2) भारत में निम्न कृषि-उत्पादकता को जन्म देने में प्रौद्योगिकीय पिछड़ेपन की भूमिका स्पष्ट करें।

....

....

....

....

....

3) भारत में निम्न कृषि-उत्पादकता बने रहने के लिए उत्तरदायी समाजशास्त्रीय कारकों पर टिप्पणी करें।

....

....

....

....

....

14.6 उत्पादकता बढ़ाने के उपाय

आइए उन उपायों पर विचार करें जो कृषि-उत्पादकता को बढ़ाने के लिए किए गए हैं। संस्थागत कमियों, प्रौद्योगिकीय पिछड़ापन और कृषिक अर्थव्यवस्था को नष्ट करतीं बुनियादी ढाँचागत समस्याओं से उबरने के लिए अब तक उठाए गए कदमों ने निस्संदेह उत्पादकता को बढ़ाने में योगदान दिया है। अन्य आवश्यक प्रयासों के विषय में हम आगे चर्चा कर रहे हैं।

14.6.1 संस्थागत उपाय

संस्थागत मोर्चे पर, भूमि संबंधों में व्यापक परिवर्तन लाने के लिए स्वतंत्रता से पूर्व भी नितान्त आवश्यकता अनुभव की गई थी। बिचौलियों का उन्मूलन, काश्तकारी की सुरक्षा प्रदान करने, भूमि-लगानों को नियमित करने और किसानों को स्वामित्व अधिकार प्रदान करने हेतु भूमि सुधार केवल अंशतः सफल रहे हैं। भूमि-जोतों पर उच्चतम सीमा निर्धारण लागू करने के प्रयास ज्यादा प्रभावी नहीं रहे हैं। विखंडित जोतों को समेकित करने के उपाय केवल कुछ क्षेत्रों में ही सफल रहे हैं। प्रभावी संस्थागत सुधारों का महत्त्व पूरी तरह जान लिया गया है परंतु अनेक कानूनी बाधाएँ और राजनीतिक दवाब इस संबंध में सफलता के मार्ग में बाधक रहे हैं।

भूमि-सुधार उपायों की उपादेयता से इंकार नहीं किया जा सकता। बिचौलियों (नामतः जमींदारों) के उन्मूलन ने उल्लेखनीय प्रभाव डाला है और बड़ी संख्या में किसान लाभान्वित

हुए हैं। काश्तकारी सुधार और भूमि-जोतों पर सीमाबंदी भी कुछ राज्यों में आंशिक रूप से सफल रही है। कुछ राज्यों (विशेषकर केंद्रीय तथा पश्चिमी भारत) में भूमि सुधार के परिपालन में ढुलमुलपन को दूर किया जाना है। भूमि सुधारों को लागू किए बिना उत्पादकता में सुधार के अन्य उपायों का प्रभाव सीमित ही होगा।

14.6.2 प्रौद्योगिकीय परिवर्तन

यद्यपि स्वतंत्रता के तत्काल बाद संस्थागत सुधारों को ऊँची प्राथमिकता देना स्वीकार किया गया, साथ ही बहुउद्देश्यीय नदी-घाटी परियोजनाओं के माध्यम से देश के प्रचुर जल-संसाधनों से बिजली-उत्पादन आदि पर भी बहुत ध्यान दिया गया। भाखड़ा-नंगल परियोजना, हीराकुंद परियोजना तथा दामोदर घाटी परियोजना जैसी बड़ी परियोजनाएँ न सिर्फ सिंचाई की बल्कि बाढ़-नियंत्रण तथा पनबिजली-आपूर्ति की भी प्रमुख स्रोत बन गई हैं।

साठ के दशकमध्य तक, (विशेषकर पाकिस्तान से 1965 के युद्ध के बाद) खाद्य सुरक्षा की आवश्यकता अनुभव की गई। खाद्य आयात पर अत्यधिक निर्भरता एक रणनीतिगत कमजोरी का स्रोत बन गई। अनाव ष्टि के वर्षों ने तो इस समस्या को गंभीर बना दिया। इसी कारण यह अनुभव किया गया कि उत्पादकता (विशेषकर खाद्यान्नों की) बढ़ाने के कदम तत्काल उठाए जाने चाहिए।

14.6.3 संरचनात्मक परिवर्तन

कृषि क्षेत्र की अपेक्षाओं को पूरा करने वाले बुनियादी ढाँचे में व्यापक विकास और प्रसार आया है। इसने इस क्षेत्र में उत्पादकता बढ़ाने में मदद की है।

प्रथमतः, कृषि उत्पादों के लिए देश में विपणन व्यवस्था उल्लेखनीय रूप से सरल, कुशल और सुसंगठित बनाई गई है। वर्तमान में कृषि-उत्पादों हेतु लगभग 7062 नियमित बाजार हैं। उत्पादों के श्रेणीकरण और मानकीकरण को प्रोत्साहन दिया जा रहा है तथा १६२ कृषि तथा समवर्गी उत्पाद श्रेणीकृत किए गए हैं। नैफेड (NAFED – भारतीय राष्ट्रीय कृषि सहकारी विपणन संघ) विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के विपणन हेतु किसानों को सहयोग प्रदान कर रहा है। इसने सहकारिताओं के माध्यम से कृषि-उपज के विपणन को प्रोत्साहित किया है।

दूसरे, कृषि क्षेत्र को बैंकिंग क्षेत्र से भी उल्लेखनीय वित्तीय समर्थन प्राप्त हुआ है। इसने कुछ सीमा तक उस शोषणकारी साहूकारी व्यवस्था पर किसानों की निर्भरता को कम किया है जो कृषि क्षेत्र से उसके संसाधनों का अपवहन करती आ रही थी। किसानों को ऋण की आपूर्ति में सहायता देने के लिए अनेक योजनाएँ शुरू की गई हैं ताकि कृषि-उत्पादन की निर्बाध व द्धि सुनिश्चित हो सके।

तीसरे, अनेक अन्य योजनाएँ व उपाय किए गए है जो ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों के बीच खाई को कम करने की ओर प्रव त्त हैं। ये उत्पादकता व द्धि और आधुनिकीकरण की ओर प्रव त्ति को सहज बनाने वाले भी हैं। गाँवों का विद्युतीकरण, ग्रामीण क्षेत्रों में दूरसंचार का सुधार, स्वास्थ्य सेवाओं का संवर्धन सभी से उत्पादकता बढ़ाने में मदद की आशा की जाती है।

14.6.4 सरकारी-नीतियाँ

कृषि क्षेत्र की प्रगति में राज्य व केंद्रीय सरकारों की दिलचस्पी उनके नीतिगत उपायों में प्रकट होती है। संस्थागत समर्थन देने के अतिरिक्त सरकार ने फसल बीमा तथा समर्थन

मूल्य निर्धारण जैसी योजनाएँ शुरू की हैं। इसके अतिरिक्त, भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान् (आई.ए.आर.आई.) के कृषि अनुसंधान कार्यक्रम कृषि संक्रियाओं के आधुनिकीकरण हेतु इच्छा जाग त करने के लिए उत्तरदायी रहे हैं।

स्वतंत्रतापश्चात् काल में, (विशेषकर सत्तर के दशकांत तक) कृषि क्षेत्र में सार्वजनिक निवेश व द्धि भी इस क्षेत्र में कुछ परिवर्तन उत्पन्न करने हेतु उत्तरदायी रही है। वैसे यह निवेश वांछित दर से नहीं बढ़ा है। नब्बे के दशक में तो कृषि क्षेत्र में सार्वजनिक निवेश में न्यूनाधिक स्थिर ही रहा है।

अर्थव्यवस्था में कुल मिलाकर विकास इतना नहीं हुआ जिससे कि कृषि पर बढ़ती जनसंख्या का दवाब कम हो सकता। जनसंख्या की नैसर्गिक व द्धि कृषि क्षेत्र पर अपना तत्काल प्रभाव डालती है। यह क्षेत्र भारत में सीधे लगभग दो-तिहाई कार्यबल और परोक्षतः एक बड़े अनुपात को निरंतर सहारा दे रहा है। धीमे औद्योगिक विकास और उसके स्वरूप ने कृषि पर इस दवाब को कम करने हेतु पर्याप्त रोजगार अवसर पैदा नहीं किए हैं। परिणामस्वरूप, कृषि क्षेत्र का एक बड़ा भाग प्रौद्योगिकीय व अन्य उन्नतियों से निरंतर अछूता है।

बोध प्रश्न 4

1) निम्न में से कौन से उपाय कृषि उत्पादकता को बढ़ावा देने वाले नहीं हैं?

   क) उच्च-उत्पादन-किस्म बीजों का पदार्पण

   ख) बिचौलियों का उन्मूलन

   ग) बाढ़-राहत उपाय

   घ) बहुउद्देश्यीय नदी-घाटी परियोजनाओं के माध्यम से प्रदत्त सिंचाई सुविधाएँ।

2) बताएँ निम्नलिखित कथन सत्य हैं अथवा असत्य :

   क) भूमि सुधारों का कृषि-उत्पादकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

   ख) केवल सत्तर के दशक में ही नई कृषि रणनीति के स्वीकरण के बाद प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों ने उत्पादकता व द्धि को प्रभावित किया।

   ग) कृषि-उपज विपणन के क्षेत्र में बुनियादी ढाँचागत परिवर्तनों ने कृषि-उत्पादकता व द्धि में मदद की है।

   घ) नब्बे के दशक में कृषि क्षेत्र में सार्वजनिक निवेश स्थिर रहा है।

3) स्वातंत्र्योत्तर भारत में कृषि-उत्पादकता व द्धि को प्रोत्साहन देने में प्रौद्योगिकीय सुधारों की भूमिका पर टिप्पणी करें।

....

....

....

....

....

....

4) भारत में कृषि-उत्पादकता बढ़ाने में भूमि-सुधार उपायों की भूमिका पर संक्षेप में चर्चा करें।

....

....

....

....

....

14.7 सारांश

भारतीय कृषि, स्वतंत्रताप्राप्ति के समय पतन की स्थिति में थी और उसमें दीर्घ कालिक संव द्धि के कोई संकेत नहीं थे। स्वातंत्रयोत्तर काल में कृषि उत्पादन की दीर्घकालिक व द्धि दर लगभग २०७ प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। कृषि-अधीन क्षेत्र की व द्धि दर मात्र 0.62 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी जबकि उत्पादकता की दर 1.60 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। पहले की अवधि के मुकाबले हरित-क्रांत्योत्तर काल में उत्पादकता-व द्धि दर में महत्त्वपूर्ण भेद हैं। खाद्यान्नों व अन्य फसलों के मामले में भी उत्पादकता व द्धि उन्नत हो रही है।

उत्पादकता में व द्धि के बावजूद भारत में उत्पादकता के वर्तमान स्तर विकसित तथा कई विकासशील देशों में उत्पादकता-स्तरों से काफी नीचे हैं। इस प्रकार, उत्पादकता में सुधार हेतु विशाल कार्यक्षेत्र सामने है। भारत में निम्न कृषि उत्पादकता का दोष स्वतंत्रतापूर्व काल में कृषि निवेशों की उपेक्षा के अतिरिक्त शोषणकारी भूमि संबंधों, प्रौद्योगिकी के पिछड़ेपन और कुछ सामाजिक कारकों के सर है। स्वातंत्रयोत्तर काल में नई कृषि रणनीति, विपणन एवं वित्तीय बुनियादी ढाँचे के सशक्तिकरण, सरकार द्वारा अपनाये गए अन्य नीतिगत उपायों तथा प्रौद्योगिकीय उन्नति के माध्यम से कृषि संबंधों को सुधारने के कदमों का कृषि के निष्पादन और संभावनाओं पर एक सीमित प्रभाव पड़ा है।

1949-50 से कृषि उत्पादन में लगभग 2.7 प्रतिशत प्रतिवर्ष की कुल व द्धि दर बीसवीं सदी के प्रथमार्ध में देखी गई व द्धि दर की अपेक्षा काफी ऊँची है। फिर भी, कृषि में निम्न व द्धि दर भारत में आर्थिक संव द्धि दर को वांछित दर से काफी नीचे रखने के लिए जिम्मेदार है। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद देखी गई उत्पादन व द्धि के कुछ लाभ उल्लेखनीय हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था व्यापक रूप से उन खाद्य आयातों से मुक्त होने में सफल हो सकी है जो देश की खाद्य सुरक्षा को पलीता लगा रहे थे। खाद्य उत्पादन की ऊँची व द्धि दरों ने स्फीतिकारी दवाबों के प्रभाव को कम करने में भी मदद की है।

हाल के वर्षों में उत्पादन तथा उत्पादकता में व द्धि के प्रसार तथा विकास ने आशा जगाई है कि प्रौद्योगिकीय परिवर्तन और अधिक क्षेत्रों में अपनाया जा रहा है। परंतु, इस प्रौद्योगिकी के निरंतर समान वितरण हेतु भूमि सुधारों के क्रम को ज़ारी रखना होगा ताकि उनके उद्देश्य पूरे हो सकें। भूमि सुधारों के बिना नई प्रौद्योगिकी के लाभ केवल धनी किसानों तक ही सीमित रह जायेंगे।

14.8 शब्दावली

आधार-वर्ष : यह उस संदर्भ वर्ष को इंगित करता है जिसकी तुलना में परिवर्तनों का मूल्यांकन किया जाता है।

उत्पादकता (उत्पादिता) : उत्पादन प्रति भूमि-इकाई। उदाहरण के लिए, यदि एक किसान 2 हेक्टेयर भूमि से 60 क्विंटल गेहूँ पैदा करता है तो गेहूँ की उपज 30 क्विंटल प्रति हेक्टेयर है।

फसल-समूह : इसका अर्थ है – एक ही प्रधान श्रेणी से संबंधित फसलों का एक समूह। उदाहरण के लिए, खाद्यान्न एक फसल-समूह है जिसमें चावल, गेहूँ, मक्का और मोटे अनाज जैसी फसलें शामिल हैं। इसी प्रकार, रेशा एक फसल-समूह है जिसमें कपास, पटसन तथा मेस्टा जैसी फसलें शामिल हैं।

वर्षत्रय : यह तीन वर्ष की अवधि होती है। इस प्रसंग में, 1981-82 = 100 को समाप्त वर्षत्रय का अर्थ है कि यह आधार-वर्ष 1979-80, 1980-81 तथा 1981-82 के उत्पादन का औसत स्तर है। यह तीन–वर्षीय औसत यह सुनिश्चित करने के लिए लिया जाता है कि आधार-वर्ष असामान्य उतार-चढ़ावों से मुक्त रहे।

चक्रवर्धी व द्धि-दर : यह एक समयावधि हेतु आकलित की गई औसत व द्धि दर है। यह $P_t = P_o (1+ r)^t$ द्वारा प्रदत्त दो अवधियों (t और o) के बीच चक्रव द्धि ब्याज दर 'r' के समान उसी आधार पर परिकलित की जाती है।

सूदखोर ऋण प्रणाली : ब्याज की अत्यधिक ऊँची दरों पर उधार लेने-देने वाली पद्धति।

14.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Agarwal, A.N. and Kundan Lal (1990): *Rural Economy of India: Problems, Progress and Prospects*, Vikas Publishing House, New Delhi.

Agarwal A.N. (1999): *Indian Economy: Problems of Development and Planning, Vishwa Prakashan*, New Delhi.

Datt, Ruddar and KPM Sundharam (1999): *Indian Economy*, S. Chand & Co., New Delhi.

Mishra, S.K. and V.K. Puri (1999): *Indian Economy*, Himalaya Publishing House, Bombay.

14.10 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

बोध प्रश्न 1

1) क) अ, ख) अ, ग) स, घ) स, च) अ।

2) अपना उत्तर उप-भाग 14.2.1 के संदर्भ में दें।

3) देखें उप-भाग 14.2.3

4) देखें उप-भाग 14.2.2

बोध प्रश्न 2

1) क) स, ख) अ, ग) स, घ) स, च) स।

2) अपना उत्तर उप-भाग 14.2.3 के संदर्भ में दें।

3) देखें भाग 14.3

बोध प्रश्न 3

1) क) स, ख) अ, ग) अ, घ) स, च) स।

2) देखें उप-भाग 14.5.2

3) देखें उप-भाग 14.5.3

बोध प्रश्न 4

1) ग

2) क) अ, ख) अ, ग) स, घ) स

3) देखें उप-भाग 14.6.2

4) देखें उप-भाग 14.6.1

इकाई 15 क षि में पूंजी निर्माण

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 पूंजी क्या है?
15.3 क षि में पूंजी के प्रकार
15.3.1 कार्य संचालन पूंजी एवं निवेश पूंजी
15.3.2 निजी और सामाजिक पूंजी
15.4 पूंजी निर्माण – मूल अवधारणा
15.4.1 सकल और शुद्ध पूंजी-निर्माण
15.4.2 स्थिर पूंजी-निर्माण
15.4.3 घरेलू पूंजी-निर्माण
15.5 पूंजी का संचय
15.6 क षि में पूंजी निर्माण की भूमिका
15.7 क षि में पूंजी की मांग
15.7.1 क षि ऋण
15.7.2 गैर क षि व्यवसाय के लिये ऋण
15.8 क षि को पूंजी की आपूर्ति
15.8.1 संस्थागत पूंजी
15.8.2 गैर-संस्थागत पूंजी
15.9 क षि में पूंजी निर्माण की गणना प्रणाली
15.10 भारत में क षि में पूंजी निर्माण की प्रव त्ति
15.10.1 क षि में निजी निवेशों की संरचना
15.10.2 क षि में सार्वजनिक निवेशों की संरचना
15.10.3 क षि में सार्वजनिक एवं निजी निवेश : पूरक अथवा प्रतिद्वन्द्वी?
15.10.4 निवेश शिथिलता का क षि की संव द्धि पर प्रभाव
15.10.5 क षि में सार्वजनिक निवेश की गिरावट के कारण
15.11 सारांश
15.12 शब्दावली
15.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें
15.14 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

15.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप जानेंगे:

- पूंजी निर्माण की अवधारणा और पूंजी के प्रकारों की व्याख्या;
- क षि में पूंजी निर्माण की भूमिका;

- क षि में पूंजी की मांग एवं पूर्ति की पहचान;
- पूंजी निर्माण की गणना प्रणाली की व्याख्या; तथा
- भारतीय क षि में सार्वजनिक और निजी पूंजी निर्माण की प्रक ति की पहचान।

15.1 प्रस्तावना

भारत जैसे विकासशील देशों में क षि क्षेत्रक में पूंजी का सर्वदा अभाव रहा है। इस का मुख्य कारण यही है कि अधिकतर फार्म संचालक क षि व्यवसाय में पर्याप्त मात्रा में धन का निवेश नहीं करते। सफल क षि पूंजी आगत के पर्याप्त प्रावधान पर निर्भर करती है, क्योंकि, यह क षकों को कुशलता पूर्वक क षि संचालन करने में सक्षम बनाती है। पूंजी की आपूर्ति की अपर्याप्तता और इसका अकुशल प्रबंध संचालन के क षि पर गंभीर दुष्प्रभाव होते हैं।

पिछले कुछ दशकों में भारतीय क षि में बड़े तकनीकी परिवर्तन आए हैं और इसका प्रगतिशील व्यावसायिकरण हुआ है। कई कार्यक्रमों, जिनमें गहन क षि जिला कार्यक्रम (IADP) (1963-64 में प्रारंभ) और गहन क षि क्षेत्र कार्यक्रम (IAAP) (1964-65 में प्रारंभ) सम्मिलित हैं, ने क षि में आधुनिक तकनीकों के प्रयोग पर जोर दिया। इसके अतिरिक्त उच्च पैदावार किस्मों (HYV) के बीजों के कार्यक्रम और 1960 के उत्तरार्ध में हरित क्रांति के प्रवेश से अच्छी आगतों के संयोजन (package) पर विचार किया गया और फार्म क्षेत्रक में ऐसी आगतों की आपूर्ति सुनिश्चित की गई। ऐसे तकनीकी नवीन परिवर्तनों के प्रवेश से, भारत के क षि में पूंजी का महत्व बढ़ा है।

15.2 पूंजी क्या है?

आप यह जानते हैं कि पूंजी आगत उत्पादन के उत्पादित साधनों के रूप में परिभाषित होती है। इस रूप में पूंजी श्रम और भूमि जैसी अन्य आगतों से काफी भिन्न है। अर्थशास्त्रियों ने पूंजी को अनेक रूप से परिभाषित किया है। कुछ के लिये यह 'उत्पादन का एक यंत्र' मात्र है। यद्यपि ऐसी विवेचना संक्षिप्त और संचरणीय (communicable) है, किन्तु यह कुल पूंजी की एक मुख्य विशिष्टता, अर्थात् पूंजी के उत्पादन में उपयोग की ओर निर्दिष्ट करती है। कुछ औरों के लिये पूंजी भौतिक संयंत्रों, यंत्रों, मशीनों, इत्यादि की भांति एक मूर्त पदार्थ है। किन्तु यह पूंजी का एक भाग है। टी.डबल्यू. शूल्ज़ कहते हैं कि मनुष्यों में शिक्षा, तकनीकी प्रशिक्षण और प्रबंधन ज्ञान में निवेश भी पूंजी के एक अंश, विशेषकर मानवीय पूंजी का निर्माण करता है। मानवीय पूंजी का योगदान विकसित देशों की उत्पादन संव द्धि के दो तिहाई से तीन चौथाई के बीच बैठता है।

अपने सरलतम रूप में पूंजी को उत्पादन की एक आगत (Input) के रूप में परिभाषित की जा सकती है। किन्तु एक अच्छी परिभाषा की एकमात्र विशेषता सरलता ही नहीं होती। आइये अन्य परिभाषाओं पर भी एक द ष्टि डालें:

1) पूंजी से तात्पर्य उन सभी मानव निर्मित वस्तुओं और सेवाओं से है जो आगे उत्पादन के लिये प्रयुक्त होती हैं– मुरे और नेल्सन
2) पूंजी पदार्थ वे पदार्थ है जो आर्थिक व्यवस्था द्वारा उपभोग और अन्य वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन के लिये आगतों के रूप में प्रयोग किये जाते हैं – पॉल ए सैम्युलसन
3) पूंजी में उपभोग के लिये सुरक्षित वे उत्पादित वस्तुएं और सेवाएं आती है जो मानवीय कर्तों द्वारा या मानव कर्त्तोंओं के अंश के रूप में अतिरिक्त उत्पादन में प्रयुक्त होती है– कैनेथ इ. वॉल्डिंग

15.3 क षि में पूंजी के प्रकार

हम क षि पूंजी को निम्नलिखित श्रेणियों वर्गीक त कर सकते हैंः

13.3.1 कार्य संचालन पूंजी एवं निवेश पूंजी

क षि पूंजी के दो प्रकार हैं : i) कार्य संचालन या काम चलाऊ पूंजी और ii) स्थिर या निवेश पूंजी। पहली से तात्पर्य उन खर्चों से है जो बीजों, उर्वरकों, वेतन और सिंचाई की लागत आदि आगतों पर व्यय किये जाते है। दूसरी ओर, स्थिर परिसम्पतियों जैसे भूमि, मशीनों और कुओं के निर्माण आदि से संबंधित है। काम चलाऊ पूंजी लघु कालिक निवेशों से संबंध रखती है जबकि निवेश पूंजी दीर्घकालिक निवेशों का प्रतिनिधित्व करती है।

15.3.2 निजी और सामाजिक पूंजी

पूंजी को निजी या सामाजिक पूंजी में भी बांटा जा सकता है। वह पूंजी जो निजी व्यक्तियों के अधिकार में होती है, उसे निजी पूंजी कहते हैंः जैसे क षि फार्म, भूमि, पशु, ट्रेक्टर, पम्प सैट आदि। सार्वजनिक व्यय स्थानीय, राज्य अथवा अन्य सार्वजनिक अभिकरणों द्वारा बांध, नहरों आदि के लिये वहन किये जाते है। वे सामाजिक पूंजी की श्रेणी में आते हैं। दोनों प्रकार की पूंजी देश के सामाजिक आर्थिक विकास में मदद करती है।

15.4 पूंजी निर्माण – मूल अवधारणाएं

अब हम पूंजी निर्माण से संबंधित मूल अवधारणाओं पर चर्चा कर रहे हैं।

15.4.1 सकल और शुद्ध पूंजी-निर्माण

सकल पूंजी निर्माण से तात्पर्य एक वर्ष में पूंजी भण्डार में हुई सकल व द्धि से है। इसमें अचल पूंजी और सामग्री भण्डार दोनों आते हैं। शुद्ध पूंजी अपकर्ष (depreciation) के लिये प्रावधान करने के बाद, अर्थात वर्ष के दौरान उत्पादन की प्रक्रिया में खर्च हुई अचल पूंजी के मूल्य को घटाने के बाद पूंजी में हुई व द्धि होता है। अतः शुद्ध पूंजी का मान सकल पूंजी से अपकर्ष घटाने के बाद प्राप्त होता है। मूल्य ह्रास में उत्पादन प्रक्रिया में खर्च होने वाली अचल पूंजी की मात्रा आती है। यह निजी परिसंपतियों के अपेक्षित आर्थिक जीवन पर निर्भर करती है और सामान्य टूट फूट तथा पूर्वानुमानित व्ययों के कारण होने वाली मूल्य क्षति को पूरा करने के लिये होती है।

15.4.2 अचल पूंजी-निर्माण

अचल पूंजी निर्माण दो प्रकार का होता है– सकल और शुद्ध। यदि हम सकल अचल पूंजी से अपकर्ष को घटा दें तब हमें शुद्ध पूंजी प्राप्त होती है। आइये हम उन अवयवों को ढूंढें जो सकल अचल पूंजी में शामिल हैं। सर्वप्रथम हम अचल परिसम्पतियों के भंडार में जुड़े पदार्थों पर परिव्ययों को सम्मिलित करते है। इसमेंः i) उद्योग, ii) सरकार, और iii) निजी गैर लाभ संस्थाओं के योगदान सम्मिलित होते हैं। दूसरे, पुराने एवं रद्दी माल के शुद्ध योग दान (अर्थात् क्रय घटा विक्रय) को शामिल करते है। तीसरे हमः i) सामान्य प्रयोग की पुनर्उत्पादन योग्य और गैर पुनर्उत्पादन योग्य टिकाऊ वस्तुओं (भूमि, खनिज भंडारों, लकड़ी के प्रदेश, मत्स्यिकी और उस जैसी वस्तुओं के अलावा) सार्वजनिक उपयोग के लिये प्राप्ति, ii) पूंजी प्रतिपूर्ति, परिचालित निर्माणाधीन परियोजनाएं, iii) भूमि के परिष्कार और पादमक्षेत्रों, इमारती व क्षा रोपण के प्रसार और विकास पर होने वाले व्यय और प्रजननोपयोगी पशु धन, कर्षक

पशु, डेरी पशु और इसी प्रकार भूमि के विक्रय और क्रय से संबंधित हस्तांतरण की लागत आदि। चौथे, इसी प्रकार के घरेलू निर्माण पर हुये व्यय भी इसमें आते है। हम फौज के लिये प्रयुक्त दीर्घोपयोगी सरकारी व्यय को इस आंकलन से बाहर रखते हैं।

15.4.3 घरेलू पूंजी-निर्माण

घरेलू पूंजी-निर्माण से तात्पर्यः i) परिवारों द्वारा नयी पूंजी की प्राप्ति, ii) उत्पादक परिवारों के पास स्टॉक में व द्धि, iii) परिवारों द्वारा खरीदी नई रिहायशी इमारतें (पुरानी इमारत का क्रय इसमें सम्मिलित नहीं है)। घरेलू क्षेत्रक मेंः i) व्यक्तिगत, ii) गैर-सरकारी और गैर-व्यवसायी, उद्यम जैसेकि फार्म और गैर क षि व्यापार कार्य, iii) एकल स्वामित्व और साझे वाले उपक्रम (unincorporated establishments) और iv) बिना मुनाफे की संस्थायें जैसे कल्याणकारी ट्रस्ट, धार्मिक और शिक्षा संस्थानों द्वारा पूंजी निर्माण से है।

15.5 पूंजी का संचय

पूंजी का परिमापन वास्तविक बहुत अस्पष्ट रहता है। परिमापन की एक सरलतर विधि धन के रूप में है। यद्यपि याद रहे कि पैसा मात्र ही पूंजी नहीं है। पैसे की भांति पूंजी का संचय भी बचत या उधार का परिणाम होता है। ऐसे कई स्रोत हैं जिनसे क षक अपने फार्म संचालन में प्रयुक्त पूंजी का मुख्य भाग प्राप्त करते हैं। भारत में महत्वपूर्ण स्रोत इस प्रकार हैः

- व्यक्तिगत बचत
- अनुबंध क षि या ठेके पर खेती
- विविध उधार देने वाली संस्थाओं से उधार

1) **बचत**

बचत द्वारा संचित पूंजी फार्म वित्त के आधार का निर्माण करती है और क षक को जोखिम वहन करने की योग्यता प्रदान करती है। जैसा कि आप जानते हैं बचत उपभोग के बाद बची अधिशेष आय है। क षक सामान्यतः खाद्यान्न के बीज के रूप में अपने उत्पाद या आय का एक अंश अलग रख देते हैं। यही दूसरी फसल में आगत की खरीद और फार्म संचालन के काम आता है।

2) **अनुबंध क षि (Contract farming)**

हाल के वर्षों में क षि क्षेत्रक में अनुबंध क षि ने विशेष महत्ता प्राप्त की है। इस व्यवस्था में, क षकों और अनुबंध करने वाली फर्म के बीच एक विशेष उत्पाद के उत्पादन और उसके क्रय के लिये व्यवस्था किये जाते हैं। उद्योगों के प्रक्रमण में आगतों के रूप में प्रयोग में आने वाली वस्तुओं जैसे गन्ना, तेल बीजों, फलों और सब्जियों, उद्यान फसलों आदि क षि पदार्थों के विषय में अनुबंध क षि बहुत प्रचलित है। अनुबंध क षि एक समझौते के अंतर्गत किसानों को आवश्यक पूंजी की आपूर्ति करती है। ऐसे विक्रय अनुबंध किसान के पूंजी प्राप्ति के अन्य स्रोत प्रदान करते हैं।

3) **उधार**

उधार शब्द से तात्पर्य इस मन्तव्य के साथ कुछ लेने से है कि पूंजी की वह मात्रा या उस के बराबर लौटाया भी जायेगा। दूसरे शब्दों में उधार लेना किसी भविष्य की तिथि में लौटाने के वायदे पर तात्कालिक सेवाओं या पूंजी को प्राप्त करने की योग्यता से है। भारत में पूंजी

उधार लेना बहुत सामान्य है। पूंजी (i) किसी संस्थागत उधार देने वाली एजेन्सी, जैसे व्यापारिक बैंक, प्रादेशिक ग्रामीण बैंक और सहकारी बैंक से (ii) गैर संस्थागत उधार देने वाली ऐजेन्सियों जैसे साहूकारों, व्यापारियों, मध्यस्थों, मित्रों और रिश्तेदारों से उधार ली जा सकती है। यद्यपि दूसरा स्रोत धन पाने का सरलतम मार्ग है तथापि यह मंहगा है क्योंकि प्रायः ब्याज का भार (विशेषतः साहूकारों से उधार लेने मे) बहुत अधिक होता है।

बोध प्रश्न 1

1) क षि में पूंजी की अवधारणा समझाइये।

....

....

....

....

....

2) भेद करें

   अ) कार्य संचालन पूंजी और भौतिक पूंजी

   ब) निजी पूंजी और सामाजिक पूंजी

....

....

....

....

....

3) क षि में पूंजी के महत्वपूर्ण स्रोत क्या हैं?

....

....

....

....

....

15.6 क षि में पूंजी निर्माण की भूमिका

जब हम खेत और खेती शब्दों का प्रयोग करते हैं, हमें भूमि, फसल, बीजों, उर्वरकों, कीटनाशकों, बोझा ढोने वाले पशुओं, पम्प-सेट और ट्रेक्टरों जैसी वस्तुओं का ध्यान आता है। पूंजी का विचार मुश्किल से आता है। किन्तु सत्य यह है कि ये सब वस्तुएं चाहे भूमि

हो या मशीन, पशु हो फसल कुछ नही बल्कि भौतिक पूंजी है, और इस सब को प्राप्त करने के लिये पूंजी निवेश की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार, बिक्री के लिये क षि उत्पादों के तैयार होने से पहले अनेक खर्चे वहन किये जाते हैं। खेतों को तैयार किया जाता है, बीज बोये जाते हैं, जल और उर्वरक मिलाये जाते है, खुदाई की जाती है, फसल काटी जाती है, साफ की जाती है, थैली में भरी और भंडारण या विक्रय के लिये बाजार भेजी जाती है। इन सब संचालनों के लिये, श्रम की सेवाएं आवश्यक होती है और उनको मजदूरी दी जाती है। ये सब खर्चे मिल कर काम चलाऊ पूंजी कहलाते हैं। अतः पूंजी (कार्य संचालन और भौतिक) के बिना खेत को चलाना संभव नही होगा।

क षि में, पूंजी निर्माण की अवधारणा में क षि में निवेश, भूमि विकास, म दा संरक्षण, ग्रामीण सड़कें, क षि मशीनें, भंडारण और अन्य वस्तुऐं आती है। इन सब निवेशों से एक समय के बाद पैसा आने की आशा की जाती है। विकसित देशों में शोध, शिक्षा और मानवीय तकनीकी प्रशिक्षण के विकास पर होने वाला व्यय भी पूंजी निर्माण में सम्मिलित किया जाता है, क्योंकि ये संचालक की कुशलता और खेत की निर्गत को बढ़ाता है। विकासशील देशों में पूंजी निर्माण से संबंधित बहुत सी संभावनाओं को सामने लाने वाली बहुत सी रचनाएं उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिये रेग्नर नर्क्स इंगित करते हैं कि पूंजी की आपूर्ति बचत करने की इच्छा और योग्यता पर निर्भर होती है। आर्थर-लुइस ने न्यून निवेश के लिये न्यून बचत को ही कारण बताया है, जो राष्ट्रीय आय में लाभ के कम अनुपात के कारण होती है। एच.डब्ल्यू. सिंगर के अनुसार, यह निवेश के अवसरों का अभाव ही है, जो लोगों की बचत और निवेश की इच्छा को कम करता है। उद्यमशीलता की कमी और संस्थागत कठिनाइयाँ ऐसे कारक है जिन के कारण पूंजी निर्माण कम रह जाता है।

आर्थिक विकास में पूंजी निर्माण एक महत्वपूर्ण कारक है। नर्क्स ने सही इंगित किया कि अल्प विकसित देशों में *गरीबी का दुष्चक्र* पूंजी निर्माण से ही तोड़ा जा सकता है। पूंजी निर्माण से ही उपलब्ध संसाधनों का आगे उपयोग संभव होता है। और इस प्रकार उत्पादन, आय और रोजगार में व द्धि होती है। चूंकि भारतीय अर्थव्यवस्था में क षि एक प्रभुत्व क्षेत्रक है, क षि में पूंजी निर्माण राष्ट्र के आर्थिक विकास मे एक निर्णायक भूमिका निभा सकता है।

क षि एवं सहायक क्षेत्रकों में पर्याप्त मात्रा में पूंजी के उपयोग से उत्पादकता में व द्धि होगी। भोजन, दूध और अन्य खाद्य पदार्थों के प्रति व्यक्ति उपभोग में भारत विकसित अर्थव्यवस्थाओं से कहीं पीछे है। क षि में पूंजी निर्माण की पर्याप्तता से न केवल उत्पादन और भोजन पदार्थों की उपलब्धता में व द्धि होगी अपितू देश में क षक परिवारों की क्रय शक्ति में भी सुधार होगा।

पूंजी निर्माण से तकनीकी उन्नति होती है, जिससे बड़े पैमाने पर उत्पादन की अर्थव्यवस्था को मदद मिलती है। क षि तकनीकों की उन्नति के साथ बहुत से लाभ आते हैं, जैसे (i) पैदावर में बढ़त, (ii) क षि संचालनों का समय पर पूर्ण होना, (iii) अधिकतम संभावित भूमि का उपयोग, (iv) फसल और फसल लगाने की पद्धति में नये प्रयोग, तथा (v) क षि का बहुविधिकरण।

पूंजी निर्माण से बाजार का विस्तार होता है। पूंजी निर्माण से उच्चतर उत्पादन संभव होता है। इससे क षक के पास अधिक विपणन योग्य अधिशेष रहता है, जो बाजार में बेचा जा सकता है। बढ़ती हुई जनसंख्या की स्थिति में, जैसा कि भारत में है, पूंजी निर्माण क षि उत्पादन में व द्धि के लिये अत्यावश्यक है।

पूंजी निर्माण उत्पाद की गुणवत्ता में भी मदद कर सकता है, जिससे निर्यात की और विश्व बाजार में प्रवेश की संभावनाओं का निर्माण होता है। इसमें एक देश के भुगतान शेष (balance of payment) में सुधार होता है। भारत का एक बहुत विशाल भू-क्षेत्र और श्रम

शक्ति क षि में संलग्न है, अतः भारत कृषि उत्पादों के लिये विश्व बाजार में मुख्य भूमिका निभा सकता है। इस के लिये क षि में पूंजी निवेश की भूमिका अपरिहार्य है।

क षि में पूंजी निर्माण से देश में क षि उत्पादों और उपभोग योग्य पदार्थों में आत्मनिर्भरता आएगी, जिससे अंत में विदेशी मदद की आवश्यकता नहीं होगी और विदेशी ऋण का भार भी कम होगा।

मुद्रा स्फीति के दबाव को भी पूंजी निर्माण से दूर किया जा सकता है। जैसा कि हम जानते है, पूंजी के प्रयोग से उत्पादन में व द्धि होती है। दीर्घकाल में पूंजी निर्माण से मूल्य स्थिरता आती है और मूल्यों में उतार चढ़ाव दूर होता है। यह कम दामों पर भोजन उपलब्ध कराने और निर्धनता दूर करने में सहायक हो सकता है।

पूंजी निर्माण की प्रक्रिया सकल घरेलू उत्पाद को बढ़ाने में मदद करती है। अतः प्रति व्यक्ति आय को बढ़ाने और देश की अर्थव्यवस्था को अर्ध-विकसित स्थिति से उबारने में पूंजी निर्माण एक मुख्य माध्यम हो सकता है।

पूंजी निर्माण न केवल आय की उत्पत्ति में सहायता करता है, अपितू एक अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता को बढ़ाता भी है। व द्धि का आकार या विस्तार वर्धमान पूंजी निर्गत अनुपात (ICOR) से निर्धारित होता है। उदाहरण के लिये वर्धमान पूंजी निर्गत अनुपात (ICOR) 4 है और हम 4 करोड़ रूपये निवेश करते है। तब निर्गत एक करोड़ रू. बढ़ेगा।

15.7 क षि में पूंजी की मांग

भारतीय क षि में पूंजी की आवश्यकता को खोजने के लिये एक प्रश्न पूछा जा सकता है। "कब और कितनी पूंजी क षि में लगती है? ये दो विचार बिंदुओं से जांचा जा सकता हैः i) किसान की द ष्टि से, और ii) समग्र रूप में क षि की द ष्टि से। इन दोनों विचार बिंदुओं में बहुत सी चीजें एक समान है। किसान को स्थिर और संचालन व्यय जैसे मशीन, पशुधन, फसलों, परिसम्पत्ति और घरेलू साज सामान में निवेश के लिये पूंजी की आवश्यकता होती है। हालांकि, देश को अन्य रूप में पूंजी की आवश्यकता होती है, जिसकी क षक समुदाय को भी आवश्यकता होती है। किंतु, किसान निवेश करना पसंद नहीं करते। इसके उदाहरण में सड़क, नहर, मार्ग के किनारे व क्षारोपण, सिंचाई परियोजना, मालगोदाम, शीत भंडार, क षि शोध इत्यादि हैं। पूरी तौर पर क षि में पूंजी के लिये मांग का परीक्षण (i) व्यक्तिगत क षकों की आवश्यकता, (ii) मानवीय पूंजी में निवेश की आवश्यकता (iii) क षि उत्पादों और आगतों का विपणन करने वाली फर्मों की आवश्यकता (iv) सामुदायिक आवश्यकता, (v) नई तकनीक के रूप में पूंजी संचय की आवश्यकता, और (vi) सम्पूर्ण क षिक उद्योग के लिये आवश्यकता के द ष्टिकोण से किया जाना चाहिये।

क षि में महत्ती मात्रा में पूंजी का उपयोग नयी तकनीक के विकास, सामुदायिक सुविधाओं और क षि उत्पादों और आगतों के विपणन के लिये होता है। इस क्रिया में मदद करने के लिये पूंजी कई स्रोतों से आती है। नई तकनीकों के विकास के लिये सरकार और क षि में काम आने वाली आगतों के आपूर्तिकर्त्ताओं से मदद मिलती है। निजी और सार्वजनिक राशि का सामुदायिक सुविधाओं के लिये उपयोग होता है। क षि उत्पादों या आगतों का विपणन करने मे लगी फर्मों के मामले में पूंजी के स्रोत वही हैं जो अर्थव्यवस्था के अन्य भागों में व्यापार के लिये उपलब्ध होते हैं।

ग्रामीण वित्त को उद्देश्य और अवधि के आधार पर वर्गीक त करने की आवश्यकता है। इसी प्रकार, यह क षि वित्त और गैर क षि वित्त में भी वर्गीक त होता है। दूसरी ओर, यह अल्प अवधि, मध्यावधि या दीर्घावधि वित्त भी हो सकता है।

15.7.1 क षिक ऋण

i) **अल्पकालिक ऋण** : कम समय का क षिक ऋण मौसमी क षि संचालनों के लिए दिया जाता है। इससे फसल उगाने के लिए आवश्यक खर्चों की राशि के साथ-साथ क षक परिवार की निर्वाह लागत भी सम्मिलित होती हैं। ये ऋण प्रायः बारह महीने के लिये होता है। ये बीज, खाद, उर्वरक, और कीटनाशक और श्रम के व्यय को पूरा करने के लिये दिये जाते है। ऐसे ऋण फसल की कटाई के बाद चुकाने होते हैं।

ii) **मध्यम अवधि ऋण** : ऐसे ऋण बारह माह से ले कर 5 साल तक की अवधि के लिये भूमि सुधार, सीमाबंदी, पशुधन, मशीन या अन्य उपकरणों की खरीद, बागान, व क्षारोपण, कुंओं को गहरा करने या खेत में पक्की नाली बनाने आदि के उद्देश्य से दिये जाते हैं।

iii) **दीर्घ कालिक ऋण** : दीर्घकालिक ऋण 5 से 20 वर्षों के बीच की अवधि के लिये भूमि के परिशोधन, कर्जे चुकाने, ट्रेक्टरों की खरीद, नलकूपों लगाने और भूमि में स्थायी प्रक ति के सुधार के उद्देश्य से दिये जाते है।

15.7.2 गैर क षि व्यवसाय के लिये ऋण

ऐसे ऋण गैर क षि व्यवसायों जैसेः i) परिवहन उपकरण और फर्नीचर का क्रय ii) भवन निर्माण या खरीद और मरम्मत, iii) गैर क षि उपकरण की खरीद, और (iv) छोटे और कुटीर उद्योग की स्थापना के लिये चलती पूंजी संबंधी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये दिये जाते हैं। ये दीर्घकालिक प्रक ति के होते हैं और भुगतान 5 से 20 वर्षों की अवधि में होता है।

15.8 क षि को पूंजी की आपूर्ति

क षि को पूंजी की आपूर्ति सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिये पूंजी की कुल या औसत आपूर्ति पर निर्भर करती है। पूंजी की कुल मात्रा के निर्धारक, जो एक समाज अपने पास रखना चाहता है और जो वह अपनी भू-जोतों पर प्रति वर्ष व्यय करने के लिये इच्छुक है, बहुत जटिल है। ऐसे निर्धारकों की सूची में जो तत्व सम्मिलित हैं वे हैंः i) राष्ट्रीय आय और उसका वितरण, ii) संस्थाओं की संरचना, रीति रिवाज, लोगों के जीवन मूल्य, और iii) ब्याज दरें। इन निर्धारकों में मुख्य निर्धारक ब्याज दर या वह कीमत है जो लोग पूंजी के उपयोग के लिये चुकाते हैं।

क षि के लिये पूंजी के आपूर्तिकर्त्ता दो श्रेणियों मे बांटे जा सकते हैंः व्यक्तिगत या गैर-संस्थागत (साहूकार, संबंधी, इत्यादि) और संस्थागत (व्यवसायिक और ग्रामीण बैंक, भूमि विकास बैंक, सहकारिता, जीवन बीमा कम्पनी आदि)।

15.8.1 संस्थागत पूंजी

भारत में ग्रामीण एवं क षि ऋण की आपूर्ति के लिये अनेक संस्थाएं विद्यमान हैं। इनमें से मुख्य हैं : (i) सहकारिताएं, (ii) व्यावसायिक बैंक और (iii) प्रादेशिक ग्रामीण बैंक। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय क षि एवं ग्रामीण विकास बैंक (NABARD) क षि और ग्रामीण विकास के लिये प्रदत्त वित्त के लिये इन तीनों संस्थाओं को पुनर्वित्तीय सुविधाएं (refinance facilities) देता है।

सहकारी बैंक

सहकारी बैंकिंग संरचना क षि उत्पादन संचालनों के लिये अल्पकालिक और खेतों में सुधार के लिये दीर्घकालिक ऋण देता है। बहुत से राज्यों में अल्प कालिक सहकारी संरचना

सामान्यतः त्रि-स्तरीय (three tier) व्यवस्था है जिसमें राज्य स्तर पर राज्य सहकारी बैंक (SCB), जिला स्तर पर जिला सहकारी केन्द्रीय बैंक (DCCB) और ग्राम स्तर पर प्राथमिक क षि वित्त संस्थाएं (PACS) होती हैं। दूसरी और, किसानों की दीर्घकालिक वित्तीय आवश्यकताएं सहकारी क षि एवं ग्रामीण विकास बैंक (भूतपूर्व विकास बैंक) पूरी करते हैं। आप रेखाचित्र 15.1 में देख सकते हैं कि 831 शाखाओं वाले 30 राज्य सहकारी बैंक और 12560 शखाओं वाले 367 जिला सहकारी केन्द्रीय बैंक हैं। सहकारी बैंकों की संचालन प्रक्रिया के विषय में इकाई 17 और 18 में चर्चा होगी।

व्यवसायिक बैंक

भारत में अनुसूचित व्यवसायिक बैंक क षि ऋण के एक बड़े स्रोत के रूप में उभरे हैं। व्यवसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण से पहले, इस स्रोत से वित्त का प्रवाह इतना नहीं था, किन्तु राष्ट्रीयकरण के साथ व्यावसायिक बैंकों ने क षि वित्त में महत्वपूर्ण रूप से प्रवेश किया है। इन बैंकों ने ट्रेक्टर, पम्प सैट, नल कूप लगवाने और अन्य स्थायी प्रक ति के सुधारों सम्बंधी किसानों की दीर्घकालिक वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा किया है। इसके अतिरिक्त अनुषांगिक प्रक्रियाओं, जैसे, पशुपालन, डेरी, मधुमक्खी पालन, सुअर पालन और मुर्गीपालन और उद्यान क षि आदि के लिये भी व्यावसायिक बैंकों ने ऋण दिया है। रेखाचित्र 15.1 यह भी स्पष्ट करता है कि 100 व्यवसायिक बैंकों की 20 हजार से भी अधिक ग्रामीण शाखाएं हैं, जो क षि ऋण देती है।

प्रादेशिक ग्रामीण बैंक

क षि क्षेत्र को पर्याप्त वित्त देने के लिये 1974 में अग्रणि बैंक योजना प्रारंभ की गई। इस योजना में "एक जिला विशेष में वित्त भुगतान के लिये एक राष्ट्रीयक त व्यवसायिक बैंक को उत्तरदायित्व दिया गया। उस बैंक को ग्रामीण क्षेत्र में शाखा प्रसार के और किसानों को अधिक से अधिक ऋण देने के निर्देश दिये गये। ग्रामीण क्षेत्रों में उच्च्व संचालन लागत और नगरोन्मुख द ष्टिकोण के कारण व्यवसायिक बैंक इस चुनौती का सामना करने की स्थिति में नहीं थे। समस्याओं पर काबू पाने और ग्रामीण क्षेत्रों में, विशेष रूप से जहाँ सहकारी वित्त परिदान कमजोर था, वहाँ पर्याप्त संस्थागत प्रबंध करने के लिये प्रादेशिक ग्रामीण बैंक (RRB) 1975 में खोले गये।

प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों से कम लागत पर ग्रामीण क्षेत्रों में, विशेषकर कमजोर वर्गों को, बैंकिंग सेवाएं प्रदान करने की अपेक्षा की जाती है। प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों (RRB) की स्थापना इसी उद्देश्य से की गयी थी कि वे स्थानीय भावना और ग्रामीण की उन समस्याओं से परिचित होंगे जिनका सहकारिताएं सामना करती हैं तथा इनका व्यापार प्रबंधन का स्तर, निक्षेपों को संचारित करने की योग्यता, केन्द्रीय धन बाजारों तक पहुंच और व्यवसायिक बैंकों सरीखी होगी। 1975 में 6 प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों की एक साधारण शुरुआत से लेकर 2001 में 196 प्रादेशिक ग्रामीण बैंक 500 जिलों में 14,313 शाखाओं के तंत्र के साथ कार्य कर रहे थे, जिनमें उप शाखाएं और विस्तार पटल (extention counter) शामिल नहीं थे। शाखा जाल तंत्र में 6 महानगरीय, 348 नगरीय, 1875 अर्ध नगरीय और 12,084 ग्रामीण शाखाएं आती हैं। प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों का बड़ा शाखा जाल ग्रामीण क्षेत्रों में है जो सभी अनुसूचित व्यावसायिक बैंकों के कुल ग्रामीण शाखा जाल का 37% बैठता है।

***राष्ट्रीय ग्रामीण विकास बैंक* (NABARD)**

राष्ट्रीय ग्रामीण विकास बैंक एक शीर्ष संस्था है जो भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में क षि और अन्य कार्यों के लिये वित्त के क्षेत्र में नीति, योजना और संचालन संबंधी सभी विषयों से संबद्ध हैं।

इसकी स्थापना 1982 में क षि, लघु उद्योग, कुटीर एवं ग्राम्य उद्योग, हस्तशिल्प एवं अन्य ग्रामीण शिल्प तथा ग्रामीण क्षेत्रों में संचलित अन्य सहयोगी आर्थक क्रियाओं की उन्नति और विकास के लिये, ग्रामीण क्षेत्रों में सम्पन्नता लाने और एकीक त ग्रामीण विकास को प्रोत्साहन देने के विचार से वित्त और अन्य सुविधाओं के प्रबन्ध और नियतन के लिये की गयी।

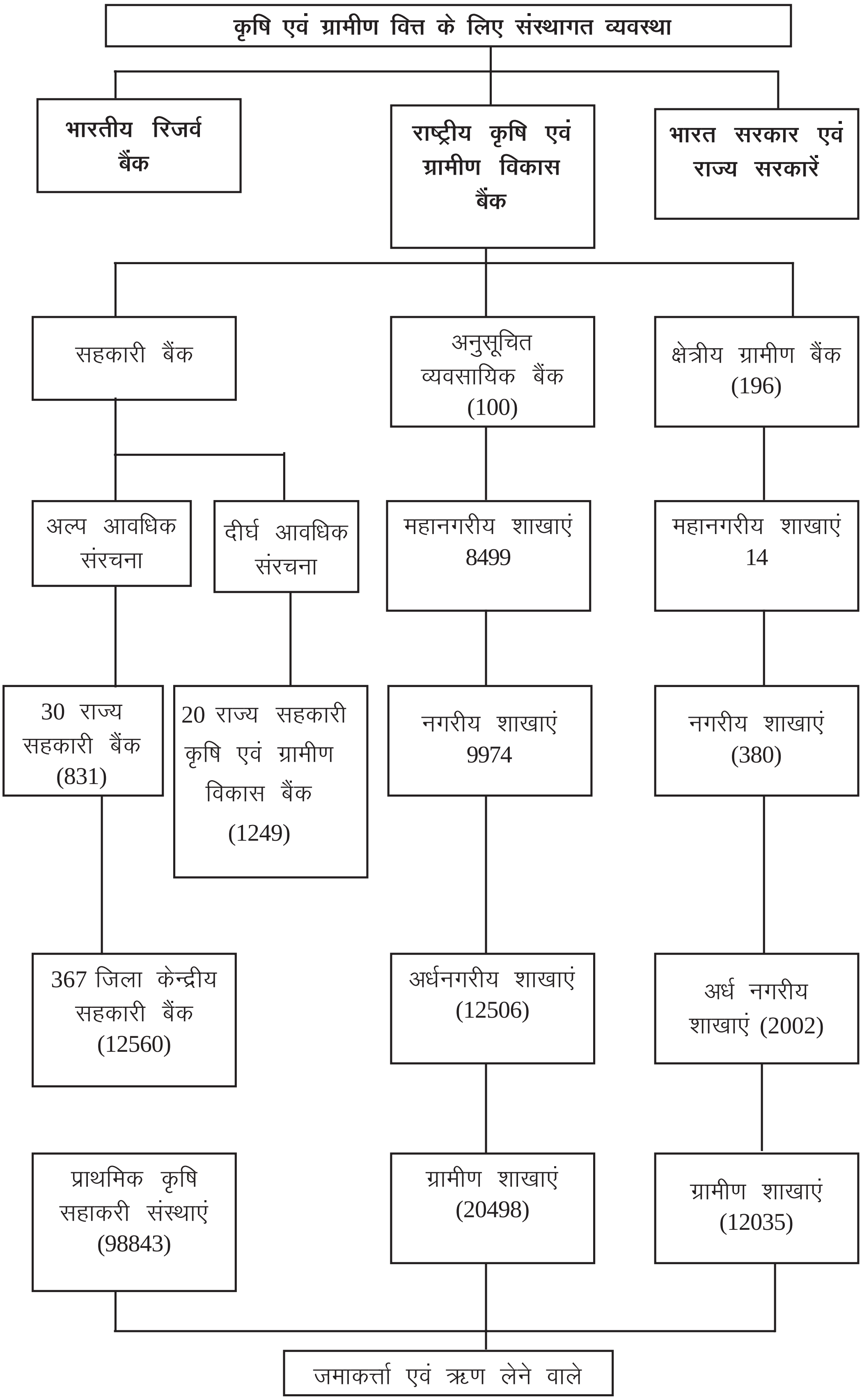

(कोष्टकों की संख्या शाखाओं की संख्या बताती है। यह स्थिति 31 मार्च 2001 का है।)

चित्र 15.1 : कृषि एवं ग्रामीण ऋण के लिए संस्थागत प्रबंध

राष्ट्रीय ग्रामीण विकास बैंक के प्रमुख विशेषताएं संक्षेप में इस प्रकार हैं :

i) यह ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्न विकास कार्यों की उन्नति के लिये निवेश और उत्पादन वित्त प्रदान करने वाली संस्थाओं के लिये शीर्ष पुनर्वित्तीयन अभिकरण के रूप में कार्य करता है।

ii) यह वित्त परिदान प्रणाली, जिसमें निगरानी, पुनर्विस्थापन योजनाओं का निर्माण, वित्तीय संस्थाओं की पुनर्सरचना, कर्मचारियों का प्रशिक्षण इत्यादि सम्मिलित है, की अवशोषी क्षमता के सुधार के लिये संस्था निर्माण के उपाय करता है।

iii) यह क्षेत्रीय स्तर पर विकास कार्यों में लगी सभी संस्थाओं की ग्रामीण वित्तीय क्रियाओं के बीच संयोजन करता है तथा भारत सरकार, राज्य सरकारों, भारतीय रिजर्व बैंक और नीति निर्धारण से सम्बंद्ध अन्य राष्ट्रीय स्तरीय संस्थाओं के बीच सम्पर्क बनाये रखता है।

iv) उन परियोजनाओं का ध्यान रखता और मूल्यांकन करता है जिनमें ये पुनर्वित्तीय प्रबंध करता है।

राष्ट्रीय ग्रामीण विकास बैंक (NABARD) का पुनर्वित्त सहकारी बैंकों और प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों को उपलब्ध है। इसके प्रादेशिक कार्यालय और जिला कार्यालय पूरे देश में फैले हुए है।

15.8.2 गैर संस्थागत पूंजी

गैर संस्थागत वित्त आपूर्ति कर्त्ताओं में पेशेवर साहूकार, संबंधी और निजी जान पहचान वाले व्यक्ति आते हैं। यद्यपि यह ऋण बिना कठिनाई के प्रायः, कम से कम कागजी कार्यवाही के साथ कुछ ही समय में उपलब्ध हो जाता है, इसमे ब्याज की दर बहुत अधिक होती है। सरकार ने ऐसे संचालनों पर व्यवसाय का पंजीकरण, ब्याज दरों का नियतन आदि बहुत से प्रतिबंध लगाये है। फिर भी, पेशेवर साहूकार छोटे ग्रामीण किसानों के लिए वित्त का महत्वपूर्ण स्रोत बने हुये हैं। यद्यपि सही आँकड़े उपलब्ध नहीं है, फिर भी 1950 के प्रारंभ में यह क्षेत्रक ग्रामीण ऋण मे 90% से भी ऊपर में योगदान दे रहा था। इसका अंश 1961-62 में 81.3% तक गिरा और 1970-71 में 69.7% की और गिरावट आई। गैर संस्थागत वित्त में गिरावट के लिये उत्तरदायी कारकों में (i) व्यवसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण (ii) ग्रामीण क्षेत्रों में शाखायें खोलना और (iii) ग्रामीण लोगों में जागरूकता और शिक्षा को बढ़ावा देना आदि आते है।

बोध प्रश्न 2

1) क षि में पूंजी की क्या भूमिका है?

....

....

....

....

....

....

....

2) क षि में वित्त की क्या आवश्यकता है?

....

....

....

....

....

....

3) क षि में पूंजी के मुख्य संस्थागत स्रोत क्या हैं?

....

....

....

....

....

....

15.9 क षि में पूंजी निर्माण की गणना प्रणाली

पूंजी निर्माण का परिकलन (acounting) सामान्यतः यूनाइटेड नेशन सिस्टम ऑफ नेशनल एकाउन्टस (UNSNA) द्वारा किया जाता है। आंकड़े एकत्र करने की तकनीक के बेहतर समझ और सुधार लाने के लिये समय समय पर इसमें सुधार किए जाते हैं। 1953 में सर्वप्रथम यूएनएसएनए (UNSNA) की मार्गदर्शी सिद्धांत आए, जिनका 1968 और फिर 1993 में परिष्कार हुआ। इसने बहुत से देशों को राष्ट्रीय आय की गणना की एक मानक प्रणाली अपनाने की सुविधा प्रदान की है। यद्यपि लगभग सभी देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा दी गई प्रणाली को अपनाया है किन्तु विभिन्न देशों में आकलन संकलन करने की विधियों में अन्तर पाये जाते है। यह भिन्नता बहुत से वर्गीक त क्षेत्रकों मे संगठनात्मक संचालन में भिन्नताओं के कारण उभरती है। भारतीय राष्ट्रीय परिकलन प्रणाली (ISNA) UNSNA का ही अनुसरण करती है, किंतू क्षेत्र के स्तर पर थोड़ा बहुत फेर बदल अनिवार्य हो जाता हैं।

यूएनएसएनए (UNSNA) के अनुसार अर्थव्यवस्था ग्यारह उद्योगों में बंटी है, जो प्राथमिक (क षि एवं सहयोगी क्रियाएं), माध्यमिक और त तीयक क्षेत्रकों के अन्तर्गत आते है। इन उद्योगों का वर्गीकरण सभी आर्थिक क्रियाओं में सूक्ष्मता से अन्तर्राष्ट्रीय स्तरीय औद्योगिक वर्गीकरण (ISIC) का अनुसरण करता है। सकल पूंजी निर्माण की गणना को तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है। यह गणना (क) उत्पाद वर्गीकरण (प्राप्त पूंजी पदार्थों के प्रकारों) (ख) इस पूंजी के औद्योगिक उपयोगों और (ग) पूंजी व्यय करने वाली संस्थाओं के अनुसार होता है। प्रत्येक श्रेणी में अचल परिसम्पति निर्माण और स्टॉक में परिवर्तन के लिये प थक खाते प्रस्तुत किये जाते है। प्रत्येक श्रेणी के अन्तर्गत आने वाले मुख्य विषयों की रूपरेखा तालिका 15.1 में दी गयी है।

तालिका 15.1 : सकल पूंजी निर्माण की गणना

पूंजी निर्माण	उत्पाद का वर्गीकरण	औद्योगिक वर्गीकरण	संस्थागत वर्गीकरण
अचल सम्पत्ति निर्माण	अ) पुनर्उत्पादन योग्य द श्य अचल सम्पत्तियाँः आवसीय भवन, गैर–आवासीय भवन, अन्य निर्माण कार्य, भूमि सुधार, बागान और बगीचे, मशीन एवं उपकरण परिवहन उपकरण इत्यादि। ब) गैर पुनर्उत्पादन योग्य द श्य नाशवान सम्पत्तियाँ : भूमि, म दा मत सम्पत्तियाँ, जल संसाधन, जैविक संसाधन, लकड़ी क्षेत्र और वन, मत्स्यिकी आदि।	अ. क षि, मत्स्यिकी वानिकी ब. खान और खुदाई प. उत्पादन कार्य द. निर्माण कार्य इ. बिजली गैस व जल प्रदाय योजनाएं फ. परिवहन, भंडारण और संचार ग. थोक व फुटकर व्यापार होटल, रेस्तंरा ह. भू–ध तियों का स्वामित्व छ. सार्वजनिक प्रशासन एवं रक्षा ज. बैंकिग, बीमा एवं भूपरिसम्पति धारण य. सामाजिक, समुदाय व निजी सेवाएं	अ) निजी उद्यमः निगमित एवं अनिगमित ब) सार्वजनिक निगम : निगमित एवं अनिगमित स) सरकारी उद्यम द) सामान्य प्रशासन
स्टॉक में परिवर्तन	1) कच्चा माल 2) तैयार वस्तुएं जो बिक्री के लिये रखी हों। 3) पशुधन (livestock) के लिये कार्य संचालन और अन्य अचल सम्पत्तियाँ	1) क षि वानिकी एवं मत्स्यिकीः पशुधन एव अन्य 2) थोक व्यापार 3) खुदरा व्यापार	अ. निजी उद्यम : निगमित एवं अनिगमित ब. सार्वजनिक उद्यम : निगमित एवं अनिगमित स. सरकारी उद्यम द. सामान्य प्रशासन

भारत में पूंजी निर्माण इस प्रकार परिभाषित है– भौतिक वस्तुओं में किया गया निवेश जिसका परिणाम लंबे समय में आय की उत्पत्ति के रूप में होता है। निर्माण और मशीनी उपकरण ऐसी दो भौतिक सम्पत्तियाँ है जो प्रक ति में पूंजी समझी जाती है। पूंजी निर्माण के आंकड़े तैयार करना दो संस्थाओं का संयुक्त दायित्व हैः केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन (CSO) और भारतीय रिर्जव बैंक (RBI)। पहले परिसम्पतियों के अनुसार सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिये हिसाब लगाया जाता है। तत्पश्चात् इन्हें सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों को दो संस्थागत श्रेणियों में वर्गीक त किया जाता है। निजी क्षेत्रक में निगमित और घरेलू क्षेत्रक सम्मिलित होते हैं। प्रयोक्ता उद्योगवार अनुमानों की रचना विभिन्न संस्थाबद्ध क्षेत्रकों में व्यय विधि के अनुसरण के माध्यम से की जाती है।

भारतीय राष्ट्रीय आय लेखांकन प्रणाली में उपयोग के नौ उद्योग परिभाषित है। उद्योगों का नौ समूहों में वर्गीकरण या समूहीकरण इस बात से स्वतंत्र है कि अर्थव्यवस्था में क्रियाकलाप घरेलू, निजी या सार्वजनिक क्षेत्र से सम्बद्ध है। पूंजी परिसम्पति का बाजार मूल्य पर आंकलन होता है। उसके बाद सम्पादित परिसम्पति उपयुक्त उद्योग और क्रय के क्षेत्रक के अनुसार वर्गीक त किये जाते हैं। पूंजीगत वस्तु का क्रय के वर्ष में मूल्य और उस परिसम्पति की जीवन अवधि में पूंजी उपभोग या मूल्य ह्रास के अनुसार इसकी विभाजन प्रत्येक उद्योग के खाते में किया जाता है। एक उपयुक्त उद्योग मे उत्पादित भौतिक पूंजी का निर्धारण उस उद्योग की निर्दिष्ट भूमिका के अनुसार किया जाता है। निर्माण क्रियाओं

के परिणाम स्वरूप होने वाला पूंजी निर्माण स्थापत्य उपागम के अनुसार किया जाता है। उदाहरण के लिये यदि सिंचाई के उद्देश्य के लिये बांध बनाने के लिये निर्माण कार्य होता है तो वह सार्वजनिक खाते पर क षि क्षेत्रक का भाग समझा जाता है। इसी प्रकार यदि निर्माण कार्य एक उर्वरक संयंत्र बनाने की और है तो वह विनिर्माण क्षेत्र के खाते में गिना जायेगा। परिवारों द्वारा खरीदी गयी मशीनें और उपकरण के मामले में अंतिम उपयोग या सेवा उपागम उस परिसम्पति के क्षेत्रक विशेष में निर्धारण के लिये निर्णायक रहता है। उदाहरण के लिये, फसल काटने का यंत्र और भूमि जोतने के लिये ट्रेक्टर और एक सिंचाई कूप को चलाने के लिये परिवार द्वारा खरीदे गये जैनरेटर क षि क्षेत्रक का ही एक भाग है चाहे उनका उत्पादन विनिर्माण क्षेत्रक में ही हुआ है। कुछ मामलों में प्रत्यक्ष उपभोग का उपयोग उपागमन के बजाय उद्योग पर आधारित स्थापत्य उपागमन का अनुसरण किया जाता है। इस प्रकार अंतिम निर्गत, जो कि विभिन्न उद्योगों से आगत के उपयोग से प्राप्त होता है, उस प्रक्रिया में प्रयुक्त पूंजी आगतों के संयुक्त प्रयास का परिणाम होता है।

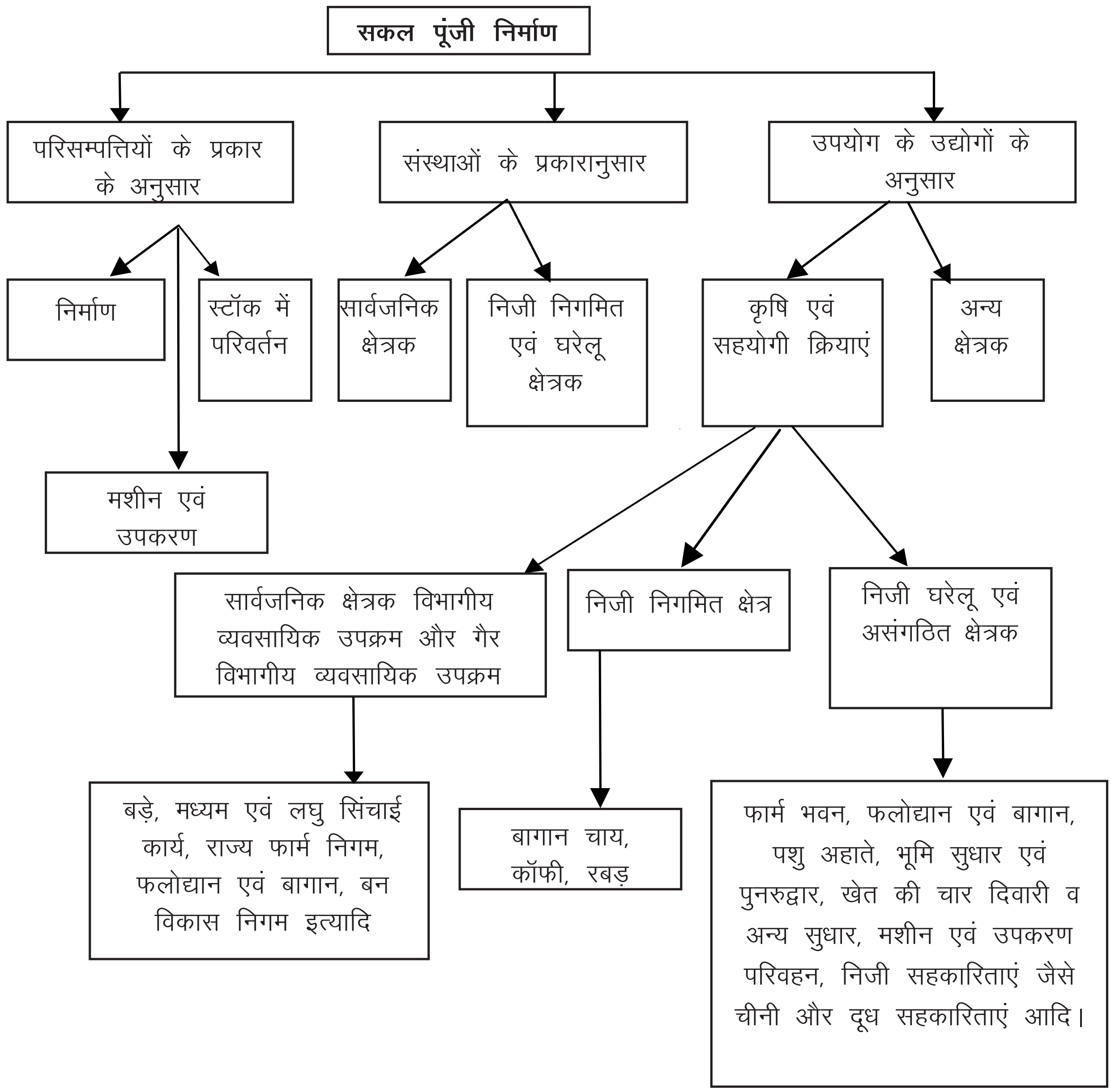

चित्र 15.2: कृषि में पूंजी निर्माण

तीन प्रकार की संस्थाओं के लिए प थक प थक परिसंपत्तियों का आंकलन किया जाता है। ये संस्थाएं हैं : i) सार्वनिक, ii) निजी निगम, iii) घरेलू। सार्वजनिक क्षेत्रक में: i) विभागीय व्यावसायिक उपक्रम (DCU), ii) गैर-विभागीय व्यवसायिक उपक्रम (NDCU), तथा iii) प्रशासन सम्मिलित हैं। सकल पूंजी निर्माण का अनुमान लगाते हुए अर्थव्यवस्था में संचालित सभी व्यवसायिक गतिविधियाँ विभागीय व्यवसायिक उपक्रमों (DCU) के अंतर्गत वर्गीक त होती हैं। जब किसी वस्तु या सेवा की उत्पादन प्रक्रिया चल रही हो, वह क्रिया व्यवसायिक कहलाती है। उदाहरण में सिंचाई, बिजली, आवागमन, रेलवे, रुपया और सिक्का बनाना, निर्माण, रेडियो और दूरदर्शन प्रसारण, सड़क और जल यातायात इत्यादि आते हैं। इनमें से सिंचाई और वानिकी ऐसी दो प्रक्रियाएं हैं जो क षि क्षेत्रक के अन्तर्गत विभागीय व्यवसायिक उपक्रम का भाग बनाते हैं। गैर विभागीय व्यावायिक उपक्रमों में वे वित्तीय और गैर वित्तीय उद्यम सम्मिलित है जिनकी चूकता पूंजी में केन्द्र और राज्य सरकारों की कंपनियों की कम से कम 5 प्रतिशत हिस्सेदारी हो।

15.10 भारत में क षि में पूंजी निर्माण की प्रक ति

15.10.1 क षि में निजी निवेशों की संरचना

क षि में निजी निवेश में निगमित क्षेत्रक और घरेलू क्षेत्रक के निवेश आते हैं। निगमित क्षेत्रक संगठित और असंगठित दो खण्डों में वर्गीक त है। संगठित खण्डों में बड़े फार्म (मूलतः बागान) क्षेत्रक और उनका पूंजी निर्माण का लेखा जोखा उनके खाते की किताबों में उपलब्ध है। असंगठित क्षेत्रक में ऐसी व्यवस्थित जानकारी नहीं मिल पाती है। वे मूलतः निजी सहकारिताएं (चीनी, दूध, मुर्गीपालन इत्यादि और अन्य बहुत छोटे और कुटीर क षि उद्यमों (डेरी, क षि उपकरण आदि) है। क षि में पूंजी निर्माण में उनके योगदान पर जानकारी बहुत विविध और अस्पष्ट है। इस का परिकलन केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन द्वारा नियमित अंतराल पर सर्वेक्षणों द्वारा किया जाता है। इसी प्रकार, घरेलू अवयवों के लिये केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन रिजर्व बैंक के साथ मिल कर दस वर्षों में एक बार उनके क षि में योगदान का आंकलन के लिये सर्वेक्षण (अखिल भारतीय ऋण और निवेश सर्वेक्षण) करता है। बीच के वर्षों के लिये आंकलन अर्न्तप्रेक्षेपित है जिसमें क षि उत्पादन और औद्योगिक उत्पादन की संयुक्त अनुक्रमणिका का प्रयोग होता है। पशुधन, जो कि अचल परिसम्पत्ति में आते हैं, में वद्धि का योग भारतीय पशुधन गणना मे उपलब्ध पशुधन की संख्या के आंकड़ों से निकाला जाता है। उनका वार्षिक आधार पर प्रक्षेप उपलब्ध गुणवत्ता आंकड़ों और व द्धि की ज्यामीतीय दर की मदद से किया जाता है।

भारत व्यापि स्तर पर 1990 के दशक में क षि में हुए सकल निवेश में निगमित व्यवसायिक क्षेत्रक का अंश 5 प्रतिशत से भी कम रहा है। अधिकांश योगदान घरेलू क्षेत्रक का है, जिसमें असंगठित निगमित क्षेत्रक और निजी सहकारिताओं के अंश भी सम्मिलित हैं।

राष्ट्रीय आय लेखांकन क षि क्षेत्रक के सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों द्वारा स जित के जनित परिसम्पत्तियों या किये गये निवेशों के प्रकार पर विस्त त जानकारी नहीं देते। फिर भी निजी खातों में घरेलू स्तर पर ऐसी जानकारी सम्पूर्ण भारत ऋण एवं निवेश सर्वेक्षण (AIDIS) में दी गयी है। सम्पूर्ण रूप में, क षि में घरेलू अचल पूंजी निर्माण छः मुख्य अवयवों में वर्गीक त किया गया है। वे हैं : (i) भूमि पुनः प्राप्ति, बाड़ बनाना और अन्य भू गुणवत्ता सुधार, (ii) बाग और बागान, (iii) कुंऐ तथा अन्य सिंचाई के साधन, (iv) क षि उपकरण मशीन और परिवहन उपकरण आदि, (v) फार्म, खत्तें और पशुओं के अहाते, और (vi) अन्य पूंजी व्यय। ग्रामीण और शहरी क षि परिवारों द्वारा इन सुनिश्चित व्ययों का अंश और विवरण में भारत स्तर पर सकल अचल पूंजी व्यय के तीन सन्दर्भ कालों के आंकड़े तालिका 15.2 में जा रहे हैं।

तालिका 15.2 : क षि में परिवारों के अचल पूंजी व्यय का प्रतिशत वितरण

घटक	1971-72	1981-82	1991-92
मशीन, उपकरण और परिवहन	43.20	51.95	47.80
कुएं और अन्य सिंचाई संसाधन	26.80	20.45	24.70
गुणवत्ता सुधार	16.50	15.25	12.71
फार्म और पशु घर	10.50	4.55	3.47
फलोद्यान व बागान	1.80	2.80	5.06
अन्य पूंजी व्यय	1.20	5.00	6.26
कुल	**100.00**	**100.00**	**100.00**

तालिका 15.2 से स्पष्ट है कि घरेलू क्षेत्रक के लिये क षि उपकरण, मशीन एवं परिवहन उपकरण क षि मे स्थिर/अचल पूंजी निर्माण के सर्वाधिक महत्वपूर्ण मद हैं। यह सम्पूर्ण भारत स्तर और सभी राज्यों में ग्रामीण और नगरीय परिवारों द्वारा क षि में कुल पूंजी निर्माण के आधे के लगभग बैठता है। दूसरी महत्वपूर्ण मद कूपों और अन्य सिंचाई कार्यों पर निवेश है। यह कुल निवेश मे 20 से 27 प्रतिशत तक के अंश योगदान करते हैंः समय के साथ साथ सकल अचल पूंजी मे फलोद्यान और बागान तथा अन्य निवेशों के अंश में व द्धि हुई है।

जहाँ तक राज्यों का प्रश्न है क षि प्रमुखता वाले राज्यों में कूपों और अन्य सिंचाई कार्यों में निवेश सर्वाधिक था। इनमें आंध्र प्रदेश, गुजरात, हरियाणा मध्यप्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्रः राजस्थान और तमिलनाडू (सिवाय पंजाब के) ऐसे राज्य है जहाँ सिंचाई क्षमताओं का अधिकतम उपयोग हुआ है। क षि में कुल स्थिर व्यय में भूमि और भवनों के सुधार और पुनरुद्धार पर व्यय का प्रतिशत अंश 1991-92 में आंध्र प्रदेश, असम, बिहार, केरल, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल में सबसे अधिक था। क षि में कुल अचल पूंजी निर्माण में इस वर्ग का अंश 27 प्रतिशत और 61.5 प्रतिशत के बीच रहा है। केरल और महाराष्ट्र को छोड़कर सभी मुख्य राज्यों में कुल निवेश में क षि मशीन और परिवहन उपकरण का अंश ऊंचा था। इन दो राज्यों में और जम्मू कश्मीर में फलोद्यान और बागानों में अधिक निवेश किया गया। फार्म घरों में घरेलू निवेश हरियाणा हिमाचल प्रदेश, जम्मू कश्मीर, असम और पश्चिम बंगाल में अपेक्षा अधिक हुआ।

15.10.2 क षि में सार्वजनिक निवेश की संरचना

जहाँ तक क षि में सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवहार का प्रश्न है भारत एवं राज्यों दोनों के स्तर पर अधिकतर मामलों में 1980 के दशक से गिरावट की प्रव त्ति रही हैं। इन प्रव त्तियों में राज्य स्तर पर काफी भिन्नता भी थी। किन्तु, यह भी सत्य है कि 1980 के पूर्व से ही क षि में सार्वजनिक निवेश घटता रहा है। यह गिरावट 1993-94 तक जारी रही और उसके बाद कुछ सुधार के चिन्ह दिखाई दिये। इससे पहले हम गिरावट के कारणों और उनके क षि विकास पर संभावित परिणामों की ओर ध्यान दें, क षि में सार्वजनिक निवेश की संरचना को जान लेना लाभदायक होगा।

क षि में सार्वजानिक क्षेत्र के निवेश का आंकलन विभागीय व्यवसायिक उपक्रमों (DCU) और गैर-विभागीय व्यवसायिक उपक्रमों (NDCU) द्वारा किये गये निवेशों द्वारा किया जाता है।

गैर-विभागीय व्यवसायिक उपक्रमों में केन्द्रीय और राज्य सरकारों के स्वामित्व क षि, सिंचाई और जल संसाधन विकास निगम (जैसे नलकूप निगम) इत्यादि सम्मिलित हैं। इसके अलावा क षि और सहयोगी क्रियाओं में सार्वजनिक क्षेत्रक का निवेश तीन उप-क्षेत्रकों में बंटा है जैसेः i) क षि कर्म, ii) वानिकी, और iii) मत्स्यिकी। मत्स्यिकी में सार्वजनिक क्षेत्र का निवेश लगभग नगण्य है, यानि, क षि में कुल निवेश के आधे प्रतिशत से भी कम है। यह मुख्य क षि कार्य ही है जिसमें 1980 के दौरान 94% के लगभग निवेश हुआ है। इसका अंश 1990 के दशा मध्य में 88% तक कुछ घटा, किंतु 1996-97 के दौरान 90.7% तक उठा। इसी प्रकार वानिकी का अंश जो 1980 के दशक में 5 प्रतिशत तक रहा, 1990 में बढ़ कर 9% हो गया। क षि कर्म ओर वानिकी दोनों के मामले में ही विभागीय व्यवसायिक उपक्रमों (DCU) का अंश बहुत रहा। वानिकी क्षेत्रक के बागानों और फलोद्यानों के भीतर भी इसका (DCU) कुल सकल पूंजी निर्माण में बहुत बड़ा अंश है। क षि एवं संबंद्ध क्रियाओं में कुल सार्वजनिक निवेशों में विभागीय व्यवसायिक उपक्रमों (DCU) द्वारा वहन किये गये सिंचाई (मुख्यतः, बड़ी मध्य और छोटी योजनाओं पर) का अंश ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह 90% के लगभग है (तालिका 15.3)। गैर-विभागीय व्यवसायिक उपक्रम का क षि एवं सम्बंद्ध क्रियाओं में निवेश कुल सार्वजनिक क्षेत्रक के निवेश के 10% के लगभग है।

तालिका 15.3 : उद्यम के प्रकार अनुसार क षि में सार्वजनिक निवेश का प्रतिशत अंश (1993-94 कीमत)

वर्ष	औसत			विभागीय व्यवसायिक उपक्रम		गैर विभागीय व्यावसायिक उपक्रम		
	क षि	वानिकी	मत्स्यिकी	क षि	वानिकी	क षि	वानिकी	मत्स्यिकी
1980-81	94.93	5.02	0.05	92.45	4.86	2.48	0.16	0.05
1981-82	94.77	5.18	0.05	90.90	4.84	3.87	0.34	0.05
1982-83	92.97	6.99	0.04	90.95	5.36	2.02	1.63	0.04
1983-84	91.30	8.62	0.08	89.26	6.29	2.04	2.33	0.08
1984-85	91.98	7.91	0.11	89.47	6.28	2.51	1.63	0.11
1985-86	92.93	6.93	0.14	90.75	5.70	2.18	1.23	0.14
1986-87	92.00	7.83	0.17	90.46	7.25	1.54	0.58	0.14
1987-88	92.40	7.48	0.12	90.80	6.71	1.60	0.77	0.17
1988-89	91.87	8.08	0.06	90.27	7.62	1.60	0.46	0.12
1989-90	89.11	10.80	0.09	87.74	9.66	1.37	1.14	0.06
1990-91	88.01	11.93	0.06	86.52	10.58	1.49	1.35	0.09
1991-92	88.42	11.50	0.08	87.49	10.92	0.93	0.58	0.06
1992-93	89.82	10.13	0.05	88.65	9.84	1.17	0.29	0.08
1993-94	90.83	9.11	0.06	90.00	8.87	0.83	0.24	0.05
1994-95	92.11	7.89	0.00	90.37	7.50	1.74	0.39	0.06
1995-96	91.14	8.84	0.02	72.09	8.23	19.05	0.61	0.12
1996-97	90.70	9.28	0.02	83.23	8.78	7.47	0.50	0.02
1997-98	89.68	10.30	0.02	82.09	9.69	7.59	0.61	0.02

क षि में सार्वजनिक क्षेत्रक निवेश की दर में 1980-91 की अवधि में विशेष धीमापन आया है। फिर भी 1990 के दशक मे कुछ सुधार भी हुआ हैं। 1980-86 के दौरान क षि में निजी क्षेत्र निवेश धीमा हुआ किंतु 1986 के बाद उसमें सुधार हुआ (तालिका 15.4) वास्तव में 1980 के उत्तर्राद्ध और प्रारम्भिक 1990 में निजी क्षेत्रक के निवेशों में न केवल उल्लेखनीय सुधार हुए बल्कि निरंतर व द्विमान व्यवहार दिखाई दिया। दूसरी और उसी समय सार्वजनिक क्षेत्रक निवेश या तो नीचे जा रहा था या रूका हुआ था (रेखाचित्र 15.3)। 1980 के बाद से 1990 तक इस विषय में कई प्रश्न उठे और यह विवाद अभी भी चल रहा है। जो प्रश्न उठे हैं वे हैं : क्या क षि में सार्वजनिक और निजी क्षेत्रक के निवेशों में कोई सम्बंध है? वे एक दूसरे के पूरक हैं या प्रतिद्वन्द्वी? क षि में निवेश में धीमापन किस प्रकार क षि के विकास पर प्रभाव डाल सकता है? क षि में सार्वजनिक क्षेत्रक का निवेश इतनी तेज़ी से क्यों घट रहा है?

तालिका 15.4 : क षि, वानिकी और मत्स्यिकी में सकल पूंजी निर्माण

करोड़ रुपये में

वर्ष	1993-94 के मूल्यों पर			प्रचलित मूल्यों पर		
	सार्वजनिक क्षेत्रक	निजी क्षेत्रक	कुल	सार्वजनिक क्षेत्रक	निजी क्षेत्रक	कुल
1981-82	7130	6949	14079	2041	2263	4304
1982-83	7092	7437	14529	2263	2636	4899
1983-84	7196	7529	14725	2466	2902	5368
1984-85	6921	8027	14948	2678	3413	6091
1985-86	6213	7919	14132	2818	3768	6586
1986-87	5864	7844	13708	2895	4033	6928
1987-88	6045	8249	14294	3304	4642	7946
1989-89	5699	9063	14762	3442	5577	9019
1989-90	4972	8452	13424	3354	5833	9187
1990-91	4992	11424	16416	3628	8596	12224
1991-92	4376	10589	14965	3653	9000	12653
1992-93	4539	11602	16141	4175	10804	14979
1993-94	4918	10331	15249	4918	10331	15249
1994-95	8369	11416	16785	6002	12381	18383
1995-96	5322	12367	17689	6762	14605	21367
1996-97	5150	13176	18326	7296	17119	24415
1997-98	4503	13802	18305	6921	19101	26022
1998-99	4421	14543	18964	7549	21174	28723
1999-2000	NA	NA	21388	NA	NA	33755

भारत में सकल क षि पूंजी निर्माण

1993-94 के मूल्यों पर

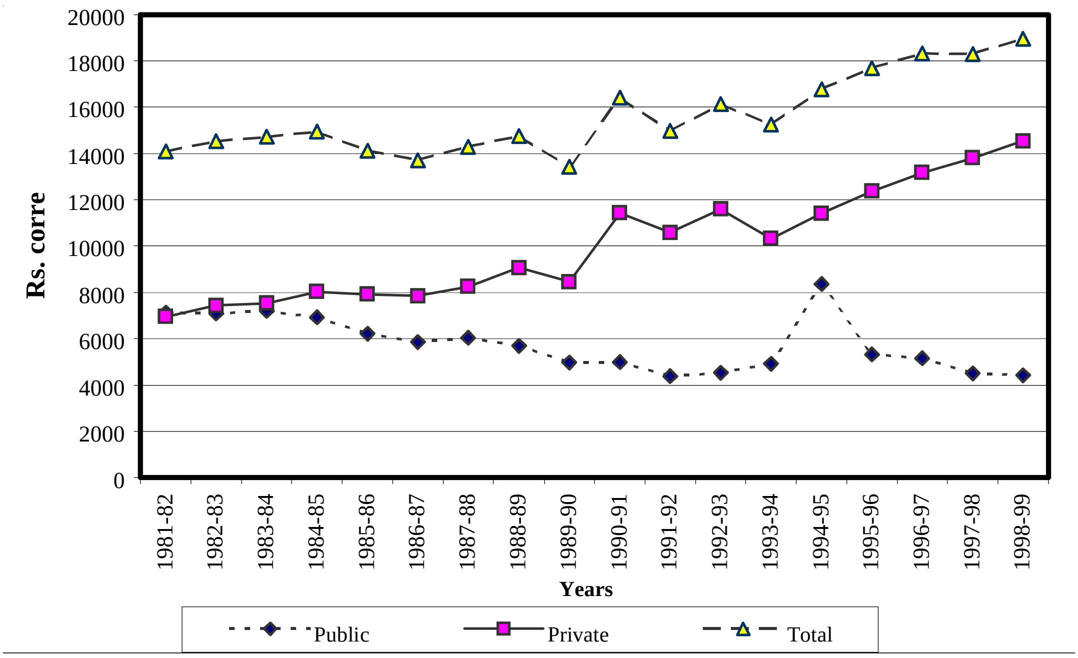

चित्र 15.3 : भारत मे क षि में सार्वजनिक और निजी पूंजी निर्माण की प्रव त्ति

15.10.3 क षि में सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्रक के निवेश : पूरक अथवा प्रतिद्वन्द्वी?

इस प्रश्न पर बहुत से विद्वानों ने आंकड़ों के अनुभव जन्य विश्लेषण द्वारा अपनी प्रतिक्रिया दी हैं। शोध कार्य का परिणाम तीन भिन्न विचारों के रूप में हुआ। एक समूह का विचार है। निजी क्षेत्रक का क षि में निवेश सार्वजनिक क्षेत्रक के निवेश तथा संस्थागत वित्त के सहयोग पर निर्भर था। क षि में सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा निवेश की अवहेलना ने समय के साथ क षि की व द्धि को प्रभावित किया। इस विचारधारा ने यह माना कि सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्रकों के निवेश एक दूसरे के पूरक हैं।

इन दोनों की पूरकता निजी व सार्वजनिक निवेशों की गति की दिशा ओर दोनों के मध्य सांख्यिकीय संबंध के आधार पर जांची गयी। क षि में वास्तविक सार्वजनिक और निजी पूंजी निर्माण पर व हद आंकड़ों पर पुनर्विचार करने से संकेत मिलते हैं कि 1960 से 1970 के बाद तक दोनों निवेशों की गति एक ही दिशा में थी। सार्वजनिक और निजी निवेशों के क षि में ऐसी सकारात्मक सहयोग की एक लम्बे समय बाद पूरक प्रभावों के रूप में विवेचना की गई।

ऐसे अध्ययन यह स्थापना करता है कि सार्वजनिक निवेश का निजी निवेश पर प्रेरक प्रभाव था और इस प्रकार क षि में सार्वजनिक व निजी निवेशों के बीच 'पूरकता' रही है। यह भी कहा जाता है कि सार्वजनिक निवेश निजी निवेश के लिये क षि में अनुकूल परिस्थितियाँ बनाता है। दूसरे शब्दों में निजी निवेश सार्वजनिक निवेश पर आश्रित है। उदाहरण के लिये क षि में एक रुपये का सार्वजनिक निवेश निजी व्यक्तियों को एक रुपये से अधिक निवेश की प्रेरणा देता है। सार्वजनिक निवेश की निजी निवेश पर प्रभावकारी भूमिका तब विशेष रूप से देखी गयी जब नहरों और ग्रामीण विद्युतीकरण में सार्वजनिक निवेश का मशीनों और खुदाई वाले कुपों के निर्माण आदि निजी घरेलू निवेश पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा।

1986-87 से सार्वजनिक और निजी निवेशों में पहले के घटने और दूसरे के स्थिरता पूर्वक बढ़ने के साथ दोनों के बीच अलग-अलग दिशाओं मे गति रही। इस ने क षि में निजी और सार्वजनिक पूंजी निर्माण के बीच पूरकता के ह्रास के विषय में एक विवाद को जन्म दिया। शोधकर्त्ताओं का दूसरा समूह सार्वजनिक और निजी क्षेत्रक निवेशों के बीच दुर्बल पूरकता की दलील देता है। तीसरी विचारधारा के शोध-कर्त्ताओं ने यह चुनौती दी है कि क षि में सार्वजनिक और निजी क्षेत्रक निवेशों में कोई पूरकता नही है। क षि में सार्वजनिक एवं निजी निवेशों के किसी प्रकार के सम्बंध के औचित्य पर अवाधारणात्मक, क्रियात्मक और तथ्यात्मक विषयों के आधार पर प्रश्न उठाए गए हैं।

15.10.4 निवेश शिथिलता का क षि की संव द्धि पर प्रभाव

1990 के दशक में अर्थव्यवस्था में उच्चतर निवेशों के परिणाम स्वरूप क षि व सम्बद्ध क्रियाओं से प्राप्त सकल घरेलू उत्पाद (GDP) में वार्षिक व द्धि दर 1980 में 2.95 प्रतिशत से बढ़ कर 1990 में 3.5 तक पहुंची। क षि में व द्धि पर सार्वजनिक निवेश का महत्वपूर्ण प्रभाव है। सिंचाई कार्यो में सार्वजनिक सकल क षि पूंजी निर्माण की वित्तीय लोच शीलता के अनुमान बताते हैं कि निवेशों में 10% व द्धि होने से सकल घरेलू उत्पाद में क षि से प्राप्त अंश में 2.53% तक व द्धि होती है। इसमें भी अधिक रोचक तथ्य यह है कि सार्वजनिक निवेश में गिरावट से क षि और सम्बद्ध क्रियाओं की गतिविधियाँ भी प्रभावित होती हैं। आंकड़े दिखाते हैं कि जब 1980 के दौरान क षि में निवेशों में गिरावट आई तो क षि फसल क्रियाएं (75%) सम्बद्ध क्रियाओं (25%) से भी अधिक प्रभावित हुई है।

क षिक क्रियाओं में अनाज, दालों, तेलबीजों, गन्ने आदि के उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़ा। यह सिद्ध करता है कि खाद्यान्न फसलों से दूसरी ओर का रुझान बन रहा है। यह अनाज और धान के क्षेत्र में गिरावट और सब्जियों और फलों की उठती हुयी प्रव ति से भी सत्यापित होता है। इसे 1980 और प्रारम्भिक 1990 के दौरान सिंचाई परियोजनाओं में गिरते हुये सार्वजनिक निवेश पर भी आरोपित किया जा सकता है। इसने निजी निवेशकों को भी सिंचाई पर आश्रित फसलों जैसे अनाजों और दालों में निवेश करने से हतोत्साहित किया।

15.10.5 क षि में सार्वजनिक निवेश की गिरावट के कारण

आरम्भिक के दशक के 1980 से क षि मे सार्वजनिक सकल पूंजी निर्माण में गिरावट की प्रव त्ति के कई कारण है। ये हैः i) क षि में सहायिकी में व द्धि, ii) व्यापार की प्रतिकूल शर्तें, iii) गेंहू और चावल के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य में गिरावट, iv) निर्माण क्रियाओं में तीव्र चढ़ाव, v) केन्द्र से राज्यों को संसाधन प्रवाह में कमी, vi) राज्यों द्वारा पूंजी परिव्यय मे गिरावट, vii) विशेष ग्रामीण क्षेत्र के विकास कार्यक्रमों पर सार्वजनिक व्यय में धीमापन, viii) निजी निवेशों के आवर्धन की राज्य क षिक नीतियाँ। निजी निवेशों की गिरावट के मुख्य कारक हो सकते है : i) क षि में प्रति व्यक्ति आय की नीची व द्धि दर, ii) ग्रामीण बचतों में संकुचन, iii) क षि का न्यून शुद्ध बैंक वित्त, और iv) अन्य क्षेत्रकों की तुलना में क षि निवेशों की लाभप्रदेयता में गिरावट।

बोध प्रश्न 3

1) नाशवान पुनउर्त्पादनीय अचल परिसम्पत्तियों के कुछ उदाहरण दीजिए।

....

....

....

....

2) क षि में निजी और सार्वजनिक निवेशों की पूरक प्रक ति को स्पष्ट करें।

....

....

....

....

....

15.11 सारांश

किसी भी अर्थव्यवस्था के विकास मे पूंजी निर्माण की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इससे तकनीकी प्रयोग, उत्पाद विविधीकरण, संसाधनों के अनुकूलतम उपयोग और क षि में व्यवसायिकरण सुविधापूर्वक होता है। भारत जैसे क षि प्रधान अर्थव्यवस्था में क षि में पूंजी निर्माण का औचित्य अधिक द ष्टव्य है। 1950 से 1970 के दौरान पूंजी निर्माण के प्रवाह मे स्थिर रूप से व द्धि हो रही थी किंतू दुर्भाग्यवश भारत में क षि में पूंजी निर्माण बहुत कम रहा है। 1980 से तो सार्वजनिक निवेश में गिरावट आ रही है। निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्रक निवेशों की क षि में पूरकता और पहले के दूसरे पर प्रेरक प्रभाव एक विवादास्पद विषय है। पूंजी निर्माण में गिरावट के कारणों में क षि क्षेत्रक की निम्न लाभदेयता और क षकों की निम्न प्रति व्यक्ति आय भी आती हैं।

15.12 शब्दावली

पूंजी संचय : एक आगत के रूप में पूंजी अधिक समय तक उपयोग में रहती है, यद्यपि उसकी उत्पादकता क्षमता समय के साथ घटती रहती है। अतः हमारे वर्ष प्रतिवर्ष निवेश के साथ पूंजी आगत संचित होती है और बढ़ती रहती है।

विपणनीय अधिशेष : यह उपभोग के बाद बचे क षक के अधिशेष की ओर संकेत करता है। छोटे एवं सीमांत किसानों का सम्पूर्ण क षिक उत्पादन स्वयं उपभोग के लिए होता है। अतः उनके सन्दर्भ में विपणनीय अधिशेष शून्य होता है। बड़े किसानों के मामले में स्थिति दूसरी है, क्योंकि, वे अपने निजी उपभोग के बाद शेष उत्पादन को बेचने की स्थिति में होते हैं।

विपणित अधिशेष : इसका अर्थ है क षकों द्वारा बाजार में बेची गयी मात्रा। सीमांत एवं छोटे किसान अपने उत्पादित आगत को फसल काटने के तत्काल बाद अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये बेच देते हैं। बाद में, वे उपभोग के लिये वे खाद्यान्न खरीदते हैं। इस मामले मे यहाँ विपणित अधिशेष तो है। किंतु विपणनीय अधिशेष शून्य है।

निर्धनता का दुष्चक्र : निवेश के निम्न स्तर के कारण उत्पादन तकनीक बहुत निम्न है। ऐसी निम्न तकनीक का परिणाम उत्पादकता और निर्गत का निम्न स्तर होता है। निर्गत का निम्न स्तर कम आय, कम उपभोग, और कम बचत को जन्म देता है। कम बचत के कारण पुनः निवेश में कमी आती है। अतः अर्थव्यवस्था निर्धनता के दुष्चक्र में घूमती रहती है।

15.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Desai. B.M. (ed.), *Agricultural Development Paradigm for the Ninth Plan under New Economic Environment*, Oxford & IBH Publications, New Delhi.

Economic and Political Weekly Research Foundation, 2003, *National Accounts Statistics 1950-51 to 2000-01*, Mumbai.

Government of India, 1996, *Capital Formation and Savings in India : 1950-51 to 1979-80*, Report of the Working group on Savings, Central Statistical Organisation, New Delhi.

Government of India, 2001, *National Accounts Statistics 2000*, Central Statistical Organisation., New Delhi.

15.14 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 15.2 और उत्तर दें

2) देखें भाग 15.3 और उत्तर दें

3) देखें भाग 15.5 और उत्तर दें

बोध प्रश्न 2

1) क षि में पूंजी निर्माण तकनीकी उन्नति के साथ उत्पादकता में व द्धि करता है। अप्रत्यक्ष प्रभावों में विपणनीय अधिशेष, और खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता है। भाग 15.6 देखें।

2) क षिक उत्पादन क्रियाओं और गैर क षि व्यापार के लिये वित्त की आवश्यकता होती है। वित्तीय आवश्यकता अल्प कालिक मध्यकालिक और दीर्घ कालिक हो सकती है।

3) वित्त के मुख्य संस्थागत स्रोत व्यावसायिक बैंक, सहकारी और प्रादेशिक ग्रामीण बैंक हैं।

बोध प्रश्न 3

1) नाशवान पुनउर्त्पादनीय अचल परिसम्पत्ति के उदाहरण है भवन, निर्माण कार्य बागान, मशीन और परिवहन उपकरण।

2) उप-भाग 15.10.3 देखें और उत्तर दीजिए।

इकाई 16 भारत में कृषि विपणन

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 कृषि विपणन की मुख्य विशेषताएं
16.3 कृषि उत्पाद का बाजार ढांचा
16.3.1 बाजार के प्रकार
16.3.2 बाजार पदाधिकारी
16.3.3 कृषि उत्पादों के लिए बाजार संरचना
16.4 मुख्य कृषि उत्पादों के लिए विपणन मार्ग
16.4.1 विपणन मार्ग की लंबाई
16.4.2 खाद्यान्न के लिए विपणन मार्ग
16.4.3 तिलहनों के लिए विपणन मार्ग
16.4.4 फल और सब्जियों के लिए विपणन मार्ग
16.4.5 अंडों के लिए विपणन मार्ग
16.5 विपणन लागत
16.6 सहकारी विपणन
16.6.1 सहकारी विपणन के उद्देश्य
16.6.2 सहकारी विपणन के लाभ
16.7 सहकारी विपणन व्यवस्था
16.7.1 प्राथमिक विपणन समितियाँ
16.7.2 जिला विपणन समितियाँ
16.7.3 राज्य विपणन संघ
16.7.4 भारतीय राष्ट्रीय कृषि सहकारी विपणन संघ लिमिटेड (नेफेड)
16.7.5 सहकारी विपणन संरचना की समस्याएं
16.7.6 समग्र द ष्टिकोण की आवश्यकता
16.8 कृषि विपणन के विकास के लिए सरकारी प्रयत्न
16.9 नियमित बाजार
16.9.1 बाजार नियमन के उद्देश्य
16.9.2 बाजार नियम की प्रगति
16.9.3 नियमित बाजारों की मुख्य विशेषताएं
16.9.4 नियमन संबंधी अन्य उपाय
16.10 भण्डारण
16.10.1 भण्डारण के प्रकार्य
16.10.2 भण्डारण सुविधाओं का उपयोग
16.10.3 भण्डारण को चलाने के लिए अनुज्ञा-पत्र
16.11 अग्रगामी व्यापार
16.11.1 मूल्य समर्थन योजना
16.11.2 बाजार हस्तक्षेप योजना
16.12 सारांश

16.13 शब्दावली

16.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

16.15 प्रगति की जाँच अभ्यास/उत्तर/संकेत

16.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप :

- भारत में विभिन्न प्रकार के प्रचलित विपणन संस्थानों को पहचान पायेंगे;
- सहकारी विपणन ढांचा और उसकी समस्याओं के बारे में स्पष्टीकरण दे सकें; और
- केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा उत्पाद के विपणन को सुव्यवस्थित करने के प्रयासों को जान और पहचान सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

'विपणन' का प्रयोग अंग्रेजी भाषा के शब्द मार्केटिंग के लिए किया जाता है। जिसका अर्थ होता है मार्क या सौदा तथा वह स्थान जहां बेचने-खरीदने की बातें की जाती हैं अर्थात् व्यापार किया जाता है।

''बाजार'' शब्द का प्रचलित अर्थ है जैसे (क) ऐसा स्थान अथवा भवन/इमारत जहां वस्तुएं खरीदी और बेची जाती हैं – उदाहरणार्थ सुपर बाजार; (ख) जहां किसी उत्पाद के बड़े खरीदार और विक्रेता होते हैं, जैसे गेहूं की बाजार और कपड़े का बाजार; (ग) जहां किसी देश अथवा बड़े क्षेत्र के नामी खरीदार और विक्रेता होते हैं जैसे भारतीय बाजार और एशिया बाजार; (घ) ऐसे संगठन जो वस्तुओं के विनिमय के लिए सुविधाएं प्रदान करते हैं, जैसे बुंबई स्टॉक एक्सचेंज; (ड.) व्यापारिक गतिविधियों के दौर, जैसे एक फीका बाजार अथवा चमकीला बाजार।

कृषि में विपणन एक विशेष स्थान रखता है। यह किसानों को खेती के उत्पादन के लिए और अधिक आय कमाने के लिए प्रोत्साहित करता है। पारंपरिक रूप से विपणन में ऐसी कोशिश होती है जिसके अंतर्गत सामान के स्वामित्व का हस्तांतरण और उसके वितरण की देख-रेख होती है। लेकिन वर्तमान में विपणन की अवधारणा के अंतर्गत कितने ही क्रिया-कलाप शामिल हैं, जैसे (i) किसानों से अतिरिक्त उत्पाद को इकट्ठा करना; (ii) नजदीक के जमा केन्द्र में भिजवाना; (iii) श्रेणीबद्ध करना और मानिकीकरण; (iv) एकत्रीकरण; (v) प्रसंस्करण; (vi) गोदाम (vii) संवेष्टन (पैकिंग); (viii) उपभोक्ता केन्द्रों तक ढोना; (ix) खरीदार और विक्रेता को मिलाना; और (x) असली उपभोक्ता को बेचना। इन सभी क्रिया-कलापों को कार्य रूप देने के लिए पूंजी की आवश्यकता होती है और इसमें कीमतों में उतार-चढ़ाव, हानि और गुणात्मक कमी होने जैसी बातों का डर और जोखिम भी होता है। उक्त गतिविधियों के लिए आवश्यक धन को जुटाने में विभिन्न स्तरों पर जोखिम उठाना पड़ता है। ये सब बातें विपणन का ही एक हिस्सा है।

16.2 कृषि विपणन की मुख्य विशेषताएँ

कृषि विपणन की कुछ मुख्य विशिष्टताएँ निम्नलिखित हैं:

क) अन्य निर्मित सामान की अपेक्षा कृषि उत्पाद कीमत के हिसाब से अधिक भारी (bulky) होते हैं। इनके लिए गोदाम और ट्रांसपोर्ट की सुविधाएँ अधिक मात्रा में आवश्यक होती है, फलस्वरूप इसमें काफी खर्च आता है।

ख) कृषि की पैदावार विशेष समय और मौसम में होती है, जबकि इसकी मांग उपभोक्ताओं द्वारा सारे साल भर होती है। इसलिए बाजार प्रणाली इस प्रकार बनानी होती है जिससे मौसम के अनुरूप पैदा किए गए उत्पाद की खपत का उपभोक्ताओं की मांग के अनुरूप सही ढंग से संतुलन बनाया जा सके।

ग) प थक रूप से छोटे किसानों से (जो विस्त त क्षेत्र में बिखरे जैसे होते हैं) इकट्ठा किया हुआ अतिरिक्त उत्पाद थोड़ी मात्रा में होता है। शहरी क्षेत्रों में केन्द्रित उपभोक्ताओं के लिए इसको एकत्र करना अपने आप में बहुत जटिल कार्य हो जाता हैं।

घ) कृषि उत्पाद का स्वभाव है जल्दी खराब होना। अतः इसके परिवहन में तथा इसे गोदाम में रखने में इसमें गुणात्मक विकृति आ जाती है। इसलिए इसके अच्छे रख-रखाव और इसके परिवहन में विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है।

ड.) कुछ विशेष उत्पाद, जैसे फल और वानस्पतिक पैदावार एक विशेष स्थान की होती है लेकिन उनके उपभोक्ता जगह-जगह दूर तक फैले होते हैं। अतः स्वाभाविक रूप से उनका विपणन अधिक कठिन होता है।

च) भारत में अधिकतर छोटे किसान तथा मध्यम श्रेणी के उत्पादक होते हैं जिनकी आर्थिक स्थिति कमजोर होती है। वे उक्त गतिविधियों को व्यक्तिगत रूप से संपन्न करने में असमर्थ होते हैं। इन गतिविधियों को करने वाले सामान्यतः बिचौलिए होते हैं, जो इन कमजोर किसानों का शोषण करते हैं।

16.3 कृषि उत्पादों के लिए बाजार संरचना

16.3.1 बाजार के प्रकार

कृषि पैदावार के भारतीय बाजार को तीन मुख्य समूहों में बांटा गया है :

(क) प्राथमिक, (ख) माध्यमिक, और (ग) सात्रिक

प्राथमिक बाजार

मुख्यतः ये बाजार नियतकालिक (एक निश्चित समय के अनुसार) होते हैं। इन्हें 'हाट', 'पेठ' या 'शैंडी' कहा जाता है। ये गांव स्तर के होते हैं और ये साप्ताहिक या एक निश्चित अवधि के अंतराल पर लगाए जाते हैं। भारत में इस प्रकार के लगभग 22,000 बाजार हैं। ये बाजार लगभग 5 से 10 किलोमीटर के क्षेत्र की मांग को पूरा करते हैं।

माध्यमिक बाजार

ये बाजार 'मंडी' या 'गुंज' कहलाते हैं। ये थोक बाजार रोजाना लगते हैं और प्रायः जिला और तालुक मुख्यालय या रेलवे स्टेशन के निकट मुख्य व्यापार केन्द्रों में स्थित होते हैं। देश में लगभग 3,400 मुख्य माध्यमिक बाजार अथवा मंडी केन्द्र हैं। इन बाजारों में संचार की अच्छी व्यवस्था है और 10 से 30 किलोमीटर के क्षेत्र में फैले प्रदेशों से आसानी से आपूर्ति हो जाती है।

सात्रिक बाजार

इन बाजारों में उत्पाद को सीधे उपभोक्ता तक पहुंचाने की व्यवस्था होती है अथवा जहाज के द्वारा विदेशी ठिकानों में पहुंचाने के लिए उत्पाद को इकट्ठा करने की व्यवस्था होती है।

बंदरगाह अथवा पत्तन बाजार ऐसे सात्रिक बाजार होते हैं। इन बाजारों के द्वारा काफी बड़े क्षेत्र की आपूर्ति की विपणन व्यवस्था की जाती है।

16.3.2 बाजार पदाधिकारी

कृषि माल के बाजार के पदाधिकारी क्षेत्रवार तथा वस्तु अथवा माल विशेष के अनुसार अलग-अलग होते हैं। सभी क्षेत्रों में जो पदाधिकारी कार्य कर रहे हैं, वे निम्न प्रकार हैं।

क) *ग्रामीण/भ्रमणशील व्यापारी :* प्राथमिक बाजार में यह मुख्य पदाधिकारी होता है। यह कभी-कभी माल का उत्पादन करके और स्थानीय खरीदारी करके अन्य भ्रमणशील व्यापारियों को बेचता है।

ख) *कच्चा आढ़ती :* यह मुख्य रूप से प्राथमिक विक्रयकर्त्ता (गांव का व्यापारी) और खरीदार के बीच 'मंडियों' में सूत्र के रूप में कार्य करता है और बेचने वाले के माल को कमीशन के अधार पर बेचने/निपटाने का काम करता है। इस काम के लिए यह खरीदार और विक्रयकर्त्ता दोनों से कमीशन लेता है।

ग) *पक्का आढ़ती :* यह प्रायः बाहरी खरीदार के लिए कमीशन के आधार पर कार्य करता है। यह थोक एजेंट के रूप में भी कार्य करता है और स्वयं क्रय और विक्रय का काम करता है। ऐसे आढ़ती माल की सफाई, आवश्यकतानुसार प्रसंस्करण, वज़न, पैकिंग और उसे रेल द्वारा भिजवाने तक सभी कार्य करते हैं। ये बड़ी पूंजी वाले लोग होते हैं और अपने एजेंट को पैसा देते हैं।

घ) *दलाल :* यह खरीदार और बेचने वाले को आपस में मिलाने के काम में सहायता प्रदान करता है और उनके माल को बेचने का प्रबंध करता है। यह इस तरह दो व्यापारियों में दलाल की भूमिका अदा करता है।

ड.) *तोला (तोलने वाले लोग):* थोक बाजार में सामान को तोलने का काम जिस व्यक्ति विशेष द्वारा किया जाता है उसे 'तोला' कहते हैं जो एक प थक इकाई के रूप में कार्य करता है।

च) *हम्माल और पल्लेदार (बाजार श्रमिक):* ये लोग बाजार में किसी भी उत्पाद अथवा माल को इकट्ठा करना और उसके संभाने आदि का काम देखते हैं। ये प्रायः स्वतंत्र रूप से काम करने वाले लोग होते हैं।

छ) *अन्य पदाधिकारी :* दूसरे अन्य कितने ही छोटे-छोटे पदाधिकारी होते हैं जैसे सफाईवाले, पानी ढोने वाले और अन्य सेवक जो आढ़ती के ग्राहकों की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं।

16.3.3 कृषि वस्तुओं के लिए बाजार संरचना

सरकार के सीधे हस्तक्षेप के बावजूद, भारत में कृषिक उत्पाद का बाजार गैर-सरकारी क्षेत्र के प्रभुत्व में रहा है। एक अनुमान के अनुसार विक्रय योग्य उत्पादन के दस प्रतिशत से अधिक का संचालन सरकारी ऐजेन्सी या शाखाओं द्वारा किया जाता है। इसके अलावा केवल दस प्रतिशत उत्पाद ही सहकारी केन्द्रों द्वारा संचालित होता है। इस प्रकार कृषि उत्पाद का 80 प्रतिशत जो बाजार में आता है, वह गैर-सरकारी क्षेत्र द्वारा ही संचालित होता है। अनाजों के मामले में तो गैर-सरकारी क्षेत्र द्वारा किए जाने वाला व्यापार काफी बड़ा है और लगातार बढ़ रहा है। अनाजों के अतिरिक्त, अन्य उत्पादों में, गैर-सरकारी

क्षेत्र के व्यापार का हिस्सा जो 1982-83 में समाप्त होने वाले वर्ष में 72.5 प्रतिशत था, वह बढ़कर वर्ष 1996-97 में 74.0 प्रतिशत हो गया। वर्ष 1982-83 और 1996-97 के बीच 57.4 मिलियन टन उत्पाद में से सरकारी ऐजेन्सियों द्वारा संचालित किया गया उत्पाद लगभग 8 मिलियन टन ही था। अतः गैर-सरकारी क्षेत्र द्वारा बड़ी मात्रा में उत्पाद को संचालित करने के लिए बाजार का स्वरूप और ढांचा भी काफी हद तक फैल गया है।

भारत में खाद्य पदार्थों का व्यापार बीस लाख थोक विक्रेताओं और पचास लाख खुदरा व्यापारियों के द्वारा संचालित होता है। खुदरा व्यापार के क्षेत्र में 4.10 लाख से अधिक उचित मूल्य की दुकानें भी हैं जिनमें लगभग 3/4 गैर-सरकारी क्षेत्र में हैं जो सार्वजनिक-वितरण प्रणाली (Public distribution system) के अंतर्गत कार्य कर रही हैं। औसतन 200 की जनसंख्या के लिए खाद्य पदार्थों की एक खुदरा दुकान है। व्यापारियों के अलावा प्रक्रमणकर्त्ता एक अहम भूमिका अदा करते हैं, क्योंकि, वे भी बाजार में बड़े खरीदार और विक्रेता के रूप में प्रवेश करते हैं। धान/चावल के मामले में 91,801 छिलका निकालने वाले (hullers), 4,538 दाने निकालने वाले (shellers), 8,365 छिलके और दाने निकालने वाले और 34,688 चावल की मिल हैं जो लगभग 1200 लाख टन धान के उत्पाद का प्रसंस्करण (processing) करते हैं। गेहूं के बाजार में बड़ी आटा मिलें (roller flour mills) गेहूं की मात्रा के यथेष्ट भाग को नियंत्रित करती हैं। इस समय 812 बड़ी आटा मिलें हैं जो 10.5 मिलियन टन गेहूं और उसके उत्पाद को खरीदते हैं और बेचते हैं। दालों के कुल उत्पाद का लगभग 75 प्रतिशत संगठित तथा असंगठित क्षेत्रों द्वारा संचालन होता है। इस समय संगठित दाल की मिलों की संख्या 10,000 से अधिक है।

भारत में लगभग 98 प्रतिशत फल और सब्जियों का व्यापार ताजे उत्पाद के रूप में होता है। संपूर्ण उत्पाद के केवल 1.8 प्रतिशत का आदान-प्रदान का वाणिज्यिक प्रविधि द्वारा लेखा–जोखा होता है। हालांकि उत्पाद को प्रक्रम करने की क्षमता 19.1 लाख टन तक हो गई है, किन्तु मौसमीय उत्पादन के कारण और किसान और प्रक्रमणकर्त्ता के बीच संबंधों की कमी के कारण, केवल आधी क्षमता का ही उपयोग हो रहा है।

बढ़ते हुए शहरीकरण और आय-स्तर में व द्धि के कारण खाद्य प्रसंस्करण क्षेत्र का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। संपूर्ण भारतीय खाद्य बाजार में केवल 10 प्रतिशत प्रसंस्क त अंश है, 15 प्रतिशत अर्ध प्रसंस्क त अंश है और 75 प्रतिशत ताजे खाद्य का अंश है। भारत में खाद्य प्रसंस्करण पर वर्तमान समय में असंगठित क्षेत्र का नियंत्रण है। जो संगठित प्रसंस्करण क्षेत्र है उसमें 18,000 इकाईयां हैं जो 9,000 करोड़ रुपए का माल तैयार कर रहीं हैं। खाद्य बाजार का प्रसंस्करण अंश बहुत तेजी से बढ़ रहा है और अनुमानतः 2005 वर्ष तक और निवेश होकर यह 200 प्रतिशत तक बढ़ जाएगा। यह क्षेत्र भारी निवेश को आकर्षित कर रहा है और जुलाई 1991 से गैर-सरकारी और सहकारी क्षेत्रों में बहुत से ऐसे उद्यम – कुछ विदेशी सहयोग के साथ और शत-प्रतिशत निर्यात योग्य उत्पादों के साथ, स्वीक त अथवा अधिक त किए गए हैं।

मांस या गोश्त के बाजार के ढांचे में 3,600 बूचड़खाने, 6 आधुनिक वधशालाएं और 25 गोश्त प्रसंस्करण संयंत्र (processing plants) हैं। इसके अलावा बहुत सी मुर्गी उच्छिलन इकाईयां (poultry dressing units) हैं। मांस खाद्य सामग्री आदेश 1973 के अंतर्गत मात्र 104 लाइसेंस धारक कार्य कर रहे हैं। देश में मांस के कुल उत्पाद जो अनुमानतः 3.9 मिलियन टन है, के अनुरूप प्रसंस्करण क्षमता के पुनर्विचार किए जाने की आवश्यकता है।

भारतीय कृषि बाजार का एक अन्य महत्त्वपूर्ण खंड तिलहन और वनस्पति तेल का उत्पाद है। तिलहन प्रसंस्करण उद्योग में यांत्रिक पिसाई और शोधक्षम निष्कर्षण इकाइयां शामिल

हैं। यांत्रिक पिसाई इकाई में 20,000 एक्सपैलर (expeller) और 1,31,600 कुटीर स्तर घानी शामिल हैं। शोधक्षम निष्कर्षण इकाईयां 761 हैं। इसके अतिरिक्त 130 तेल शोधन और 145 हाइड्रोजनीकरण इकाईयां हैं। उद्योग का क्षमता उपयोग आधे से कम है। तिलहन प्रसंस्करण क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण ढांचीय परिवर्तन देखा गया है कि संपूर्ण पिसाई की मात्रा में कुटीर इकाईयों की हिस्सेदारी कम होती जा रही है। कुटीर इकाईयों में क्षमता उपयोग लगभग 10 प्रतिशत है जबकि एक्सपैलरों के लिए 34 प्रतिशत, तेलशोधन के लिए 50 प्रतिशत और हाइड्रोजनीकरण इकाईयों के लिए 37 प्रतिशत है।

कुछ प्रारंभिक सूचनाएं जो यहां दी जा रही हैं वे कृषि उत्पाद बाजार की कुछ विशेषताओं की ओर इंगित करती हैं, जैसे (क) बाजार का जो आकार है, पहले ही बड़ा और फैला हुआ है, (ख) यह गैर-सरकारी क्षेत्र द्वारा प्रमुख रूप से नियंत्रित है, (ग) संगठित क्षेत्र से असंगठित क्षेत्र अधिक बड़ा है और संगठित क्षेत्र का शेयर बढ़ रहा है, और (घ) बाजार के बड़ा होने के बावजूद, भौगोलिक रूप से बिखरे हुए बाजार और आधारिक संरचना की कमियों के रहते हुए स्थानीय एकाधिकार या अल्पाधिकार की संभावनाओं को नकारा नहीं जा सकता।

16.4 मुख्य कृषि उत्पादों के लिए विपणन मार्ग

विपणन मार्ग (marketing channel) के द्वारा कृषि उत्पाद वस्तुएं उत्पादक से उपभोक्ताओं तक पहुंचती है। ये मार्ग भिन्न-भिन्न और कितने लम्बे होते हैं यह वस्तु-वस्तु पर, उसकी मात्रा, उपभोक्ता की मांग का स्वरूप और उत्पादन की क्षेत्रीय विशिष्टता के स्तर पर निर्भर करता है।

16.4.1 विपणन मार्ग की लंबाई

कृषि उत्पाद वस्तुओं के लिए विपणन मार्ग वस्तु-वस्तु, देश-देश तथा समय-समय पर भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए, फलों के विपणन मार्ग अन्य अनाज और खाद्य वस्तुओं के विपणन मार्ग से भिन्न होते हैं। संवेष्टन/पैकेज का काम करने वाले लोग फलों के बाजार में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। किसी देश अथवा समाज के विकास का स्तर उपभोक्ता द्वारा किसी उत्पाद वस्तु की मांग को निर्धारित करता है। उदाहरण के लिए विकसित देशों के उपभोक्ता खाद्य वस्तुओं की मांग पैक किए हुए रूप में करते हैं। गेहूं की ब्रेड के रूप में आपूर्ति की जाती है। बहुत-सी खाने की वस्तुएं उपभोक्ता तक पहुचाने से पूर्व पकाकर अच्छी प्रकार से पैक की जाती हैं। इस प्रकार के समाज में प्रक्रमक एक प्रभावी भूमिका अदा करते हैं। लेकिन भारत जैसे विकासशील देशों में उपभोक्ताओं द्वारा कच्चे और अपरिष्कृत रूप में खाद्य पदार्थों को खरीदा जाता है और अपने स्तर पर ही उन्हें प्रक्रमित किया जाता है। इसके अतिरिक्त छोटे फार्म से प्रवर्त्तन करने वाले खाद्य पदार्थों के मार्ग बड़े फार्म से प्रवर्त्तन करने वाले खाद्य पदार्थों के मार्ग से अलग होते हैं। उदाहरण के लिए, छोटे फार्म प्रायः अपने उत्पाद की बिक्री ग्रामीण व्यापारियों को करते हैं और कोई आवश्यक नहीं कि यह बिक्री बड़े बाजार में प्रवेश करे। लेकिन बड़े फार्म प्रायः अपने उत्पाद की बिक्री बड़े और मुख्य बाजार में करते हैं जहां से यह उत्पाद थोक व्यापारियों के हाथों में जाता है। फसल के तुरंत बाद बेचे जाने वाला उत्पाद बाद के महीनों में बिकने वाले उत्पाद की अपेक्षा प्रायः लंबे मार्ग को अपनाता है।

यातायात और सूचना संप्रेषण की कार्य प्रणाली में विस्तार के साथ आपूर्ति के ढांचे में, बाजार के विकास में तथा भारत में फार्म उत्पाद के लिए विपणन मार्ग में बड़े स्तर पर दूरी और प्रकार के रूप में बदलाव आए हैं।

16.4.2 खाद्यान्न के लिए विपणन मार्ग

भारत में विभिन्न अनाजों के लिए विपणन मार्ग लगभग एक जैसे हैं, सिवाय धान या चावल के जहां चावल मिल कार्य करते दिखाई देते हैं। गेहूं के लिए कुछ आम चैनल निम्न प्रकार हैं :

i) किसान से उपभोक्ता तक

ii) किसान से खुदरा व्यापारी तक अथवा ग्रामीण व्यापारी से उपभोक्ता तक

iii) किसान से थोक व्यापारी तक, थोक व्यापारी से खुदरा व्यापारी तक तथा खुदरा व्यापारी से उपभोक्ता तक

iv) किसान से ग्रामीण व्यापारी तक, ग्रामीण व्यापारी से थोक व्यापारी तक, थोक व्यापारी से खुदरा व्यापारी तक और खुदरा व्यापारी से उपभोक्ता तक

v) किसान से सहकारी विपणन समिति तक, सहकारी विपणन समिति से खुदरा व्यापारी तक और खुदरा व्यापारी से उपभोक्ता तक

vi) किसान से सरकारी ऐजेंसी (भारतीय खाद्य निगम आदि) तक, सरकारी ऐजेंसी से उचित मूल्य की दुकान तक तथा उचित मूल्य की दुकान से उपभोक्ता तक

vii) किसान से थोक व्यापारी तक, थोक व्यापारी से आटा मिलों तक, आटा मिलों से खुदरा व्यापारी तक और खुदरा व्यापारी से उपभोक्ता तक।

धान-चावल और दालों के लिए मार्ग मोटे तौर पर एक जैसे हैं। केवल इस बात का फर्क है कि खाद्यान्न खुदरा व्यापारियों या उपभोक्ताओं तक पहुंचने से पूर्व चावल या दाल के मिल वालो के हाथों प्रसंस्करण होता है।

16.4.3 तिलहनों के लिए विपणन मार्ग

तिलहनों के लिए विपणन मार्ग खाद्यानों से अलग होते हैं – मुख्य रूप से तिलहनों के लिए तेल का निष्कर्षन एक महत्त्वपूर्ण बाजारी क्रियाविधि है। भारत में तिलहनों के लिए आम विपणन मार्ग निम्नलिखित हैं:

i) उत्पादक से उपभोक्ता तक (जो या तो तिलहनों का सीधे तौर पर उपयोग में लाता है या इसका व्यवसाय के रूप में प्रक्रमण करता है)

ii) उत्पादक से ग्रामीण व्यापारी तक, ग्रामीण व्यापारी से खुदरा व्यापारी तक और खुदरा व्यापारी से उपभोक्ता तक

iii) उत्पादक से तिलहन के थोक व्यापारी तक, थोक व्यापारी से प्रक्रमण तक, प्रक्रमक से तेल के थोक व्यापारी तक, थोक व्यापारी से खुदरा व्यापारी तक और खुदरा व्यापारी से तेल के उपभोक्ता तक

iv) उत्पादक से ग्रामीण व्यापारी तक, ग्रामीण व्यापारी से प्रक्रमक तक और प्रक्रमक से तेल उपभोक्ता तक

v) उत्पादक से सरकारी ऐजेंसी तक, सरकारी एजेंसी से प्रक्रमक तक, प्रक्रमक से तेल के थोक व्यापारी तक, थोक व्यापारी से खुदरा व्यापारी तक और खुदरा व्यापारी से तेल उपभोक्ता तक।

16.4.4 फल और सब्जियों के लिए विपणन मार्ग

फल और सब्जियों के लिए विपणन मार्ग वस्तु विशेष और उत्पादक विशेष के लिए भिन्न होते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों और छोटे कस्बों में बहुत से उत्पादक खुदरा व्यापारियों के तौर पर कार्य करते हैं। बड़े उत्पादक सीधे तौर पर अपने उत्पाद को प्रक्रमक इकाई को बेचते हैं। फल और सब्जियों के लिए कुछ सामान्य विपणन मार्ग निम्न प्रकार हैं:

i) उत्पादक से उपभोक्ता तक

ii) उत्पादक से विशेष थोक व्यापारी, थोक व्यापारी से खुदरा व्यापारी और खुदरा व्यापारी से उपभोक्ता तक

iii) उत्पादक से प्रक्रमक तक (रस में परिवर्तन एवं परीक्षण आदि हेतु)

iv) उत्पादक से विशेष थोक व्यापारी और थोक व्यापारी से प्रक्रमक तक

v) उत्पादक से विशेष थोक व्यापारी, विशेष थोक व्यापारी से मध्यम थोक व्यापारी, मध्यम थोक व्यापारी से खुदरा व्यापारी और खुदरा व्यापारी से उपभोक्ता तक

vi) उत्पादक से स्थानीय संग्रहकर्त्ता, स्थानीय संग्रहकर्त्ता से विशेष थोक व्यापारी, विशेष थोक व्यापारी से खुदरा व्यापारी और खुदरा व्यापारी से उपभोक्ता तक।

16.4.5 अंडों के लिए विपणन मार्ग

अंडों के लिए प्रचलित विपणन मार्ग निम्न हैं :

i) उत्पादक से उपभोक्ता तक

ii) उत्पादक से खुदरा व्यापारी, और खुदरा व्यापारी से उपभोक्ता तक

iii) उत्पादक से थोक व्यापारी, थोक व्यापारी से खुदरा व्यापारी और खुदरा व्यापारी से उपभोक्ता तक

iv) उत्पादक से सहकारी विपणन सोसायटी, विपणन सोसायटी से थोक व्यापारी, थोक व्यापारी से खुदरा व्यापारी और खुदरा व्यापारी से उपभोक्ता तक

v) उत्पादक से अंडा पाउडर फैक्टरी तक

कभी-कभी थोक और खुदरा व्यापार के कार्य एक अकेली फर्म द्वारा संपन्न किए जाते हैं।

बोध प्रश्न 1

1) इस कथन को तर्कसंगत रूप से सिद्ध करें कि कृषि वस्तुओं का विपणन औद्योगिक सामानों के विपणन से भिन्न है।

....

....

....

....

....

....

2) विपणन ढांचे के आवश्यक घटक क्या हैं?

....

....

....

....

....

3) भारत में कृषि उत्पाद के विपणन के प्रकार क्या हैं?

....

....

....

....

....

4) फल और सब्जियों के विपणन मार्ग क्या हैं?

....

....

....

....

....

16.5 विपणन लागत

किसान द्वारा प्राप्त कीमत और उपभोक्ता द्वारा अदा की गई कीमत के अंतर को विपणन लागत कहा जाता है। इसमें मध्यस्थ द्वारा विपणन से संबंधित कार्य-सेवाओं के लिए ली गई कीमत शामिल है। अध्ययन बताते हैं कि उपभोक्ता की आय का एक बड़ा हिस्सा बिचौलियों द्वारा ले लिया जाता है। ऊँची विपणन कीमतों के होने के कारण हैंः दूर-दूर तक फैले हुए फार्म, व्यक्तिगत रूप से पैदा किए उत्पाद की छोटी मात्रा, वस्तु विशेष की विशेषता में परिवर्तनशीलता, अपर्याप्त परिवहन सुविधाएं, विपणन संबंधी सूचना – सेवाओं की कमी, भण्डारण और प्रकमण के लिए पूंजी की कमी आदि।

कुछ विपणन संबंधी कमियां तथा असमर्थताएं, जो विपणन मूल्य को बढ़ाने का कारण बनती है, इस प्रकार हैं –

क) *विपणन खर्च की बहुलता :* उत्पादक को बिना किसी औचित्य के और प्रायः बिना किसी सेवा के काफी बड़ी मात्रा में बाजार शुल्क अदा करने पड़ते है। ये अनावश्यक शुल्क

जैसे दान या धर्मार्थ सहायता तथा उत्पाद को बिना स्टोर किए ही भण्डारण शुल्क आदि कुछ उदाहरण हैं।

ख) *व्यापार भत्ता :* बहुत से अनियंत्रित बाजारों में व्यापारी कुछ ऐसी कटौतियां करते हैं जो अनावश्यक और भारी होती हैं। उदाहरण के लिए ठेला ढोने का, नमी, धूल आदि से बचाने का शुल्क आदि जबकि उत्पाद को एक खुले ढेर के रूप में खरीदने से पूर्व खरीदार को निरीक्षण के लिए दिखाया जाता है। ये औचित्यविहीन व्यापार शुल्क हैं।

ग) *मिलावट और श्रेणीकरण की कमी :* कृषि वस्तुओं के उत्पादकों और व्यापारियों ने कुल मिलाकर अभी तक उत्पाद के श्रेणीकरण के महत्त्व और लाभ को महसूस नहीं किया है, फलस्वरूप जो भी सौदे का कार्य संपादित किया जाता है वह नमूने के आधार पर होता है और उत्पादक को अपने उत्पाद का सही मूल्य नहीं मिल पाता है।

घ) *बिक्री का तरीका :* बहुत सारे अनियंत्रित बाजारों में बिक्री की ऊपर-नीचे (हाया) प्रणाली प्रचलित है। इस प्रणाली में खुले रूप से कितने ही गलत काम होते हैं क्योंकि केवल बेचने वाला या मोल-भाव करने वाला जानता है कि बेची जाने वाली वस्तु की कीमत क्या है। इससे सामान्यतः उत्पादक को हानि होती है।

ड.) *तौल :* बहुत से बाजारों में उपयोग में लिए जाने वाले तौल सही नहीं होते। इसके अलावा तौल के काम में लगाए गए लोगों के ऊपर कोई निगरानी नहीं होती जो कि अधिकतर व्यापारियों के द्वारा नियुक्त लोग होते हैं और प्रायः तौल में धोखेबाजी करते हैं।

च) *बड़ी मात्रा के नमूने :* खरीदारों द्वारा बिना पैसे के बड़ी मात्रा में नमूने लिए जाते हैं।

छ) *बिक्री आय की देर से अदायगी :* अधिकतर मामलों में उत्पादक को बेचे गए उत्पाद की पूरी कीमत तुरंत अदा नहीं की जाती है। अग्रिम राशि दे दी जाती है और कुछ देर के बाद अंतिम रूप से अदायगी की जाती है। यदि फसल से पूर्व अग्रिम राशि दी जाती है तो भारी ब्याज भी लगाया जाता है।

ज) *अतिरिक्त फालतू बिचौलिए :* उत्पादक और उपभोक्ता के बीच बड़ी संख्या में बिचौलिए होते हैं जिसके कारण उपभोक्ता को ऊँची कीमत देनी पड़ती है और उत्पादक को लाभ कम मिलता है।

झ) *अपर्याप्त भण्डारण सुविधाएं :* अधिकतर गांवों में मुश्किल से ही कोई संस्थागत भण्डारण सुविधा उपलब्ध होती है। फलस्वरूप किसान फसल की पैदावार के साथ ही तुरंत उत्पाद को किसी भी कीमत पर बेच देते हैं। ऐसा अनुमान है कि किसान के स्तर पर कुल उत्पाद का 5% भण्डारण हानि के रूप में होता है।

ञ) *दोषपूर्ण परिवहन :* ग्रामीण क्षेत्रों में परिवहन प्रणाली बहुत बुरी अवस्था में है और यह बरसात के मौसम में वास्तविक रूप में अस्तित्व में होती ही नहीं। यह तथ्यपूर्ण बात है कि परिवहन और सूचना-संप्रेषण प्रणालियां कारगर और प्रभावी बाजार के लिए पूर्वापेक्षित हैं।

ट) *बाजार सूचना की कमी :* मुश्किल से ही कोई ऐजेंसी होगी जो ग्रामीण क्षेत्रों में कीमतों के बारे में सही सूचना देती हो। ग्रामीणों का बाहर की दुनिया से कोई संपर्क नहीं होता और वे कानों सुनी बातों तथा सूचनाओं पर कार्य करते हैं।

ठ) *विनियमित बाजारों की अनुपस्थिति :* 3,400 में से 2000 प्रमुख बाजारों को अभी तक नियमित नहीं किया गया है। यहां तक कि नियमित बाजारों में भी अधिकारियों द्वारा नियम-कानूनों को उचित प्रकार से लागू नहीं किया जाता और परिणामस्वरूप कितने ही रूपों में अनियमितताएं लगातार चलती रहती हैं।

देश की आर्थिक स्थिति के सुधार के लिए नियमित बाजारों का होना काफी महत्त्वपूर्ण है। खाद्यान्न की आपूर्ति को बढ़ाना और उसी प्रकार पोषण के आदर्श स्तर को खड़ा करना बेकार और अर्थहीन होगा जब तक कि खाद्यान्न सही कीमत पर उत्पादक से उपभोक्ता तक नहीं पहुंच जाता जिससे उत्पादक को प्रतिफल के रूप में सही और उचित मूल्य मिल सके और उपभोक्ता भी अपनी सामर्थ्य के मुताबिक कीमत दे सके।

16.6 सहकारी बाजार

कृषि बाजार प्रणाली में विद्यमान खराबियों और दोषपूर्ण अनियमितताओं के परिप्रेक्ष्य में भारत में सहकारी बाजार की आवश्यकता को प्रखरता से महसूस किया जा रहा है। यद्यपि केन्द्रीय और राज्य की सरकारों द्वारा कतिपय वैधानिक नियमों को लागू किया गया है, तथापि बहुत सारी अनियमितताएं एक या दूसरे रूपों में जारी है। इसका कारण है कि आज भी बहुत संख्या में किसान व्यापारियों और पैसा देने वाले लोगों के कर्ज में फंसे हैं और इन लोगों के अधिकार क्षेत्र में ही लेन-देन, बाजार, परिवहन और भण्डारण जैसे कारोबार हैं।

सहकारी विपणन एक ऐसा व्यवस्था है जिसके द्वारा सहकारी संगठन मिलकर अपने सदस्यों के उत्पाद के एक या अधिक विपणन संबंधी कार्यों को निष्पादित कर सकें। यह एक स्वयंसेवी व्यापारिक संगठन है जिसे इसके सदस्यों द्वारा सीधे अपने लाभ के लिए सामूहिक रूप से फार्म उत्पाद को बाजार में ले जाने के लिए सामूहिक रूप से स्थापित किया गया है।

16.6.1 सहकारी विपणन के उद्देश्य

सहकारी बाजार समिति का मुख्य उद्देश्य सारी बाजार प्रणाली को तर्कसंगत बनाना और पुनर्गठित करना है ताकि यह उत्पादक के लिए लाभप्रद बन सके। इसके उद्देश्य निम्न प्रकार हैं:

क) कृषि की सौदा करने की क्षमता को मजबूती प्रदान करना,

ख) समिति के सदस्यों को उत्पाद की बेहतर कीमत दिलवाना,

ग) अतिरिक्त और फालतू बिचौलियों को समाप्त करना,

घ) सदस्यों को आवश्यकतानुरूप वित्तीय सहायता प्रदान करवाना,

ड.) किसानों को अच्छे किस्म की पैदावार के लिए प्रोत्साहित करना,

च) कीमतों का स्थिरीकरण,

छ) सही और आदर्श व्यापार व्यवहार का विकास,

ज) श्रेणीकरण, भण्डारण और परिवहन की सुविधाएं करना,

झ) कीमत समर्थन की दिशा में कार्य करने और बाजार हस्तक्षेप योजना को लागू करने हेतु सरकार के एक ऐजेंट के रूप में कार्य करना,

ञ) स्व-सहायता, किफायत और बेहतर खेती के काम को प्रोत्साहित करते हुए सदस्यों में आर्थिक लाभ और दिलचस्पी का विकास करना,

ट) कृषि आदानों, जैसे बीज़, उर्वरक, रसायन आदि के लिए वितरण केन्द्र के रूप में कार्य करना, और

ठ) विपणन की साख के साथ जोड़ते हुए कृषि साख कार्यक्रम के विस्तार हेतु सहायता प्रदान करना।

16.6.2 सहकारी विपणन के लाभ

सहकारी विपणन उत्पादक, उपभोक्ता और सारे समाज के लिए लाभकारी है। कुछ प्रमुख लाभ हैः

क) *बाजार की कीमत में किफायत अथवा अर्थव्यवस्था :* चूंकि सहाकरी समिति सारे व्यवसाय के बड़े हिस्से को संचालित करती है और साथ ही एकत्रीकरण, श्रेणीकरण, भण्डारण, जोखिम उठाने आदि जैसे कार्य करती है, इसलिए यदि कार्य के पैमाने पर ध्यान दिया जाय तो इन सेवाओं को निम्नतम लागत प्रदान करना संभव हो सकता है।

ख) *बेहतर कीमतें :* विपणन समिति किसान की सौदा करने की क्षमता को मजबूती प्रदान करती है और इस तरह वे अपने उत्पाद की बेहतर कीमत पाते हैं। समिति भी उन्हें अग्रिम उधार भी देती हैं जो उन्हें वस्तुओं को उस समय उस समय बेचने में मदद करती हैं जब कीमतें बढ़ी हुई होती हैं।

ग) *साख सुविधाएं :* सहकारी विपणन समिति सहकारी बैंक से कम ब्याज की दर पर उधार लेकर सदस्यों को उचित दर पर वित्तीय सहायता प्रदान करती है। इस प्रकार समिति एक तरफ महाजनों के चंगुल से सदस्यों को बचाती है तथा दूसरी तरफ सहकारी बैंक को भी ऋण की अदायगी सुनिश्चित करती है।

घ) *उपभोक्ताओं को सही किस्म के माल की आपूर्ति :* सहकारी विपणन समिति के सदस्य भी उपभोक्ता होते हैं। इसलिए समिति अपने सदस्यों को उचित और कम कीमत पर अच्छी किस्म की उपभोक्ता सामग्री को प्रदान करती है।

ड.) *सही फसल के उत्पादन में सहायता :* बाजार में कार्यरत जो समितियां हैं, वे अच्छी किस्म के बीज, और उर्वरक और अन्य सहायता प्रदान कर अपने सदस्यों को उच्च स्तरीय फसल के उत्पादन में सहायता प्रदान करती है।

च) *अतिरिक्त उत्पाद का वितरण :* समिति द्वारा प्राप्त लाभ सभी सदस्यों की संपदा होता है और इसे प्रश्रय देने वाले सदस्यों में बराबर रूप से बांटा जाता है और इस तरह यह सदस्यों की अतिरिक्त आय होती है।

छ) *शैक्षिक योगदान :* यह समिति सदस्यों को क षि के वैज्ञानिक तरीकों से अवगत कराती है तथा साथ ही बाजार से संबंधित सूचनाएं आदि प्रदान करती है। इस प्रकार यह लोगों को जाग त और शिक्षित करने के एक साधन के रूप में कार्य करती है।

बोध प्रश्न 2

1) भारतीय कृषि बाजार में कौन-से विपणन दोष प्रचलित है?

....

....

....

....

2) सहकारी विपणन के लाभ क्या हैं, विवचना करें।

....

....

....

....

....

3) सहकारी विपणन के मुख्य उद्देश्य क्या है?

....

....

....

....

....

....

16.7 सहकारी विपणन व्यवस्था

सहकारी विपणन समिति के ढांचे में राष्ट्रीय स्तर पर भारत का राष्ट्रीय कृषि सहकारी विपणन संघ लिमिटेड (नेफेड), राज्य स्तर पर राज्य सहकारी विपणन शामिल है। देश में सहकारी विपणन का संगठनात्मक ढांचा संघीय है, लेकिन सभी राज्यों में संगठन का ढांचा एक जैसा नहीं है। यह द्वि-स्तरीय है जिसमें मंडी स्तर पर प्राथमिक विपणन सहकारिताएँ और राज्य स्तर पर राज्य विपणन संघ हैं। ये राज्य हैं – असम, बिहार, केरल, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान, पश्चिमी बंगाल और उत्तर-पूर्वी राज्य। दूसरी तरफ यह ढांचा त्रि-स्तरीय भी है जिसमें बुनियादी तौर पर प्राथमिक विपणन सहकारी समितियां, जिला स्तर पर केन्द्रीय विपणन समितियां और बाकी राज्यों में राज्य स्तर पर राज्य विपणन संघ शामिल है।

मार्च 1998 में देश में 29 राज्य विपणन संघ, 22 राज्य स्तरीय विशेष विपणन संघ, 397 जिला/केन्द्रीय विपणन समिति और 8,422 प्राथमिक सहकारी विपणन समितियां थी। प्राथमिक समितियों का व्यवसाय 5803 करोड़ रुपए का था तथा राज्य और जिला समितियों/संघों का व्यवसाय 1,05,845 करोड़ रुपए का था।

राष्ट्रीय कृषि सहकारी विपणन संघ लिमिटेड (नेफेड) ने जो विपणन सहकारी समितियों की एक राष्ट्रीय संस्था है, वर्ष 1997-98 में 546 करोड़ रुपए के कृषि उत्पाद का व्यापार किया। इस राशि में, 208 करोड़ रुपए का व्यापार अंतर्देशीय व्यापार द्वारा और 339 करोड़ रुपए का निर्यात द्वारा किया। इसने भारत सरकार की कीमत समर्थन योजना और बाजार हस्तक्षेप योजना को भी क्रियान्वित किया। उस वर्ष इसने 11 करोड़ रुपए का कुल लाभ अर्जित किया।

भारत में सहकारी विपणन समितियों का ढांचा चित्र 16.1 में दिखाया गया है।

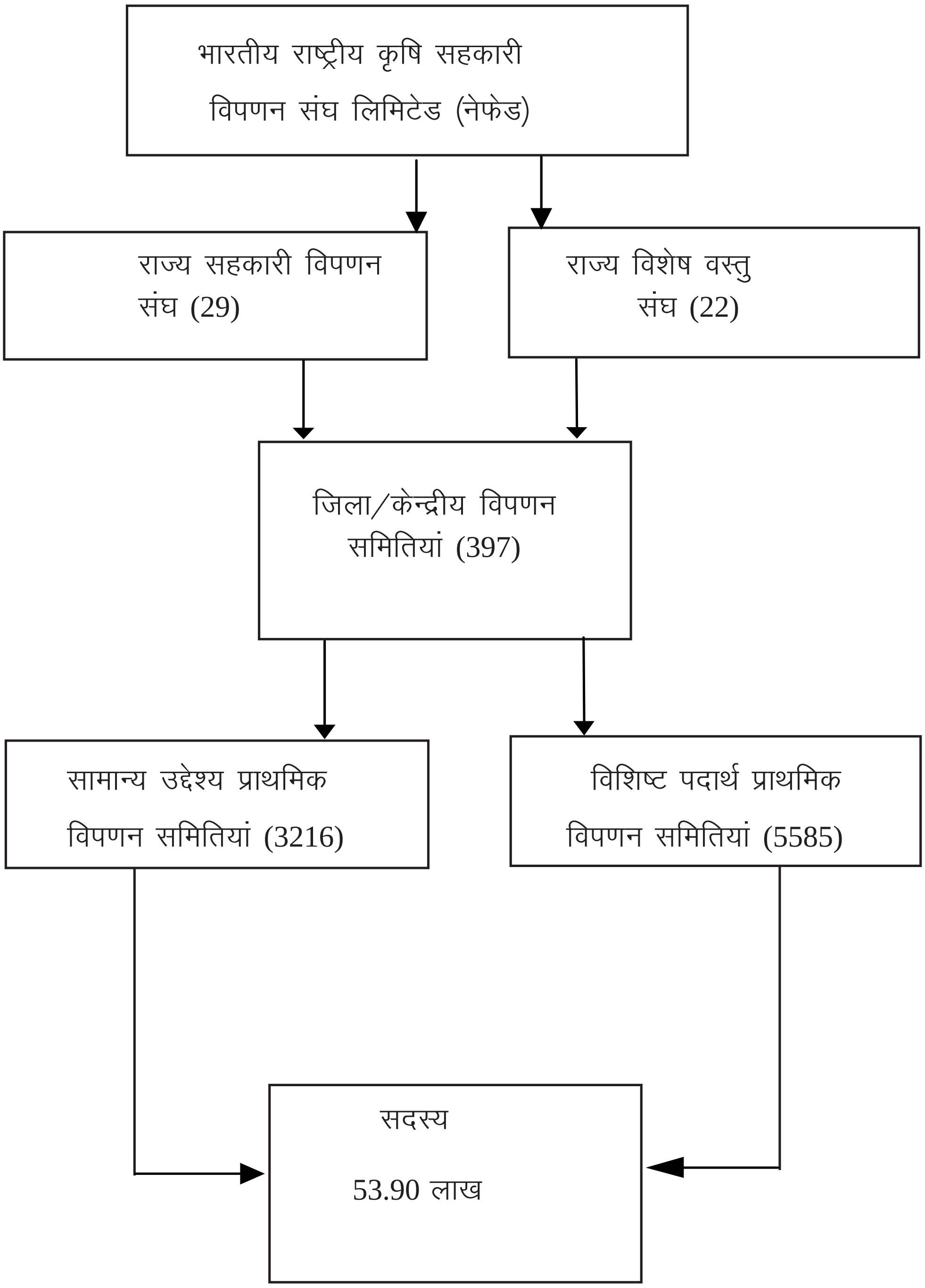

चित्र 16.1 : कृषि विपणन समितियों का ढांचा

दस राज्यों में, जहां जनजातीय लोगों की जनसंख्या अधिक है, उपलब्ध छोटे-छोटे (गौण) वनोत्पादन प्राथमिक स्तर पर दीर्घाकार कृषिक बहु-उद्देशीय सहकारी संस्थाएं (LAMPS) द्वारा और राज्य स्तर पर जनजातीय विकास सहकारी निगमों/संघों द्वारा बाजार में लायें जाते है। (दि ट्रायबल कोआपरेटिव सोसायटीज मार्केटिंग डवलपमेंट फेडरेशन ऑफ इंडिया लिमिटेड - TRIFED) एक राष्ट्रीय स्तर की संस्था है जो जनजातीय सहकारी समितियों को गौण वनोत्पादों के विपणन में सहायता प्रदान करती है। वर्ष 1996-97 में ट्रिफेड (TRIFED) ने 132 करोड़ रुपए का व्यापार किया जिसमें निर्यातित अंश 22 करोड़ रुपए का था। जनजातीय सहकारी समितियों के ढांचे को चित्र 16.2 में दिखाया गया है।

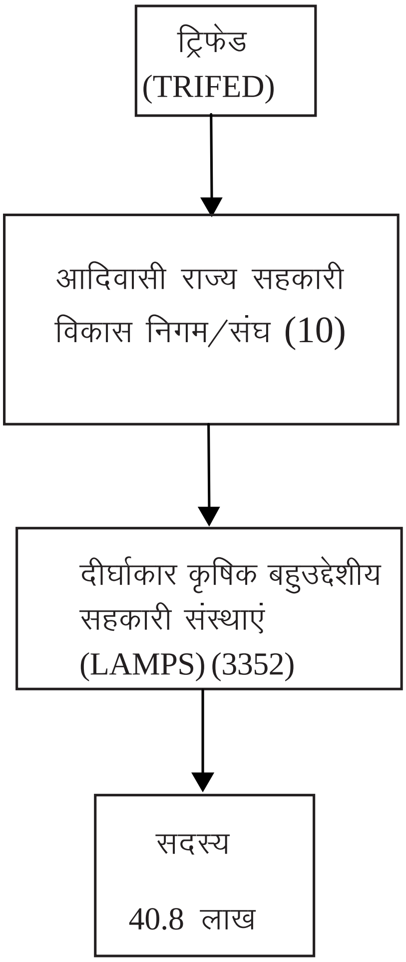

चित्र 16.2 : जनजातीय सहकारी समितियों का ढांचा

16.7.1 प्राथमिक विपणन समितियां

प्राथमिक विपणन समितियां (PMS) निम्न कार्यकलापों को निष्पादित करती हैं–

क) कृषि उत्पाद को एकत्रित करके, उसका श्रेणीकरण तथा पैकिंग, परिवहन और भण्डारण, आदि कार्यों के द्वारा उसकी बिक्री का प्रबंधन करना

ख) उत्पाद की प्रतिभूति (Pledging) पर सदस्यों को कर्ज दिलाना

ग) कृषि उत्पाद की प्राप्ति का प्रबंध करना, कीमत समर्थन और बाजार हस्तक्षेप योजना को क्रियान्वित करना और सरकार के एजेंट के रूप में कार्य करना

घ) कृषि उत्पाद के प्रक्रमण से संबंधित कार्य करना

ड.) सदस्यों से उत्पादन ऋण की वसूली के लिए एजेंट के तौर पर कार्य करना

च) उर्वरक और अन्य कृषि आदानों का वितरण।

16.7.2 जिला विपणन समितियां

ये समितियां उन राज्यों में स्थित हैं जहां विपणन ढांचा त्रि–स्तरीय है। इन समितियों का संगठन इसलिए बनाया गया ताकि वे प्राथमिक विपणन समितियों (PMS) के कार्यकलापों का समन्वयन कृषि उत्पाद के विपणन के लिए तथा कृषि उत्पाद के वितरण और उपभोक्ता की आवश्यकतानुरूप वस्तुओं के लिए कर सकें। इन समितियों का कार्य आवश्यकतानुरूप प्रक्रमण का कार्य तथा जिला स्तर पर व्यापार को भी निष्पादित करना है। लेकिन वस्तुतः ये समितियां कृषि उत्पाद और उपभोक्ता के लिए आवश्यक सामग्री के वितरण में ही कार्य कर रही है।

16.7.3 राज्य विपणन संघ

राज्य सहकारी विपणन समितियों के प्राथमिक विपणन समितियों के विकास में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इन संघों का आयोजन इनसे संबद्ध समितियों की ओर से, विशेषकर उनके कृषि उत्पाद के अंतर्राज्यीय व्यापार तथा निर्यात के कार्य को परिचालित करने के लिए होता है। ये संघ कृषि उत्पाद और उपभोक्ता की वस्तुओं की उपलब्धि का भी प्रबंध करते हैं। राज्य संघों द्वारा विशेष रूप से किए जाने वाले कार्य निम्न प्रकार हैं –

क) कृषि उत्पाद का विपणन और प्रक्रमण

ख) उन्नत उपकरणों, उर्वरक और अन्य कृषि आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति

ग) विपणन में सदस्य समितियों का समन्वयन

घ) नेफेड की एक ऐजेंसी के रूप में कीमत समर्थन योजना और बाजार हस्तक्षेप योजना को कार्य रूप देना

ड.) किसानों को उनके उत्पाद की लाभकारी कीमत प्रदान करना।

16.7.4 भारतीय राष्ट्रीय कृषि सहकारी विपणन संघ लिमिटेड (नेफेड)

यह सहकारी विपणन समितियों की राष्ट्रीय स्तर की शीर्ष संस्था है। इसका मुख्य कार्य राज्य संघों की गतिविधियों और उनके क्रिया-कलापों का समन्वय करना है। साथ ही उनको विपणन, प्रक्रमण, अंतर्राज्यीय व्यापार, निर्यात, बाजार और कीमतों की दिशाएं, व्यापार की तकनीक आदि से संबंधित निपुण सलाह और तकनीकी मार्गदर्शन देना है। कुछ विशेष कार्य निम्नलिखित हैं –

क) देश में कृषि उत्पाद का विपणन और निर्यात

ख) कृषि उत्पाद का भण्डारण और प्रक्रमण

ग) स्वदेशी व्यापार को बढ़ाने में सदस्य समितियों का समन्वयन

घ) प्याज, नाइजर सीड्स की निर्यात ऐजेंसी और दालों, मक्का, प्याज आदि के आयात के लिए निगरानी ऐजेंसी को निर्धारित करना

ड.) कीमत समर्थन योजना और बाजार हस्तक्षेप योजनाओं के लिए भारत सरकार की मुख्य ऐजेंसी के रूप में कार्य करना

च) कृषि मशीनें, उपकरण और जीव-उर्वरक का उत्पादन और उनका विपणन

छ) कृषि उत्पादों में उपभोक्ता कीमत की स्थिरता के लिए अंतर्राज्यीय व्यापार करना।

16.7.5 सहकारी विपणन ढांचे की समस्याएं

यद्यपि समितियों द्वारा कृषि उत्पाद के विपणन क्षेत्र में साल दर साल नियमित व द्धि रिकार्ड की गई है तथापि जो ढांचा है उसमें कितनी ही कमियां हैं जो कि निम्न प्रकार हैं –

क) ढांचे में अग्रगामी और पश्चगामी अनुबंधों का न होना

ख) अधिकतर विपणन समितियां विपणन गतिविधियों के बजाय मुख्य रूप से आपूर्ति से संबंधित गतिविधियों/कार्यों में संलग्न है।

ग) कुछ ही समितियां हैं जो सीधे तौर पर खरीद का काम कर रही है और एकत्रीकरण (पूलिंग) के द्वारा किसानों के उत्पाद को बेच रही है।

घ) सहकारी विपणन समितियां कमीशन के आधार पर किसानों के उत्पाद को अपने हाथ में लेकर कृषि उत्पाद का विपणन कर रही है।

ड.) बहुत कम समितियां प्रतिभूति के रूप में कृषि उत्पादन को स्वीकार कर वित्तीय सहायता दे रही है।

च) विपणन समितियों की वित्तीय स्थिति कमजोर है और वे व्यापारिक गतिविधियों के लिए आवश्यक पूंजी जुटाने में असमर्थ है।

छ) विपणन समितियां अपने आप को कम जोखिम वाली व्यापारिक गतिविधियों में लगाए रखती हैं जिसके कारण लंबी अवधि की सापेक्ष महत्त्व की योजना को क्रियान्वित नहीं किया जाता।

ज) बहुत सी विपणन समितियां अपने स्तर पर मैनेजर जैसे पद वाले कर्मचारी नियुक्त करने में असफल रही हैं। इसके बजाय इन समितियों में विभागीय अधिकारी मैनेजर के रूप में कार्य करते हैं जो विपणन कार्य को गंभीरता से नहीं लेते।

16.7.6 समग्र द ष्टिकोण की आवश्यकता

सहकारी विपणन ढांचे को गैर-सरकारी व्यापार से जो मजबूती से अपने व्यवसाय में अच्छी तरह डूबा हुआ है, मुकाबला करने की आवश्यकता है। सहकारी ढांचे के लिए एकीकृत और सामूहिक रूप से विभिन्न गतिविधियों में कदम उठाना बहुत आवश्यक है। ऐसा संगठन या एकीकरण तब संभव है जब निम्नलिखित सिद्धांतों को सभी स्तर पर सभी संबंधित लोगों द्वारा अच्छी प्रकार पहचाना और स्वीकृत किया जाए :

क) विभिन्न स्तरों पर विकृत स्पर्द्धा और गतिविधियों तथा क्रियाकलापों की आव त्ति की वर्जना की जाए।

ख) उच्च स्तरीय संगठनों को हमेशा निम्न स्तर की संस्थाओं के लाभ और विकास के लिए कार्य करना चाहिए और उनके साथ किसी प्रकार की स्पर्द्धा नहीं रखनी चाहिए।

ग) बहुत सारी गतिविधियां एक साथ नहीं की जानी चाहिए। विभिन्न क्षेत्रों में धीरे-धीरे विकेन्द्रीकरण तथा विशिष्टीकरण उद्देश्य होना चाहिए।

बोध प्रश्न 3

1) नेफेड के प्रमुख कार्य कौन-से हैं?

....

....

....

....

....

....

....

....

2) सहकारी विपणन की समस्याएं क्या हैं?

....

....

....

....

....

3) प्राथमिक विपणन समितियों के कार्यों की विवेचना कीजिए।

....

....

....

....

....

4) भारत में सहकारी विपणन के ढांचे को स्पष्ट रूप से समझाएं।

....

....

....

....

....

16.8 कृषि विपणन के विकास के लिए सरकारी प्रयत्न

कृषि और उद्यान उत्पाद वस्तुओं के लिए उत्पादकों को लाभकारी कीमतें उपलब्ध कराने के उद्देश्य से, केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें बाजार के विनियमित रूप से कार्य करने के लिए और भ्रष्टाचार रोकने के लिए कई कदम उठा रही हैं। इनमें से एक कदम है सहकारी विपणन समितियाँ/संघों की स्थापना को प्रोत्साहित करना और उनकी सहायता करना। इस संबंध में विस्तार से पहले ही बताया गया है। दूसरे जो कदम हैं वे हैं – (i) नियमित बाजारों की स्थापना, (ii) अग्रिम व्यापार, (iii) भंडारण और मालगोदाम सुविधाओं की स्थापना, और (iv) कीमत समर्थन और बाजार हस्तक्षेप योजनाओं का क्रियान्वयन। हम पहले तीन विषयों से संबंधित बातों की विवेचना करेंगे जबकि चौथे विषय पर हम इकाई 19 में विचार करेंगे।

सरकार विभिन्न आवश्यक नियमों के द्वारा बाजार की गतिविधियों पर नजर रखती है तथा साथ ही उसका परिवीक्षण करती है। भारतीय कृषि उत्पाद-वस्तुओं के लिए जो विनियमात्मक रूपरेखा है वह विशिष्ट है और उसमें मानकों के दो सुस्पष्ट वर्ग हैं। इनमें से एक प्राथमिक बाजार का विकास और उसका नियमन है जिन्हें प्रचलित रूप से ''नियमित बाजार'' कहते हैं और दूसरा अनेकों कानूनी साधनों के द्वारा बाजार को नियमित करना।

16.9 नियमित बाजार

कृषि उत्पाद के विपणन के पारंपरिक तरीके के अंतर्गत उत्पादकों-विक्रयकर्ताओं को काफी बड़ी विपणन लागत चुकानी पड़ती है और उन्हें विपणन में कितनी ही अनधिकृत कटौतियों के साथ-साथ व्यापक रूप से फैले भ्रष्टाचार का भी सामना करना पड़ता है। सही और नियमित विपणन के लिए विपणन के क्षेत्र में काफी सुधारों की आवश्यकता है, ताकि, स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धात्मक स्थितियां पैदा हों और उत्पादकों-विक्रेताओं को सही सौदेबाजी करने की शक्ति पैदा हो। बाजार ऊपर जनता के नियंत्रण के कारण, अर्थात देश में नियमित बाजार की स्थापना के बाद, बहुत सारी कमियां और भ्रष्टाचार जो कृषि उत्पादन के पारंपरिक रूप में बाजार को चलाने में व्याप्त थीं, काफी हद तक दूर हो गई हैं।

नियमित बाजार की स्थापना का अर्थ किसी नई वैकल्पिक विपणन प्रणाली को चालू करने का नहीं है। वस्तुतः जो आधारभूत उद्देश्य है वह यह है कि सफल गैर-सरकारी व्यापार के लिए स्वतंत्र और अनौपचारिक प्रतिस्पर्द्धात्मक सहूलियतों को प्रदान करते हुए नई शर्तें पैदा की जा सके। नियमित बाजार में किसान अपने अतिरिक्त उत्पाद को खुले और प्रतिस्पर्द्धात्मक तौर पर बहुत सारे खरीदारों के बीच बेच सकता है। नियमित बाजार की स्थापना के कानून के अंतर्गत यह आवश्यक नहीं है कि किसान अपने उत्पाद को नियमित बाजार की सीमा-रेखाओं के अंदर ही बेचे। वस्तुतः किसान अपनी इच्छानुसार और अपने लाभ के लिए बेचने के लिए स्वतंत्र है। नियमित बाजार की स्थापना के पीछे जो आधारभूत दर्शन है वह व्यवस्था में भ्रष्टाचार को दूर करना है और बाजार को चलाने में किसान और उसके प्रतिनिधियों को शक्ति प्रदान करना है।

16.9.1 नियमित बाजार के उद्देश्य

नियमित बाजार के विशिष्ट उद्देश्य हैं –

i) किसानों को अपने उत्पाद के विपणन में जो दिक्कतें तथा कमियां हैं उन्हें दूर करना तथा उनको शोषण से बचाना।

ii) किसानों को ऐसी कीमतें प्राप्त हों जिससे उन्हें स्तरीय और आवश्यकतानुरूप उत्पाद को पैदा करते में प्रेरणा और प्रोत्साहन मिले।

iii) किसानों को ऐसी कीमतें प्राप्त हों जिससे उन्हें स्तरीय और आवश्यकतानुरूप उत्पाद को पैदा करते में प्रेरणा और प्रोत्साहन मिले।

iv) आवश्यक सहूलियतों को प्रदान कर कृषि उत्पाद के विनियमित बाजार को बढ़ावा।

16.9.2 बाजार नियमन में प्रगति

यद्यपि नियमित बाजार की स्थापना वर्ष 1930 में प्रारंभ की गई थी, लेकिन इस कार्यक्रम को स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही सही गति मिली। पहली पंचवर्षीय योजना के शुरू होने से पहले नियमित बाजार की संख्या 236 थी। लेकिन यह संख्या बढ़कर मार्च 1961 में 715, अप्रैल 1986 में 5,776 और मार्च 1996 में 6968 हो गई। वर्तमान में थोक बाजारों का प्रतिशत 98.5 है जो नियमित व्यवस्था के अंतर्गत कार्य कर रहे हैं (तालिका 16.1)।

नियमन के अंतर्गत उत्पाद वस्तुओं की संख्या राज्य-दर-राज्य अलग-अलग हैं, लेकिन खाद्यान्न, तिलहन, रेशेदार फसल, व्यावसायिक फसल, फल और सब्जियां, जंगली उत्पाद और पशुधन जैसी मुख्य कृषि उत्पाद वस्तुएं सभी राज्यों में समान हैं। नियमित बाजार में जहां तक आवश्यक उपादानों और सुविधाओं का प्रश्न है उसमें विभिन्न राज्यों में काफी अंतर है। बहुत से बाजारों में आवश्यकतानुरूप सुविधाओं की कमी है।

तालिका 16.1 : भारत में बाजार नियमों में प्रगति

वर्ष समाप्ति	विनियमित बाजार की संख्या	कुल क्षेत्र बाजार में विनियमित बाजार का प्रतिशत (7077)
मार्च 1951	236	3.33
मार्च 1956	470	6.64
मार्च 1961	715	10.10
मार्च 1966	1012	14.30
मार्च 19761	3528	49.85
मार्च 1980	4446	62.82
मार्च 1986	5766	81.48
मार्च 1991	6640	93.83
मार्च 1996	6968	98.46

16.9.3 नियमित बाजार की मुख्य विशेषताएं

कृषि उत्पाद बाजार अधिनियम के प्रावधानों के अंतर्गत, राज्य सरकार किसी विशेष क्षेत्र को नियमन के अंतर्गत लाने के लिए अपने निश्चय की अधिसूचना देती है और इसके लिए मुख्य विनियमित बाजार के नियमों के अंदर किसी विशेष बाजार का क्षेत्र, बाजार का विशेष हिस्सा, मुख्य बाजार और उसका छोटा हिस्सा आदि के लिए विज्ञप्ति जारी करती है। बाजार के ये विभागों का अर्थ है :

i) *बाजार क्षेत्र :* वह क्षेत्र जहां से उत्पाद स्वाभाविक रूप से और अधिक मात्रा में व्यावसायिक केन्द्र अर्थात बाजार को पहुंचता है और जिसके कारण बहुतायत रूप में व्यापार होता है और बाजार समिति को आय मिलती है।

ii) *मुख्य समुच्चय बाजार :* यह मुख्य बाजार होता है जिसे कार्य संपादन और बाजार समिति के लिए आय का साधन जुटाने के आधार पर एक प्रमुख बाड़े या प्रांगण के रूप में जाना जाता है।

iii) *बाजार बाड़ा :* यह बाजार क्षेत्र का एक सुनिश्चित हिस्सा होता है जहां विशेष कृषि उत्पाद-वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है।

iv) *उप बाजार बाड़ा :* यह प्रमुख समुच्चय बाजार का उप-बाड़ा होता है। यह एक प्रकार का छोटा बाजार होता है और जहां आमदनी अधिक नहीं होती।

नियमित बाजार में, (क) उत्पाद की बिक्री आमतौर पर खुली नीलामी या बंद निविदा तरीके से की जाती है; (ख) उत्पाद का तौल अधिकृत तौल उपकरणों से की जाती है; (ग) आमतौर पर उत्पाद की नीलामी सफाई और/या श्रेणीकरण करके की जाती है; (घ) बाजार से संबंधित सूचनाएं सही ढंग से प्रचारित की जाती हैं; (ङ.) बाजार के प्रभार सुस्पष्ट रूप से उल्लिखित होते हैं; (च) खरीदार द्वारा विक्रेता को पैसे की अदायगी निश्चित समय सीमा के अंदर की जाती है; और (छ) सभी पदाधिकारियों/कार्यकर्त्ताओं को अनुज्ञापत्र (लाइसेंस) लेना अनिवार्य होता है।

नियमित बाजार के रोजाना कार्यों पर बाजार समिति, जैसे, सचिव, नीलामी क्लर्क और अन्य कार्यकर्त्ताओं द्वारा निगरानी की जाती है। प्रशासनिक निर्णय बाजार समिति के नामित/चुने हुए लोगों द्वारा लिए जाते हैं। बाजार समिति में सभी क्षेत्रों/विभागों के प्रतिनिधि शामिल होते हैं, जैसे किसान, व्यापारी, सहकारी विपणन समितियां, सहकारी या व्यापारिक बैंक, स्वायत्त संस्थाएं (क्षेत्र की पंचायत समिति और नगर निगम बोर्ड) और सरकारी अधिकारी। नियमित बाजार की स्थापना से पूर्व, बाजार के व्यापार को संचालित करने के लिए जो नियम कानून थे वे किसानों और उपभोक्ताओं के हितों की अनदेखी कर व्यापारियों द्वारा ही बनाए गए थे।

उत्पादक-विक्रेताओं और व्यापारियों के बीच उत्पाद की किस्म, लेन-देन और अनधिकृत रूप से लगाई गई कटौतियों से संबंधित जो झगड़े होते हैं, उन्हें बाजार समिति की उप-समितियों द्वारा सुलझाया जाता है। इससे वैधानिक परेशानियों का निदान और अनावश्यक खर्चे की बचत होती है। नियमों को लागू किए जाने से पहले, ऐसी कोई सुविधा नहीं थी। यदि एक किसान संतुष्ट नहीं होता था तो उसे अपना उचित पैसा लेने के लिए अदालत की शरण में जाना होता था जिसके कारण काफी खर्च और समय की बरबादी होती थी।

नियमित बाजार ने उत्पाद-विक्रेताओं में काफी हद तक जाग ति ला दी है। इस जाग ति से वे कितने ही भ्रष्टाचारों से स्वयं को बचाने में सफल हुए हैं (जो इससे पहले अविनियमित बाजार में व्याप्त थे)। अब उत्पाद को बेचने की पर्ची किसानों को दी जाती है जिसमें बेचे गए उत्पाद की मात्रा, रेट और कटौती आदि दिखाई गई होती है। विक्रय-पर्ची की एक प्रति निरीक्षण के लिए बाजार समिति को भी दी जाती है। बोली लगाने वालों द्वारा किए जाने वाले संबंधित भ्रष्टाचार को भी रोक दिया गया है।

बाजार समिति किसान-विक्रेताओं के उत्पाद के सही और प्रभावी विपणन के लिए आवश्यक सुविधाएं प्रदान करती है। इन सुविधाओं के कारण किसानों को अपना उत्पाद विनियमित बाजार में बेचने के लिए प्रोत्साहन मिलता है और वे आसानी से अपने उत्पाद को स्थानीय बाजार में भी बेच पाते हैं। किसी एक या दूसरे कारण के लिए शहरी बाजार में ही उत्पाद बेचने की दिशा में भी रोक लगती है।

बाजार समिति द्वारा दी जाने वाली विभिन्न सुविधाएं हैं –

i) क्षेत्र में जोड़ने वाली सड़कें तथा पुल

ii) लंबा-चौड़ा बाजार बाड़ा और/या उप-बाड़ा

iii) विश्राम ग ह, पशुशालाएं और पानी की नालियां

iv) प्रकाश व्यवस्था, पीने का पानी, चौकीदार और बाजार बाड़े में बैल गाड़ियों आदि के लिए स्थान

v) अन्य बुनियादी सुविधाएं जैसे बैंक, कैंटीन और डाकघर

ये सुविधाएं बाजार समिति की वित्तीय स्थिति पर आधारित होने के कारण विभिन्न राज्यों और बाजारों में अलग-अलग स्तरों तक ही उपलब्ध हो पा रही हैं।

16.9.4 अन्य विनियमित मानदंड

जहां प्राथमिक बाजार विभिन्न राज्यों के कृषि उत्पाद बाजार अधिनियम के अंतर्गत संचालित होते हैं, वहीं अन्य गतिविधियां केन्द्र के द्वारा जारी की गई वैधानिक नियमों के अंतर्गत संचालित होते हैं। ये निम्नलिखित हैं –

- कृषि उत्पाद (श्रेणीकरण और अंकन) अधिनियम 1937, 1986
- खाद्यान्न मिलावट रोक अधिनियम 1954, 1964, 1976, 1986
- अतिआवश्यक खाद्यान्न वस्तुओं का अधिनियम 1955
- शोधक्षम निष्कर्षित तेल/तेल-रहित भोजन और खाने योग्य तेल (कंट्रोल) आर्डर, 1955
- वानस्पतिक तेल उत्पाद (कंट्रोल) ऑर्डर 1967
- मांसल भोज्य पदार्थ आर्डर, 1973
- तौल और मापन के मानदंड का अधिनियम 1976
- दालें, भोज्य तिलहन और भोज्य तेल (स्टोरेज कंट्रोल) आर्डर 1977
- काला बाजार और आवश्यक खाद्यान्न वस्तुओं की आपूर्ति की रोक से संबंधित अधिनियम 1980
- कोल्ड स्टोरेज आर्डर 1964, 1980 (1997 में निरस्त)
- उपभोक्ता संरक्षण एक्ट, 1986
- भारतीय मानक विभाग अधिनियम 1986
- दूध और दूध उत्पाद आर्डर, 1992
- फल उत्पाद आर्डर 1955, 1997

वैधानिक नियमों के अंतर्गत जो प्रावधान हैं, उन्हें व्यापारिक गतिविधियों के लिए तथा व्यापार से संबंधित प्रक्रमणों के लिए, भंडारण के लिए, विशेषता को बनाए रखने के लिए, श्रेणीकरण, पैकिंग, प्रक्रमण आदि के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं। ये प्रावधान विभिन्न मंत्रालयों और विभागों द्वारा लागू किया जाता है।

16.10 भण्डारण

भंडारण विपणन का एक मुख्य प्रकार्य है जिसके अंतर्गत किसी भी उत्पाद को उपभोक्ता द्वारा प्रयोग किए जाने से पूर्व अच्छी प्रकार संभाल कर रखा जाता हैं। भंडारण प्रकार्य मानव सभ्यता जितना ही पुराना है और इसे विपणन के प्रत्येक स्तर पर संपन्न किया जाता है। लेकिन पारंपरिक भंडारण तरीकों में उत्पाद की काफी बरबादी होती है। भंडारण हानि 3 से 5 प्रतिशत तक हो सकती है और इस बात पर निर्भर करता है कि किस प्रकार का भंडारण ढांचा प्रयोग में लाया गया है। भंडारण के दौरान उत्पाद का नुकसान चूहों, कीड़ों, अन्य जीवों तथा अनाज में नमी आ जाने के कारण तथा साथ ही भंडारण ढांचे के कारण होता है। इस परिहार्य हानि को कम करने के उद्देश्य से वैज्ञानिक भंडारण की आवश्यकता है ताकि इस राष्ट्रीय हानि को रोका जा सके।

16.10.1 भण्डारण के कार्य

वैज्ञानिक ढंग के गोदाम उत्पाद की किस्म और मात्रा को सही ढंग से रखने के लिए विशेष रूप से निर्मित किये जाते हैं। गोदामों में रखे उत्पाद को कीड़ों, अन्य जीवों और आर्द्रता से बचाया जाता है।

भारत में गोदामों के इतिहास को 1928 में शाही क षि आयोग की सिफारिशों के रूप में ढूंढा जा सकता है। तत्पश्चात बहुत सी समितियों और आयोगों ने भारत में गोदामों की आवश्यकता पर बल दिया। भारत सरकार ने इस संबंध में वैधानिक तरीके अपनाए और केन्द्रीय और राज्य गोदाम निगमों की स्थापना की।

भारत में गोदामों की योजना वैज्ञानिक भंडारण, ग्रामीण जमा, कीमत के स्थायित्व और बाजार की जानकारी आदि की एकीकृत योजना है और इसके द्वारा सहकारी संस्थाओं के प्रयत्नों में सहायता मिलती है।

सार्वजनिक क्षेत्र के गोदामों की उपयोग क्षमता 85 से 96 प्रतिशत तक आंकी गई जिसका सबसे अधिक प्रयोग सार्वजनिक ऐजेन्सी या व्यापारियों द्वारा किया जाता है। अध्ययनों से पता चला है कि केन्द्रीय गोदाम निगमों (Central warehouse corporation) की लगभग 30 प्रतिशत गोदाम क्षमता और राज्य गोदाम निगमों की 6 प्रतिशत गोदाम क्षमता का उपयोग किसानों या उनके सहकारियों द्वारा किया जाता है। खाद्यान्न, चीनी और उर्वरक द्वारा देश में भंडारण क्षमता का उपयोग 78 प्रतिशत है। गोदामों के निर्माण और उनकी देख-रेख में लगाए गए निवेश से देश में काफी हद तक खाद्यान्न और अन्य वस्तुओं के नुकसान को रोका गया है। इस द ष्टि से गोदामों को यदि राष्ट्रीय संपत्ति का रक्षक कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

केन्द्रीय गोदाम निगमों, राज्य गोदाम निगमों, भारतीय खाद्यान्न निगम और सहकारी संस्थाओं द्वारा बनाए गए बड़े–बड़े गोदामों के अलावा, गांवों में छोट–छोटे भंडारण भवनों के निर्माण की आवश्यकता भी महसूस की गई ताकि किसान अपने उत्पाद को बाजार में बेचने से पहले उसका ठीक ढंग से भंडारण कर सकें। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए, सरकार ने 1979 में नेशनल ग्रिड ऑफ रूरल गोडाउ्नस की स्थापना की योजना को शुरू किया। इन गोदामों की भंडारण क्षमता लगभग 120 लाख टन है। इन गोदामों का उपयोग उर्वरक और अन्य खाद्यान्न आदि गांवों में बेचने के लिए सुरक्षित रखने में किया जाता है। फिर भी गोदामों और भंडारण के स्वरूप को सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में फैलाने और उसे मजबूत करने की काफी गुंजाइश है।

16.10.2 मालगोदाम सुविधाओं का उपयोग

योग्यता : कोई भी व्यक्ति निश्चित शुल्क अदा करने के बाद किसी गोदाम में अधिसूचित वस्तुओं का भंडारण कर सकता है।

गोदाम रसीद वारंट : यह रसीद/वारंट गोदाम मैनेजर/मालिक द्वारा गोदाम में अपने उत्पाद के भंडारण के लिए किसी व्यक्ति को दी जाती हैं । इस रसीद में नाम, गोदाम का स्थान, जारी की गई तिथि, सामान का विवरण, उसकी श्रेणी या किस्म, भार और वर्तमान कीमत के आधार पर उत्पाद का अनुमानित मूल्य आदि का विवरण लिखा होता है। गोदाम वारंट का विनिमय हो सकता है और एक साधारण से अनुमोदन के द्वारा हस्तांतरित किया जा सकता है। जमाकर्त्ता द्वारा इस वारंट के जरिए भंडारण किए गए सामान का कोई भी भाग निकाला जा सकता है। कभी-कभी वारंट अहस्तांतरणीय भी होता है।

रसायन का प्रयोग : गोदामों में जो उत्पाद ग्रहण किया जाता है उसे वैज्ञानिक तरीके से संभाल कर रखा जाता है ताकि कीड़े तथा अन्य जीवों से बचाया जा सके। समय-समय पर गोदाम के खर्चे पर झाड़-पोंछ भी की जाती है ताकि उत्पाद सही हालत में रहे।

वित्त व्यवस्था : गोदाम रसीद ऋण लेने के लिए एक ऋणाधार के रूप में भी काम आती है। व्यावसायिक बैंक गोदाम में रखे हुए उत्पाद की कीमत का 75 प्रतिशत ऋण दे देते हैं।

उत्पाद की माल छुड़ाई : भंडारण किए गए सामान को छुड़ाने के लिए गोदाम मालिक को गोदाम की रसीद सौंपनी होती है। भंडारण शुल्क देकर कुल उत्पाद का कुछ हिस्सा भी गोदाम से छुड़ाया जा सकता है।

16.10.3 भाण्डागार को चलाने के लिए अनुज्ञा-पत्र

मालगोदामों को चलाने के लिए अनुज्ञा-पत्र जारी करने से संबंधित अधिनियम के मुख्य प्रावधान हैं :

i) कोई भी व्यक्ति, कोई कंपनी, संघ या निगम संस्था मालगोदाम के व्यवसाय को चलाने के लिए राज्य सरकार से अनुज्ञा-पत्र के लिए आवेदन कर सकते हैं।

ii) सरकार मालगोदाम का भवन और आवेदन-कर्त्ता की वित्तीय स्थिति के निरीक्षण करने के बाद और निर्धारित शुल्क वसूलने के बाद अनुज्ञा-पत्र प्रदान करती है।

iii) अनुज्ञा-पत्र का निर्धारित शुल्क देने के बाद समय-समय पर नवीनीकरण किया जाना चाहिए।

iv) गोदाम मालिक को अपने गोदाम में अधिसूचित सामान को भंडारण के लिए लेने का अधिकार है जिसके लिए वह एक निर्धारित फार्म में रसीद देता है।

v) गोदाम मालिक की जिम्मेदारी है कि वह गोदाम को साफ-सुथरा रखे, गोदाम में माल को अलग-अलग ढंग से रखे और सभी ऐसे काम करे जिससे चोरी न हो और सामान का कोई नुकसान न हो और उसे संभाल कर रखा जाए।

मार्च 1996 के अंत तक देश में 180.40 लाख टन की भंडारण क्षमता वाले 1829 मालगोदाम थे। केन्द्रीय गोदाम निगमों और राज्य गोदाम निगमों द्वारा संचालित मालगोदामों के अलावा भारतीय खाद्य निगम ने 160.80 लाख टन की भंडारण क्षमता वाले मालगोदामों को स्थापित किया है। सहकारी संस्थाओं ने भी 130.36 लाख टन की भंडारण क्षमता वाले मालगोदामों का निर्माण किया है।

मालगोदामों को सार्वजनिक क्षेत्रों में भी निर्मित किया जा सकता है जिन्हें वर्तमान कानूनों के प्रावधानों के अंतर्गत अनुज्ञा-पत्र दिए जाते हैं। जिस सामान का भंडारण किया गया है, उसके आधार पर मालगोदामों का वर्गीकरण किया जाता है, जैसे – साधारण मालगोदाम, विशेष मालगोदाम या प्रशीतक (रेफिरीजरेटेड) मालगोदाम।

16.11 अग्रिम व्यापार

कृषि उत्पाद के अग्रिम व्यापार (forward trading) में अरूचिकर आचरणों की रोकथाम के लिए (जो अन्ततः प्राथमिक और माध्यमिक बाजार में कीमतों में असर डालते हैं), 1952 में केन्द्रीय सरकार द्वारा अग्रिम अनुबंध (नियमन) अधिनियम पास किया गया। इस अधिनियम के अंतर्गत एक अग्रिम बाजार आयोग स्थापित किया गया है जिसके कार्य अर्ध-न्यायिक और प्रशासकीय होते हैं। ये कार्य हैं –

क) किसी विशेष माल के अग्रिम बाजार का अध्ययन यह निर्धारित करने के लिए करना कि क्या बाजार को अधिनियम के विनियमित प्रावधानों के अंतर्गत लाया जाना चाहिए।

ख) अग्रिम व्यापार के संचालन के लिए मान्यता हेतु संस्थाओं की मांग का निरीक्षण।

ग) मान्यता प्राप्त संस्थाओं का निरीक्षण और पर्यवेक्षण।

घ) तथ्यपरक आंकड़े इकट्ठा करना और

ड.) विभिन्न अग्रिम बाजारों का पर्यवेक्षण।

16.11.1 मूल्य समर्थन योजना

किसानों को कृषि उत्पाद की बिक्री से संबंधित परेशानियों से बचाने के लिए भारत सरकार ने कृषि लागत और मूल्य आयोग की स्थापना की है। यह आयोग उत्पादन पर होने वाले व्यय का आकलन करके खाद्यान्न, तिलहन और दालों का न्यूनतम समर्थन मूल्य निश्चित करता है। केन्द्रीय सरकार द्वारा निश्चित किए गए न्यूनतम समर्थन मूल्य के नीचे जब उत्पादों का बाजार मूल्य गिरने लगता है तो उस दशा में भारतीय खाद्य निगम बाजार से खाद्यान्नों और दालों की खरीद करता है। तिलहनों और उन वस्तुओं के मामले में जो भारतीय खाद्य निगम द्वारा अधिप्राप्त नहीं किए जाते हैं, नेफेड को अधिप्राप्ति करने के लिए कहा जाता है। इस में यदि नेफेड को नुकसान होता है तो उसकी भरपाई भारत सरकार करती है।

16.11.2 बाजार हस्तक्षेप योजना

जल्दी नष्ट होने वाले कृषि और उद्यान उत्पादों (जैसे फल और सब्जियों) के मामले में, उत्पादक प्रायः अच्छी फसल होने की दशा में भारी नुकसान को सहते हैं। उन्हें कीमतों के गिरने से और मजबूरी में बिक्री से बचाने के लिए बाजार हस्तक्षेप योजना को लागू किया गया है। इस योजना को संबंधित राज्य सरकार की प्रार्थना पर लागू किया जाता है। किसी विशेष समय सीमा में पूर्व निर्धारित मूल्य के आधार पर इन वस्तुओं को भारत सरकार के ऐजेंट के रूप में नेफेड द्वारा और राज्य अधिकृत ऐजेंसी द्वारा 50 : 50 के आधार पर मिलकर अधिप्राप्त किया जाता है। इस कार्य के संपन्न होने के बाद लाभ या हानि को 50 : 50 के आधार पर भारत और राज्य सरकारों द्वारा परस्पर बांट लिया जाता है।

अतीत में इस योजना को हिमाचल प्रदेश, जम्मू कश्मीर, उत्तर प्रदेश, उत्तर पूर्वी राज्यों, आंध्र प्रदेश, राजस्थान और कर्नाटक राज्यों में सेब, अनानास, अदरक, आलू, मिर्च, धनिया, अंगूर, संतरे आदि वस्तुओं के मामले में लागू किया गया।

बोध प्रश्न 4

1) नियमित बाजार में बाजार समिति की क्या भूमिका है?

....

....

....

....

....

2) मालगोदाम मालिकों द्वारा किसानों और व्यापारियों को कौन-सी सुविधाएं प्रदान की जाती हैं?

....

....

....

....

3) कृषि विपणन के सुधार के लिए केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा कौन से प्रयत्न शुरू किए गए हैं?

....

....

....

....

....

....

4) भारत सरकार द्वारा शुरू की गई बाजार हस्तक्षेप योजना के बारे में बताएं।

....

....

....

....

....

....

16.12 सारांश

विपणन में एकत्रीकरण, परिवहन, स्तरीकरण, मानकीकरण, समूहीकरण, प्रक्रमण और अंतिम उपभोक्ताओं को अंतत वितरण सम्मिलित है। इस उपरोक्त प्रक्रमण में बहुत से प्रकार्यकर्त्ता शामिल होते हैं। परिणामस्वरूप वस्तुओं और सेवाओं की लागत में काफी व द्धि हो जाती है। सहकारिता विपणन एवं नियमित बाजार का गठन उत्पादकों और उपभोक्ताओं को लाभ पहुंचाने के विचार से विपणन की लागतों को कम करने के उद्देश्य से किया गया है।

भारत में सहकारिता विपणन संरचना सामान्यतः संघीय प्रकार की है जिसमें तीन स्तर है : तालुक स्तर पर, प्राथमिक विपणन संस्थाएं, जिला स्तर पर केन्द्रीय विपणन संस्थाएं और राज्य स्तर पर राज्य विपणन संघ/संस्थाएं।

16.13 शब्दावली

FAO : राष्ट्र संघ का खाद्य व कृषि संगठन

NAFED : भारतीय राष्ट्रीय कृषिक सहकारिता विपणन संघ लिमिटेड

TRIFED : आदिवासी सहकारिता विपणन संघ लिमिटेड

LAMPS : दीर्घाकार कृषिक बहुउद्देशीय सहकारी संस्थाएं

16.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Abott, J., 1993, Agricultural and Food Marketing in Developing Countries: Selected Readings, Technical Centre for Agricultural and Rural Cooperation, UK.

Ellis, F., 1992, *Agricultural Policies in Developing Countries*, Cambridge University Press, UK.

Jat, D.R., 1991, *Marketing of Agricultural Produce*, Radha Publications, New Delhi.

Vyas, V.S. and P. Bhargava, 1997, *Policies for Agricultural Development*, Rawat Publications, New Delhi.

16.15 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

बोध प्रश्न 1

1) कृषि विपणन के विशिष्ट लक्षण भाग 16.2 में देखें

2) विपणन संरचना के आवश्यक अवयवों में बाजार के प्रकार और बाजार में कार्यरत संचालन शक्तियाँ होती है।

3) बाजार के तीन प्रकार होते है– प्राथमिक, माध्यमिक और प्रादेशिक।

4) उप-भाग 16.4.4 देखें

बोध प्रश्न 2

1) भारतीय कृषि बाजारों की त्रुटियां भाग 16.5 में देखें

2) उप-भाग 16.6.2 देखें

3) मुख्य उद्देश्य उप-भाग 16.6.1 में देखें

बोध प्रश्न 3

1) महत्त्वपूर्ण प्रकार्य उप-भाग 16.7.4 में देखें

2) उपखंड भाग 16.7.5 देखें

3) उप-भाग 16.7.1 देखें

4) सहकारी विपणन संरचना की व्याख्या रेखाचित्र 16.1 के आधार पर करें। राष्ट्रीय राज्य और ग्रामीण स्तरों की सहकारी संस्थाओं के स्तरीकरण की व्याख्या करें।

बोध प्रश्न 4

1) उप-भाग 16.9.3 देखें

2) भाग 16.10 देखें

3) सरकार ने मूल्य सहायता योजना और बाजार हस्तक्षेप योजना प्रारंभ की है इसके अतिरिक्त सरकार ने नियमबद्ध बाजार और सहकारी विपणन को प्रोत्साहन दिया है।

4) उप-भाग 16.11.2 देखें

इकाई 18 भारत में सहकारी विधान

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 सहकारी वित्त समिति अधिनियम, 1904

18.3 सहकारी समिति अधिनियम, 1912

18.4 राज्य विषय के रूप में सहकारी समिति

18.5 बहु-इकाई सहकारी संस्था अधिनियम, 1942

18.6 बहु-राज्यीय सहकारी संस्था अधिनियम, 1984

  18.6.1 अधिनियम की व्यवस्थाएं

  18.6.2 अधिनियम के प्रमुख लक्षण

18.7 एक प्राथमिक सहकारी संस्था का संगठन कैसे हो?

  18.7.1 पंजीकरण की शर्ते

  18.7.2 प्रस्तावना तैयार करने की प्रक्रिया

  18.7.3 पंजीकरण प्रस्ताव की संवीक्षा

  18.7.4 अनुवर्तन प्रक्रिया

18.8 सारांश

18.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

18.10 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

18.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप जानेंगे किः

- भारत में सहकारी कानूनों की विकास प्रक्रिया की व्याख्या;
- अखिल भारतीय सहकारी वित्त समिति अधिनियम 1904 के मुख्य लक्षणों की व्याख्या;
- अखिल भारतीय सहकारी समिति अधिनियम 1912 के मुख्य लक्षणों की व्याख्या;
- बहु-राज्य सहकारी समिति अधिनियम 1984 के मुख्य लक्षणों की व्याख्या; तथा
- एक सहकारी समिति के गठन की प्रक्रिया की व्याख्या।

18.1 प्रस्तावना

1901 में अकाल कमीशन, जिसके सर एफ. निकोलसन (Sir F. Nicolsan) सदस्य थे, ने कृषकों के ग्रामीण आधार को आपसी वित्त संस्थाओं द्वारा मजबुत करने की सलाह दी। उसी के अनुसार सहकारी वित्त समिति अधिनियम 1904 बनाया गया जिसने देश में सहकारी समितियों की रचना प्रारंभ की। सहकारी समितियों का संगठन और पंजीकरण सहकारी कानून का प्राथमिक प्रकार्य है। यह पंजीयक (रजिस्ट्रार) और अधीनस्थ अधिकारियों की नियुक्ति करता है और विधान के अन्तर्गत उन्हें अधिकार और प्रकार्य सौंपता है। सहकारी कानून के मूल प्रकार्य निम्न है :

- सहकारी समितियों के संगठन और पंजीकरण का प्रावधान

- उन्हें कुछ विशेषाधिकार छूट और वित्तीय तथा अन्य प्रकार की सहायता देना
- सहकारी समितियों को सिद्धान्तों और सहयोग के प्रचलन के लिये बाध्य कर सहकारी चरित्र को बनाये रखना
- सहकारी समितियों को कुछ अन्य कानूनों के प्रावधानों से मुक्त रखना।

18.2 सहकारी वित्त समिति अधिनियम, 1904

सहकारी वित्त समिति अधिनियम 1904 की संरचना इंगलिश फ्रैन्डली सोसाइटीज एक्ट, 1896 जैसी ही बनाई गयी। यह सरल और लचीली एवं सम्पूर्ण भारत में लागू थी। इसने निकोलसन की ग्रामीण बैंकों की स्थापना विषयक सिफारिश को व्यवहारिक बनाया। इस प्रकार अधिनियम का प्रवर्तन केवल वित्त तक ही सीमित था। इस अधिनियम के महत्त्वपूर्ण प्रावधान इस प्रकार थे :

1) एक ही गांव या नगर, या एक ही वर्ग या जाति से सम्बद्ध दस व्यक्ति एक सहकारी संस्था के रूप में, सदस्यों के बीच मित्तव्यता को और आपसी सहायता को प्रोत्साहन देने के लिये पंजीकरण करा सकते हैं।

2) एक संस्था के मुख्य उद्देश्य सदस्यों द्वारा जमा की गई पूंजी एकत्र करना, सरकार और अन्य सहकारी संस्थाओं से ऋण लेना और सदस्यों या रजिस्ट्रार की विशेष अनुमति से अन्य सहकारी वित्त संस्थाओं को ऋण देना।

3) प्रत्येक राज्य में सहकारी वित्त समितियों के संगठन और नियंत्रण का कार्य राज्य के सहकारी समितियों के पंजीयक को सौंपा गया।

4) प्रत्येक संस्था के खाते का लेखा परीक्षण रजिस्ट्रार या उसके स्टाफ के सदस्य द्वारा बिना शुल्क किया जाता था।

5) ग्रामीण संस्थाओं के पांच में चार सदस्य कृषक होने चाहिये थे जबकि नगरीय संस्थाओं के 80% प्रतिशत सदस्य गैर-कृषक होने थे।

6) ग्रामीण संस्थाओं के सदस्यों की देनदारी असीमित थी, जबकि नगरीय संस्था के विषय में यह या तो सीमित या असीमित थी।

7) ग्रामीण संस्था के लाभ में से कोई लाभांश नहीं दिया जाना था वह सुरक्षित निधि में जमा किया जाता था।

8) शहरी संस्था में लाभ का एक चौथाई अंश ही सुरक्षित निधि में जमा किया जाता था।

9) सदस्यों को ऋण सामान्यतः व्यक्तिगत गारंटी या प्रतिभूति पर दिया जाता था।

10) संस्था में किसी एक सदस्य की अंश पूंजी सीमित थी।

11) अधिनियम के अंतर्गत गठित संस्थाएँ स्टैंप शुल्क, पंजीकरण और आय कर अधिनियम के अंतर्गत वहनीय फीसों से मुक्त थी।

इस अधिनियम के प्रावधान के अंतर्गत संस्थाएं ग्रामीण और नगरीय में वर्गीकृत थी। शहरी संस्थाओं को बेहतर सुविधाएँ दी जाती थी जबकि ग्रामीण संस्थाओं की देनदारी असीमित थी और संचालन का क्षेत्र सीमित था। सदस्यों को ऋण निजी या ऐसी ही किसी अन्य

गारंटी पर दिये जाते थे। वित्त की ऊँची मात्रा के लिये ग्रामीण संस्थाओं में कोई प्रावधान नहीं था। यह अधिनियम गैर वित्तीय संस्थाओं या संघीय संस्थाओं की अनुमति नहीं देता था।

फिर भी वित्तीय संस्थाओं की सफलता और उपयोगिता ने लोगों को अन्य क्षेत्रों में संस्थाएँ बनाने के लिये प्रोत्साहित किया। उपरोक्त अधिनियम की कमियों को दूर करने की आवश्यकता भी महसूस की गयी। इस प्रकार दूसरा सहकारी समिति अधिनियम 1912 में पारित हुआ।

18.3 सहकारी समिति अधिनियम, 1912

इस अधिनियम में 1904 अधिनियम की सरलता और लचीलेपन को कायम रखा गया। 1912 के अधिनियम में ऋण के उचित निरीक्षण के लिये बड़ी संस्थाओं के गठन की आवश्यकता को पहचाना और केन्द्रिय तथा गैर वित्तीय संस्थाओं की उत्पत्ति का मार्ग भी बनाया गया। इसके 29 खंड थे। अखिल भारतीय सहकारी संस्था अधिनियम 1912 के महत्वपूर्ण लक्षण इस प्रकार थे –

1) सहकारी समितियों का रजिस्ट्रार राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता था। वह अपनी सहायता के लिये अपना स्टाफ/अधिकारी नियुक्त कर सकता था।

2) एक सहकारी समिति इन कार्यों के निमित स्थापित या पंजीकृत हो सकती थी।

   - सदस्यों के हितों को प्रोत्साहित करने के लिये ;
   - सहकारी सिद्धान्तों के अनुसार; और
   - सीमित या असीमित देनदारी के साथ, सदस्यों के देनदारी सीमित थी जबकि संस्था की देनदारी असीमित थी।

3) सहकारी संस्था के पंजीकरण के लिये कम से कम 10 सदस्यों की आवश्यकता थी।

4) संस्था के कायदे-कानून में संशोधन तब तक मान्य नहीं थे जब तक वह रजिस्ट्रार के पास पंजीकृत न हो, रजिस्ट्रार का संतुष्ट होना आवश्यक था कि प्रस्तावित संशोधन अधिनियम के नियमों के विरूद्ध नहीं था।

5) एक असीमित संस्था में एक सदस्य का एक वोट होता था जबकि सीमित संस्था में उपनियमों के निर्देश अनुसार सदस्य के वोट होते थे।

6) सीमित देनदारी संस्था में एक सदस्य कुल शेयरों के 1/5 से अधिक या 1000/- रू० से अधिक का धारक नहीं हो सकता।

7) इन संस्थाओं को अंश पत्रों और ऋण पत्रों या अन्य दस्तावेजों को संबंधित उपकरणों के अनिवार्य पंजीकरण से बाहर रखा गया था।

8) केन्द्र या राज्य सरकार इन संस्थाओं को आयकर स्टैंप कर, पंजीकरण शुल्क आदि से भी मुक्त कर सकती थी।

9) ये संस्थाएँ गैर-सदस्यों से भी नियमों के भीतर रहते हुए जमा और ऋण ले सकती थी।

10) ये संस्थाएँ अपनी पूंजी सरकारी बैंक में, न्यासी प्रतिभूतियों में, अन्य सहकारी संस्थाओं के अंशों में या रजिस्ट्रार द्वारा अनुमोदित किसी बैंक में निवेश कर सकती है; या जमा कर सकती है।

11) संस्था के शुद्ध लाभ का एक चौथाई सुरक्षित निधि में देय होगा।

12) रजिस्ट्रार स्वयं या एक तिहाई सदस्यों के प्रार्थना पत्र पर संस्था के कार्य या संविधान की जाँच कर सकता है।

13) एक जमाकर्त्ता के आवेदन पर रजिस्ट्रार, एक सहकारी संस्था का निरीक्षण कर सकता है। उसके आधार या तीन चौथाई सदस्यों के आवेदन पर रजिस्ट्रार, संस्था का पंजीकरण रद्द कर सकता है।

14) राज्य सरकार किसी संस्था या संस्थाओं के किसी भी वर्ग को अधिनियम के किसी भी प्रावधान से बाहर रख सकती है।

18.4 एक राज्य विषय के रूप में सहकारी समिति

1919 में मॉन्टेगु-चेम्स्फोर्ड सुधारों लागू होने के परिणामस्वरूप राज्य सरकारों को स्थानांतरित किये गये निगमों को अब राज्यों के कानून के अनुसार चलना था। सर्वप्रथम बम्बई राज्य सरकार ने 1925 में अपना अधिनियम बम्बई प्रादेशिक सहकारी समिति अधिनियम पास किया। इस अधिनियम ने अन्य प्रदेशों/राज्यों के लिये बहुत समय तक एक नमूने की भाँति कार्य किया क्योंकि इसमें पंजीकरण, सदस्यता, जमाराशि प्रबंधन, विवादों का हल, बकाया की वसूली, परिसमापन आदि के लिये विस्त त प्रावधान था। संयुक्त प्रांत सरकार (अब उत्तर प्रदेश) ने 1931 में अधिनियम पास किया। अन्य प्रादेशिक सरकारों, जैसे, मद्रास, बंगाल, बिहार और पंजाब ने बम्बई अधिनियम का अनुसरण किया और कुछ समय बाद अपने अधिनियम बनाये।

यह उल्लेखनीय है यदि किसी प्रदेश सरकार ने अपना अधिनियम नहीं पास किया और न बम्बई अधिनियम को अपनाया, उस पर अखिल भारतीय सहकारी संस्था अधिनियम 1912 ही लागू होता था।

स्वतंत्रता उपरांत की अवधि में केन्द्र सरकार ने 1955 में सहकारी कानून पर नमूने के प्रारूप के लिये एक समिति नियुक्त की जो सभी राज्य सरकारों और केन्द्र शासितों के लिये एक मार्गदर्शक सिद्धांत की तरह कार्य कर सके। राज्य विशेष में सहकारी आंदोलन की प ष्ठभूमि, विकास और राजनैतिक वातावरण को ध्यान में रखते हुये, प्रत्येक राज्य ने या तो नया अधिनियम पास किया या अपने अधिनियम में केन्द्र सरकार द्वारा वितरित नमूना बिल के प्रकाश में पूर्ण संशोधन किया। अतः विभिन्न राज्यों के विद्यमान सहकारी संस्था अधिनियम एक राज्य से दूसरे राज्य में भिन्न रहे। फिर भी ऐसे कई लक्षण थे जो सभी राज्य अधिनियमों में समान रहे। ये इस प्रकार हैः

1) एक सहकारी संस्था के पंजीकरण की शर्तें और प्रक्रिया, संगठन, पंजीकरण और सहकारी संस्था के प्रबंधन से सम्बद्ध अधिकार। एक सहकारी संस्था का निरीक्षण और नियंत्रण रजिस्ट्रार के पास होता है।

2) रजिस्ट्रार के आदेश पर अथवा स्वेच्छा आधार पर अधिनियमों के संशोधन की शर्तें तथा प्रक्रिया।

3) रजिस्ट्रार के आदेश पर या स्वेच्छा आधार पर सहकारी संस्था के समामेलन, विभाजन और पुनर्संगठन/परिवर्तन की प्रक्रिया और शर्तें।

4) सदस्यता के प्रकार, सदस्यों के अधिकार एवं उत्तरदायित्व और सदस्यता से संबंधित आवश्यक प्रावधान और सदस्यता का रद्द करना। खुली सदस्यता के प्रावधान की समाविष्टी।

5) जमा राशि के प्रबंध के नियम जैसे सहकारी संस्था की रिजर्व जमाराशि या अन्य निधि और सहकारी संस्था के उधार लेने और उधार देने से संबंधित नियम।

6) सहकारी संस्थाएँ अधिनियम एवं अन्य अधिनियम जैसे स्टैम्प अधिनियम, पंजीकृत अधिनियम, आयकर अधिनियम आदि के अंतर्गत एक सहकारी संस्था को दिये गये विशेषाधिकारों से संबंधित प्रावधान।

7) सहकारी संस्था के प्रबंधन से संबंधित प्रावधान : इनमें है (i) वार्षिक सामान्य निकाय की सभा का आयोजन, (ii) विशेष सामान्य सभा का आयोजन, (iii) निदेशक बोर्ड के प्रकार्य एवं अधिकार, (iv) निदेशक बोर्ड को हराना, (v) निदेशक बोर्ड के स्थान पर प्रशासक की नियुक्ति, और (vi) संस्था को निर्देश देना।

8) संस्था के खातों की वार्षिक लेखापरीक्षा से संबंधित प्रावधान और लेखापरीक्षा रिपोर्ट पर अनुवर्तन क्रिया।

9) संस्था के कार्यों की जांच/निरीक्षण की आज्ञा से संबंधित अधिकार और संस्था के ऐसे अधिकारियों तथा प्रोत्साहकों के खिलाफ, जो संस्था की जमाराशि का दुरूपयोग करने के उत्तरदायी पाये जाते है, कार्यवाही करने व जुर्माना लगाने से संबंधित अधिकार।

10) एक सहकारी संस्था में विवादों को निपटाया, अनुदेशों के क्रियान्वयन और बकाया की वसूली आदि से संबंधित प्रावधान।

11) सहकारी आंदोलन के हित में विशेष प्रकार की सहकारी संस्थाओं के बकाया की संक्षिप्त कार्यवाही द्वारा वसूली से संबंधित प्रावधान।

12) राज्य सहयोग की पद्धति और उससे संबंधित नियम।

13) किसी सहकारी संस्था को भंग करने से जुड़े प्रावधान, इस प्रक्रिया के प्रशासक के अधिकार तथा इस दिशा में परिसंपत्तियों के विक्रय आदि के पश्चात् इस प्रक्रिया के समापन की व्यवस्थाएं।

14) एक सहकारी संस्था में अपराधों की प्रकृति की परिभाषा और उनकी सजा से संबंधित प्रावधान।

बोध प्रश्न 1

1) सहकारी कानूनों के क्या मुख्य प्रकार्य है?

....

....

....

....

2) सहकारी वित्त संस्था अधिनियम 1904 के चार महत्त्वपूर्ण लक्षण लिखिये।

....

....

....

....

3) सहकारी संस्था अधिनियम 1912 के पाँच महत्वपूर्ण लक्षण लिखिये।

....

....

....

....

....

4) राज्य सहकारी अधिनियमों के पाँच महत्त्वपूर्ण और समान लक्षण बताइये।

....

....

....

....

....

18.5 बहु-इकाई सहकारी संस्था अधिनियम, 1942

सहकारी आंदोलन की प्रगति के साथ-साथ कुछ सहकारी संस्थाओं ने अन्य राज्यों में भी अपनी गतिविधियाँ प्रारंभ की। ऐसी परिस्थिति में प्रश्न उठा : क्या एक राज्य में गठित संस्था दूसरे राज्यों में कार्य कर सकती है? विभिन्न अधिनियमों में प्रावधानों के विविधता को दूर करने के लिये केन्द्र सरकार ने 1942 में बहु-इकाई सहकारी संस्था अधिनियम पास किया। इस अधिनियम ने ऐसी संस्था के कार्यों के नियमन उस राज्य के सहकारी संस्थाओं के अधिनियम में प्रावधान करके प्रदान किये जहाँ संस्था का मुख्य कार्य स्थापित था। अतः राज्य के सहकारी संस्थाओं के पंजीकरण अधिकारी को बहु-इकाई सहकारी संस्था अधिनियम के अंतर्गत अधिकार मिले।

परिणामस्वरूप, एक राज्य के भीतर, बड़ी संख्या में बहु इकाई सहकारी समितियाँ दिखाई देने लगी जिनके उद्देश्य तो एक थे किन्तु वे भिन्न-भिन्न सहकारी कानूनों के अंतर्गत थीं। इसने एक विवादास्पद स्थिति को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त, बहु-इकाई सहकारी समितियों के संगठनात्मक ढाँचे और आकार में दूर तक प्रभावी परिवर्तन भी हुए हैं। भिन्न राज्यों के भिन्न क्षेत्रों में बहुत सी राष्ट्रीय स्तरीय सहकारी संस्थाओं की स्थापना की गयी। इस विकास प्रक्रिया ने एक व्यापक केन्द्रीय कानून को लागू करने की आवश्यकता पर बल दिया। इस प्रकार केन्द्र सरकार द्वारा बहु-राज्यीय सहकारी संस्था अधिनियम, 1984 (Multi-State CooperativeSocieties Act, 1984) लागू किया गया।

18.6 बहु-राज्यीय सहकारी संस्था अधिनियम, 1984

बहु-राज्यीय सहकारी संस्था अधिनियम 1984 (Multi-State Cooperative Societies Act, 1984) ने बहु-इकाई सहकारी संस्था अधिनियम 1942 (Multi-Unit Cooperative Societies Act, 1942) का स्थान लिया। इस अधिनियम के उद्देश्य निम्न है :

i) देश में विभिन्न राज्यों में कार्यरत समस्याओं द्वारा अलग-अलग सहकारी नियमों की बाध्यता को दूर करना।

ii) स्वतंत्रता के बाद बड़ी संख्या में संगठित हुई राष्ट्रीय सहकारी संस्थाओं और परिसंघों (federations) के प्रशासन और प्रबंधन संबंधी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये व्यापक और समान केन्द्रीय कानून का होना।

iii) उनके प्रोत्साहन, पंजीकरण और निरीक्षण के लिये केन्द्रीय प्राधिकार देना।

18.6.1 अधिनियम की व्यवस्थाएं

इस अधिनियम की व्यवस्थाएं भी अन्य किसी सहकारी कानून की भांति हैं। इसमें निम्न प्रावधान हैः

क) केन्द्रीय पंजीकरण अधिकारी की नियुक्ति

ख) बहु-राज्यीय सहकारी संस्थाओं का पंजीकरण

ग) सदस्यों के अधिकार एवं कर्त्तव्य

घ) सहकारी संस्थाओं का प्रबंधन, जिसमें, परिसम्पत्ति एवं पूंजी कोष भी सम्मिलित है।

ड.) बहु-राज्यीय सहकारी संस्थाओं के विशेषाधिकार

च) लेखाकरण, जांच एवं निरीक्षण

छ) विवादों का निपटारा

ज) बहु-राज्यीय सहकारी संस्थाओं के समापन और रद्द करने की प्रक्रिया।

18.6.2 अधिनियम के प्रमुख लक्षण

1) *केन्द्रीय रजिस्ट्रार की नियुक्ति*

यह अधिनियम अपने अंतर्गत विविध शक्तियों/अधिकारों के प्रयोग के लिये केन्द्र सरकार द्वारा केन्द्रीय रजिस्ट्रार की नियुक्ति करता है। केन्द्र सरकार राज्य सरकार के किसी भी अधिकारी को केन्द्रीय पंजीयक के कुछ विशिष्ट अधिकार उस राज्य में पंजीक त बहु राज्यीय सहकारी संस्था के लिये प्रयोग करने का अधिकार दे सकती है। राष्ट्रीय सहकारी संस्थाओं/संघों के संदर्भ में केवल केन्द्रीय पंजीयक को ही ऐसे अधिकार प्राप्त हैं।

2) *सहकारी सिद्धांतों की परिभाषा*

सहकारी विधान के इतिहास में पहली बार अधिनियम में सहकारिता के सिद्धान्तों को यथातथ्य परिभाषित किया गया है। यह अधिनियम विशेषरूप से कहता है कि, ''केवल उन्हीं बहु-राज्यीय सहकारी संस्थाओं को पंजीकृत किया जायेगा, जिनका उद्देश्य सहकारी सिद्धान्तों के अनुरूप आपसी मदद के द्वारा अपने सदस्यों को आर्थिक और सामाजिक बेहतरी प्रदान करना है। ये प्रावधान शायद वास्तविक सहकारी संस्थाओं के पंजीकरण को प्रोत्साहित करने और नकली संस्थाओं, जो केवल नाम मात्र की सहकारी है, उनके पंजीकरण को रोकने के लिये बनाये गये।

3) *विनियमों, संशोधन या विभाजन के अनिवार्य संशोधन के अधिकारों का विलोपन*

इस अधिनियम के प्रावधानों के अतंर्गत एक बहु-राज्यीय सहकारी संस्था के विनियमों में संशोधन हो सकता है या संस्था अन्य किसी बहु-राज्यीय सहकारी संस्था के साथ समामेलन कर सकती है या एक से अधिक संस्थाओं में विभाजित हो सकती है, यदि, वह संस्था स्वेच्छा से ऐसे संशोधनों/समामेलन विभाजन को चुने। अधिकतर राज्य कानून के विपरीत केन्द्रीय रजिस्ट्रार के पास ऐसे संशोधन समामेलन या विभाजन अनिच्छुक संस्थाओं पर थोपने की शक्ति नहीं है।

4) *सहकारी संस्था का बहु-राज्यीय सहकारी संस्था में रूपांतरण*

इस अधिनियम में एक सहकारी संस्था के बहुराज्यीय सहकारी संस्था में रूपांतरण का प्रावधान है। एक राज्य की सीमाओं के बाहर संचालन का क्षेत्र बढ़ाने के विनियमों में संशोधान के प्रस्ताव को केन्द्रीय रजिस्ट्रार की सहमति मिलना आवश्यक है, जो संशोधन के पंजीकरण से पहले संबंधित राज्यों के रजिस्ट्रारों से विचार-विमर्श करता है।

5) *बहुराज्यीय सहकारी संस्थाओं के सदस्य बने व्यक्ति*

अधिनियम का खंड 19 इस संबंध में उचित प्रावधान करता है। राज्य सहकारी कानून में विद्यमान ये प्रावधान विशेष रूप से आग्रह करते हैं कि कोई भी व्यक्ति, राष्ट्रीय सहकारी संघ (National Cooperative Union of India) के अतिरिक्त किसी राष्ट्रीय सहकारी संस्था, जो एक बहु-राज्यीय सहकारी संस्था के रूप में परिभाषित है और अधिनियम की दूसरी अनुसूची में विशेष रूप से रखी गयी है, के सदस्य के रूप में प्रवेश का अधिकारी नहीं है। राष्ट्रीय सहकारी संस्थाओं के सदस्यों के प्रवेश पर यह प्रतिबंध ऐसी संस्थाओं के संघीय चरित्र को बनाये रखने और प्रोत्साहित करने के लिये बने हैं।

6) *निदेशक मण्डल के निर्वाचित सदस्यों का कार्यकाल*

निदेशक मण्डल के चुने हुये सदस्यों के कार्यकाल के विषय में अधिनियम के खंड 35 का तीसरा उपखंड कहता है कि एक बहुराज्यीय सहकारी संस्था के निदेशकों के बोर्ड के निर्वाचित सदस्यों का कार्यकाल 3 वर्षो से अधिक नहीं है, जैसा कि संस्था के विनियमों में लिखा होगा।

7) *एक सहकारी संस्था में पदाधिकारी होना*

अधिनियम का खंड 36 कहता है कि कोई भी व्यक्ति एक समय में एक से अधिक बहु–राज्यीय सहकारी संस्थाओं के बोर्ड पर अध्यक्ष या उपाध्यक्ष नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त इस अधिनियम का खंड 37 व्यवस्था करता है कि कोई भी व्यक्ति, दो लगातार कार्यकाल (चाहे पूर्ण या अंश में,) तक कार्यभार संभालने के बाद एक संस्था का अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष का कार्यभार संभालने के लिये योग्य नहीं है। ये प्रावधान सहकारिता में निहित स्वार्थो के विकास पर रोक लगाने के लिये बनाये गये हैं।

8) *सामान्य निकाय के द्वारा निर्वाचित सदस्य को हटाने की व्यवस्था*

अधिनियम का 39वां खंड एक बहुराज्यीय सहकारी संस्था का सामान्य निकाय (general body) को संस्था के हितों के विरूद्ध कार्य करने वाले निर्वाचित सदस्य को निर्देशक मण्डल के बोर्ड से हटाने का अधिकार देता है। हालांकि इस विषय में प्रस्ताव पास करने के लिये दो तिहाई सदस्य का सामान्य निकाय की सभा में उपस्थित होना और वोट डालना

आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त प्रस्ताव पास करने से पहले, संबंधित सदस्य को अपना पक्ष रखने के लिये उचित अवसर दिया जाना होता है। यह प्रावधान एक संस्था के सामान्य निकाय की प्रभुसत्तात्मक अधिकार (sovereign power) की अवधारणा पर आधारित है।

9) *मुख्य कार्यकारी*

अधिनियम के खंड 44 के अनुसार है कि प्रत्येक बहुराज्यीय सहकारी संस्था के मुख्य कार्यकारी की नियुक्ति इसके प्रबंध मण्डल द्वारा की जायेगी। इस प्रकार नियुक्त मुख्य कार्यकारी एक पूर्ण कालिक का कर्मचारी होगा जो मण्डल का सदस्य भी होगा। एक राष्ट्रीय संस्था के मामले में, जिसमें आधे से अधिक अंश पूंजी केन्द्र सरकार की लगी है, मुख्य कार्यकारी और अन्य प्रकार्यात्मक निदेशकों की नियुक्ति केन्द्र सरकार द्वारा ही होगी। 45 वां खंड मुख्य कार्यकारी को विशिष्ट अधिकार देता है और उसके विशिष्ट प्रकार्यों की पूर्ति को आवश्यक बनाता है जो इस प्रकार है :

क) दैनंदनिक प्रबंधन

ख) रोकड़ को सुरक्षित रखने के प्रबंध

ग) खातों और अभिलेखों के उचित रख रखाव और कानून के प्रावधानों के अनुरूप सावधिक वक्तव्यों और पत्रकों की सही तैयारी और समय पर जमा करने का प्रबंध।

घ) सामान्य निकाय के निदेशकों के बोर्ड और अन्य समितियों या उप-समितियों की सभाओं का आयोजन और ऐसी सभाओं के अभिलेखों का उचित रखरखाव

ड.) बोर्ड के विशिष्ट अधिभारों के लिये सुरक्षित पदों के अतिरिक्त अन्य पदों पर नियुक्तियाँ करना

च) नीतियों की विरचना में बोर्ड को सहयोग देनाः इस खंड में सहकारी संस्थाओं में पेशेवर प्रबंधन को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया गया है। विचार यह है कि मुख्य कार्यकारी को विशिष्ट अधिकार देकर और बिना किसी दखलंदाजी के उन शक्तियों के प्रयोग की अनुमति देने से परिणामोन्मुख कार्य और निर्णय सुनिश्चित होंगे जिनके लिये मुख्य कार्यकारी उत्तरदायी होगा।

10) *सार्वजनिक हित में केन्द्र सरकार की निर्देश देने की शक्ति*

अधिनियम का 47वां खंड इस संबंध में केन्द्र सरकार को आवश्यक अधिकार देता है। इस अधिकार का प्रयोग सार्वजनिक हित में या केन्द्र सरकार द्वारा अनुमोदित या दी गई परियोजनाओं और अन्य विकास कार्यक्रमों के उचित परिपालन हेतू प्रयोग में लाई जाती है। बहु-राज्यीय सहकारी संस्था के लिये केन्द्र सरकार द्वारा जारी निर्देशों का पालन करना आवश्यक होता है।

11) *राष्ट्रीय सहकारी संस्थाओं में मुख्य कार्यकारी या अन्य वरिष्ठ अधिकारियों की नियुक्ति हेतु व्यक्तियों की सूची तैयार करने के लिये पैनल प्राधिकरण का निर्माण*

इस अधिनियम के 50वें खंड के अनुसार राष्ट्रीय सहकारी संस्थाओं में मुख्य कार्यकारी या अन्य वरिष्ठ अधिकारियों की नियुक्ति हेतु व्यक्तियों की सूची तैयार करने के लिये पैनल प्राधिकरण (panel authority) बनाना अनिवार्य है। इस प्रावधान का आशय भाई भतीजावाद के दाग, भ्रष्टाचार, अन्य दुष्प्रचलनों से मुक्त वैज्ञानिक और उद्देश्यपूर्ण भरती की प्राविधियों द्वारा व्यावसायिक प्रबंधन को बढ़ावा देना है।

12) *अन्य प्रावधान*

अधिनियम का 41 वां खंड केन्द्र या राज्य सरकारों के उस अधिकार से संबंधित है जिससे वे एक बहु राज्य सहकारी संस्था के निदेशक बोर्ड में अपने नामांकितों को नियुक्त करती है। (निदेशकों की कुल संख्या का एक तिहाई या 3 जो भी कम हो) जिसने केन्द्र या राज्य सरकार से वित्तीय सहायता ली हो (वित्तीय मदद अंश पूंजी, या उधार या ऐसे उधार के लिये प्रतिभूति के रूप में या उस पर ब्याज या अनुदान के रूप में हो) नामांकित निदेशक के पास निषेध अधिकार नहीं होते।

बोध प्रश्न 2

1) किस वर्ष बहु-इकाई सहकारी संस्था अधिनियम पास हुआ?

....

....

....

....

2) बहु राज्यीय सहकारी संस्था अधिनियम, 1984 के उद्देश्य क्या थे?

....

....

....

....

3) अधिनियम की योजना का विवरण दीजिये।

....

....

....

....

4) अधिनियम के पांच महत्त्वपूर्ण मुख्य लक्षण लिखिए।

....

....

....

....

....

18.7 एक प्राथमिक सहकारी संस्था का गठन कैसे हो?

एक सहकारी संस्था के लिये सहकारी संस्था अधिनियम (Cooperative Societies Act) के अंतर्गत पंजीकरण आवश्यक है। चूँकि निगम एक राज्य का विषय है, पंजीकरण के लिये प्रस्ताव तैयार करने से पूर्व उस राज्य के सहकारी संस्था अधिनियम को ध्यान से पढ़ना चाहिये जिसमें राज्य प्राथमिक संस्था की स्थापना करनी है। अधिनियम पंजीकरण की शर्तों और पंजीकरण प्रस्ताव तैयार करने और जमा करने की विधि के विषय में बताता है। पंजीकरण प्राधिकारी की शक्तियों के साथ यह प्रयोग में आने वाली रूपरेखा भी देता है। वे प्रक्रियाएं जो प्रस्ताव की मंजूरी के लिये प्रयुक्त होती हैं, इस अधिनियम में दी होती है। इन प्रावधानों में पंजीकरण के प्रभाव भी सम्मिलित होते है।

संस्थाओं के सभी महत्वपूर्ण प्रकारों के अधिनियम (वित्त, उपभोक्ताओं, विपणन, उद्योग, कृषि प्रक्रिया संस्थाओं आदि) और आवेदन पत्र मुद्रित रूप में सभी बड़ी पुस्तक विक्रेताओं और सहकारी संस्थओं के रजिस्ट्रार के कार्यालय या उसके अधीनस्थ कार्यालयों में उपलब्ध होते हैं।

18.7.1 पंजीकरण की शर्तें

क) प्रस्तावित सहकारी संस्था का उद्देश्य इसके सदस्यों का आर्थिक हितों को या उनके सामान्य कल्याण और/या पूर्ण रूप से समुदाय के कल्याण को प्रोत्साहित करना होना चाहिये।

ख) प्रस्ताव को यह खुलासा करना चाहिये कि संस्था के एक व्यवसायिक संगठन के रूप में सफल होने के पर्याप्त अवसर है और यह उस क्षेत्र में विद्यमान सक्रिय संस्थाओं के कार्य पर प्रभाव नहीं डालती।

ग) यह सदस्यों की न्यूनतम संख्या के साथ, जो सहकारी संस्था के सदस्य के लिये उपयुक्त है, लोगों को नमूना अधिनियमों के दायरे में दिये गये प्रावधानों के अनुसार सदस्य बनाती है। एक पारिवारिक सहकारी संस्था बनाने से बचाने के लिये भिन्न परिवारों, या वर्गों व धर्मों में 15 प्रोत्साहक सदस्य द्वारा हाथ मिलाया जाना चाहिये। सदस्यों की सूची में अनुसूचित जाति/जनजाति व महिलाओं का उचित भागेदारी होनी चाहिये।

घ) सहकारी संस्था को यह वचन देना होगा कि वह सहकारी सिद्धान्तों को पालन करते हुये उद्देश्य प्राप्ति करेगी जैसे :

i) मुक्त एवं स्वैछिक सदस्यता

ii) लोकतांत्रिक सदस्य नियंत्रण

iii) सदस्यों की आर्थिक भागेदारी

iv) स्वायत्तता और स्वतंत्रता

v) शिक्षा प्रशिक्षण एवं संरचना

vi) सहकारिताओं के मध्य सहयोग

vii) समुदाय के प्रति लगााव/संलग्नता

ङ.) प्रस्ताव आर्थिक रूप से व्यवहार्य और तकनीकी रूप से संभाव्य होना चाहिये। इस का आंकलन परियोजना के अभिलेख के आधार पर होता है और प्रारम्भकर्त्ताओं को न्यूनतम

आवश्यक पूंजी एकत्र करनी होती है। अतः वैज्ञानिक रूप से तैयार परियोजना प्रारूप पंजीकरण के लिये प्रस्तुत प्रस्ताव के साथ दिया जाना चाहिये।

च) प्रस्तावित संस्था के संचालन क्षेत्र को प्रस्ताव में निर्धारित/समेकित किया जाना चाहिये। यह सुसम्बद्ध और संलग्न होना चाहिये।

छ) प्रस्ताव के साथ संस्था के संविधान को दर्शाते अधिनियम का प्रारूप, इसका संचालन क्षेत्र, सदस्यता के प्रकार, अंश और अधिकृत पूंजी आदि भी साथ होने चाहिये। सरकार द्वारा जारी नमूना अधिनियमों की रूप-रेखा पर ही प्रारूप अधिनियम बनाने चाहिये। प्रस्तावित अधिनियम सहकारी संस्था अधिनियम के प्रावधानों और उनके नियमों के विरूद्ध नहीं होने चाहिये।

18.7.2 प्रस्तावना तैयार करने की प्रक्रिया

एक सहकारी संस्था की स्थापना के प्रस्ताव को तैयार करने की प्रक्रिया इस प्रकार हैः

क) प्रारंभिक सदस्यों और समर्थकों की निम्न सम्पादन के लिये सभा बुलाना :

i) प्रमुख प्रोत्साहक का चुनाव

ii) प्रस्तावित संस्था के नाम का निर्णय। नाम का निर्णय करते समय यह ध्यान रखा जाये कि उसी नाम से उस क्षेत्र/जिला/राज्य में कोई अन्य संस्था न हो।

iii) संस्था के पंजीकृत कार्यालय के स्थान का निर्णय : इस सभा में संस्था के संचलन के क्षेत्र का भी निर्णय होना चाहिये।

iv) उद्देश्य, अंश पूंजी, प्रवेश शुल्क, अधिक त पूंजी, सदस्यता के प्रकार आदि का भी विशेष निर्णय होना चाहिये।

ख) एक आवेदन के द्वारा (पहली सभा में सदस्यों द्वारा अनुमोदित कार्यवाही भी संलग्न हो) सहकारी संस्थाओं के रजिस्ट्रार (प्राथमिक संस्था के लिये जिला स्तर अधिकारी) से प्रार्थना की जाये :

i) प्रस्तावित संस्था के लिये प्रस्तावित नाम आरक्षित करने के लिए।

ii) प्रस्तावित सहकारी संस्था के नाम पर अंश पूंजी और प्रवेश शुल्क एकत्र करने की आज्ञा।

iii) सहकारी बैंक में बचत खाता खोलने की अनुमति।

ग) अधिनियम के अंतर्गत दिये फार्म में पंजीकरण के लिये आवेदन की तैयारी उसके साथ बैंक शेष का प्रमाण पत्र, प्रस्तावित उपनियमों की सूची (3-4 प्रतियां) जिस पर संस्थापक सदस्यों के हस्ताक्षर हो तथा सदस्य बन रहे लोगों की सूची संलग्न हो। प्रोत्साहक के अतिरिक्त सामान्य जनता के योगदान का भी जिक्र होना चाहिये।

18.7.3 पंजीकरण प्रस्ताव की संवीक्षा

पंजीकरण प्रस्ताव आवेदन की जांच पड़ताल करना सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार का कार्य है। सामान्यतः पंजीकरण के अधिकार सहायक पंजीयक स्तर के अधीनस्थ अधिकारियों को दिये जाते है जिन्हें एक गांव या गांवों के समूह के सीमित संचालन पत्र

वाली प्राथमिक सहकारी संस्था को पंजीकृत करने का अधिकार होता है। प्रस्ताव प्राप्त होने पर पंजीकरण प्राधिकारी के लिए यह आवश्यक है :

क) ऐसे सभी सम्बद्ध दस्तावेज जो पंजीकरण के लिये प्रस्ताव पर विचार करने के लिये आवश्यक है, जांच करना।

ख) जमा किये गए विनियमों की जांच पड़ताल करनी होती है कि प्रावधान सहकारी कानूनों और उसके नियमों के अनुसार हो।

ग) परियोजना अभिलेख की संवीक्षा करना और प्रस्तावित संस्था की आर्थिक व्यवहार्यता और संभाव्यता के विषय में संतुष्ट होना।

घ) देखना कि अन्य अधिनियमों, जैसे, प्रदूषण नियंत्रण औपचारिकताओं का प्रोत्साहकों ने पालन किया हो।

ङ.) आवश्यक अभिलेखों और दस्तावेजों जो भूमि, भवन, बिजली और जल की उपलब्धता की ओर इंगित करते है, की जांच करना।

यदि पंजीकरण करने वाला प्राधिकरण प्रस्ताव से संतुष्ट हो, तब वह संस्था को पंजीकरण करके एक पंजीकरण प्रमाण पत्र विनियमों की हस्ताक्षर और मुहर लगी प्रति के साथ जारी करेगा।

पंजीकरण पर, गजट में संस्था का नाम प्रकाशित होता है। यदि प्राधिकारी पंजीकरण अस्वीकार करती है तब मुख्य प्रोत्साहक को कारण बताते हुये सूचना दी जाती है। संस्था को पंजीकरण अस्वीकार होने के निर्णय के विरूद्ध उचित उच्चतर प्राधिकारी के पास अपील कर सकती है।

18.7.4 अनुवर्तन प्रक्रिया

पंजीकरण प्रमाण पत्र मिलने पर संस्था को निम्नलिखित कार्य करने चाहिये :

क) निदेशक बोर्ड का संगठन।

ख) बजट की तैयारी और सामान्य निकाय से उसका अनुमोदन प्राप्त करना।

ग) पंजीकरण प्रमाण पत्र मिलने की दिनांक के तीन महीनों के भीतर पहली सामान्य निकाय की सभा आयोजित करना।

घ) सामान्य निकाय की सभा में विनियमों को अपनाना।

बोध प्रश्न 3

1) एक सहकारी संस्था के पंजीकरण की शर्तो का विवरण दीजिए।

....

....

....

....

....

2) पंजीकरण के लिये प्रस्ताव तैयार करने के लिये अनुसरण किये जाने वाली प्रक्रिया की चर्चा करें।

....

....

....

....

....

3) एक प्राथमिक सहकारी संस्था के पंजीकरण के प्रस्ताव की जांच करते समय पंजीकरण अधिकारी को क्या कदम उठाने चाहिये?

....

....

....

....

....

4) संस्था द्वारा पंजीकरण प्रमाण-पत्र प्राप्त करने के बाद मुख्य प्रोत्साहक को किस अनुवर्तन क्रिया के पूरा करने की आवश्यकता होती है?

....

....

....

....

....

18.8 सारांश

प्रथम सहकारी संस्था अधिनियम 1904 में पास हुआ। यह 9 खंड वाला सरल एवं लचीला अधिनियम था। इसके क्षेत्र का विस्तार 1912 के अखिल भारतीय सहकारी समिति अधिनियम के लागू होने से हुआ। इसने केन्द्रीय एवं सहयोगी संस्थाओं और गैर वित्तीय क्रियाओं की सहकारिताओं की स्थापना के लिये मार्ग बनाया।

मॉन्टेगु-चेम्सफोर्ड सुधारों के अंतर्गत निगमों का प्रवेश सरकार के पास स्थानांतरण हुआ, जिन्होंने 1925 से 1932 के दौरान अपने खुद के सहकारी समिति अधिनियम बनाये।

एक से अधिक राज्यों में संचालन क्षेत्र वाली सहकारी संस्थाओं और राष्ट्रीय स्तर की सहकारी संस्थाओं/फेडरेशन को सुविधा प्रदान करने के लिये 1942 में बहु-इकाई सहकारी

समिति अधिनियम बना। इसमें सुधार किया गया और 1984 में इसका बहु-राज्यीय सहकारी संस्था अधिनियम के रूप में पुनःनामकरण हुआ।

ग्राम से लेकर राष्ट्रीय स्तर पर सहकारी समितियों की स्थापना की प्रक्रिया विभिन्न अधिनियमों में दी गयी है।

18.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Government of India, 1915, *Report of the Committee on Cooperation in India*, (Chairman: Sir E.D. Maclagan).

Government of India, 1984, *Multi-State Cooperative Societies Act.*

Government of India, 1959, *Report of the Working Group on Cooperative Policy*, Ministry of Community Development and Cooperation (Chairman: K.R. Damb).

Government of India, 1963, *Report of the Committee on Cooperative Administration*, Ministry of Community Development and Cooperation (Chairman: V.L. Mehta).

Reserve Bank of India, 1981, *CRAFICARD Report* (Chairman B. Shivaraman).

Reserve Bank of India, 1989, *Agricultural Credit Review Committee Report* (Chairman A.M Khushro).

Reserve Bank of India, 1954, *All India Rural Credit Survey Committee Report* (Chairman A.D. Gorwala).

18.10 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

बोध प्रश्न 1

1) भाग 18.2 देखें
2) भाग 18.2 देखें
3) भाग 18.3 देखें
4) भाग 18.1 और 18.4 देखें

बोध प्रश्न 2

1) 1942
2) भाग 18.6 देखें
3) उप-भाग 18.6.2 देखें
4) उप-भाग 18.6.3 देखें

बोध प्रश्न 3

1) भाग 18.7 देखें
2) उप-भाग 18.7.2 देखें
3) उप-भाग 18.7.3 देखें
4) उप-भाग 18.7.4 देखें

इकाई 21 सार्वजनिक वितरण प्रणाली एवं खाद्य सुरक्षा

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता
21.2.1 खाद्य आत्मनिर्भरता की प्राप्ति
21.2.2 खाद्य आत्मनिर्भरता एवं खाद्य सुरक्षा
21.2.3 कुपोषण का प्रचलन
21.3 खाद्यान्नों का उत्पादन और उपलब्धता
21.4 सार्वजनिक वितरण प्रणाली के उद्देश्य
21.4.1 प्रचालन पक्ष
21.4.2 सरकारी खरीद व्यवस्था
21.5 सार्वजनिक वितरण प्रणाली
21.5.1 सार्वजनिक वितरण के लक्ष्यित समूह
21.5.2 सार्वजनिक वितरण प्रणाली से निर्गत
21.5.3 अत्यधिक भंडार के परिणाम
21.5.4 सार्वजनिक वितरण का विकेन्द्रीकरण
21.6 खाद्य सुरक्षा संबंधी क्षेत्र कल्याण योजनाएं
21.7 खाद्यान्नों का निर्यात
21.8 सार्वजनिक वितरण व्यवस्था के कार्यों की समीक्षा
21.9 सारांश
21.10 शब्दावली
21.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
21.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप जानेंगे:

- खाद्य आत्मनिर्भरता एवं खाद्य सुरक्षा की अवधारणायें;
- खाद्य सुरक्षा प्रदान करने में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की भूमिका;
- सार्वजनिक वितरण प्रणाली की कमजोरियाँ; तथा
- सार्वजनिक वितरण प्रणाली की कार्यकुशलता में सुधार के उपाय।

21.1 प्रस्तावना

आप इस तथ्य से सहमत होंगे कि समाज में कुछ मूलभूत आवश्यकतायें, जैसे, भोजन, कपड़ा और मकान उपलब्ध होनी चाहिये। इनके अतिरिक्त सुरक्षित पेय जल, स्वास्थ्य और शिक्षा जैसी आवश्यक सेवायें भी उपलब्ध होनी चाहिये। इनका उल्लेख आधारभूत आवश्यकताओं के संदर्भ में होता है । उच्च एवं मध्यम आय वर्गों के लिये अपनी आधारभूत आवश्यकताओं

को पूरा करना भले ही मुश्किल न हो, किन्तु, समाज के निर्धन वर्ग के लिये यह एक महत्वपूर्ण मुद्दा हो सकता है।

मूलभूत आवश्यकताओं की अवधारणा बहुत विस्त त है और बहुत से पक्षों को अपने में समाहित किये हुये है। फिर भी संभव है भारत की जनसंख्या के निर्धन वर्ग में पर्याप्त मात्रा में खाद्य या उपयुक्त कपड़ा और आश्रय की क्रय क्षमता न हो। ऐसी परिस्थिति में सरकार का दायित्व है कि वह आधारभूत आवश्यकतायें प्रदान करें। इस इकाई में हम भारत में निर्धन वर्ग को खाद्य सुरक्षा के प्रावधान पर चर्चा करेंगे।

21.2 खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता

आपने ''ई०ई०सी० 12 : स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात आर्थिक विकास'' में जाना कि भारतीय योजना का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य था आत्मनिर्भरता प्राप्त करना। इस संदर्भ में खाद्यान्नों की आत्मनिर्भरता की उपलब्धि अत्यंत महत्वपूर्ण है ।

आपने पूर्व इकाइयों में देखा कि योजना के प्रारम्भिक वर्षों में कृषि उत्पादन का स्तर बहुत नीचा था। साथ ही खाद्यान्न उत्पादन की व द्धि दर भी धीमी थी। खाद्य की मांग की आपूर्ति करने के लिये भारत विदेशों से खाद्यान्नों के आयात पर निर्भर था। अतः उस समय भारत खाद्यान्नों में आत्म निर्भर नहीं था। 1965 और 1966 के भीषण अकाल ने भारत को विदेशों से बड़े पैमाने पर खाद्य सहायता मांगने पर विवश कर दिया था।

21.2.1 खाद्य आत्मनिर्भरता की प्राप्ति

1960 के दशक में भारत ने हरित क्रांति तकनीक नयी उच्च पैदावार वाली में मैक्सिकन अनाज की किस्में तथा बौनी चावल की किस्मों को अपनाया जिससे कृषि उत्पादन में भारी व द्धि हुई। 1970 के दशक में भारत ने खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता प्राप्त की। तब से अपनी जनसंख्या का पेट भरने के लिये खाद्यान्नों के आयात पर भारत की निर्भरता लगभग समाप्त हो गयी।

यह सत्य है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् के वर्षों में भारत में बड़े स्तर पर अकाल से होने वाली म त्यु की दर घटी है। ब्रिटिश साम्राज्य में भारत में अकाल से म त्यु होना एक साधारण घटना थी। स्वतंत्रता से कुछ अरसे पहले ही 1943 में बंगाल में भीषण अकाल से 40 लाख व्यक्ति मरे। स्वतंत्रता के पश्चात् सूखे से बड़े पैमाने पर होने वाली मौतों की कोई घटना नहीं घटी।

अभी भी कुपोषण का प्रचलन देश के विस्त त भू-भागों में दिखाई देता है और भुखमरी से होने वाली मौत की भी खबर मिल जाती है। कई वर्षों के भारी उत्पादन और खाद्यान्न उत्पादन में आत्मनिर्भरता के बावजूद भी हमारी जनसंख्या का एक महत्त्पूर्ण भाग खाद्य सुरक्षा से वंचित है।

21.2.2 खाद्य आत्मनिर्भरता और खाद्य सुरक्षा

भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्था में, जहाँ निर्धन को भोजन का अधिकांश भाग खाद्यान्न ही होता है वहाँ खाद्य सुरक्षा का आधारभूत अर्थ होता है लोगों को आर्थिक और भौतिक रूप से खाद्यान्न सुलभ होना। जहाँ तक भौतिक सुलभता का प्रश्न है, वह उत्पादन में बढ़ोतरी करके प्राप्त की जा सकती है, या खाद्यान्नों के आयात के द्वारा भी। किन्तु यह पर्याप्त नहीं

है। खाद्य सुरक्षा के लिये आवश्यक है कि लोग खाद्य क्रय के लिये आर्थिक रूप से समर्थ हों, यानि, उनके पास पर्याप्त क्रय शक्ति हो ताकि वे आवश्यक मात्रा में खाद्य खरीद सके। हालांकि गत वर्षों में भारत खाद्य के मामलों में सुरक्षित हो गया है, फिर विश्व खाद्य संगठन का अनुभव है कि लगभग 20 करोड़ भारतवासी अभी भी ''चिरंतन खाद्य असुरक्षा'' के दुष्चक्र में फंसे हैं। इनमें सीमांत किसान, जन जातियां, दलित, भूमिहीन मजदूर और अस्थायी मजदूर शामिल हैं।

दूसरे, राष्ट्रीय या समष्टि स्तर पर खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता का आवश्यक रूप से यह अर्थ नहीं है कि राज्य या प्रादेशिक स्तर पर भी आत्मनिर्भरता है। भारत में केवल 5 राज्यों में ही अतिरिक्त खाद्य उत्पादन होता है जबकि अन्य राज्य खाद्य की कमी वाले राज्य हैं। खाद्य सुरक्षा बनाये रखने के लिये अतिरिक्त बचे हुये अन्न वाले राज्यों से कमी वाले राज्यों में निर्बाध प्रवाह होना चाहिये।

तीसरे, उच्चतर खाद्यान्न उत्पादन से खाद्य सुरक्षा की समस्या स्वतः हल नहीं होता। इससे यह गारंटी नहीं होती कि जरूरतमंद को खाद्यान्न उपलब्ध है। ऐसी स्थिति तब पैदा होती है जब निर्धन लोग आय या क्रय क्षमता के अभाव के कारण, पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न नहीं खरीद पाते। इस दशा में खाद्य अधिक्य की बहुत ही भ्रामक स्थिति का निर्माण हो जाता है।

21.2.3 कुपोषण का प्रचलन

भौतिक एवं आर्थिक तौर पर खाद्य तक पहुँच से यह तात्पर्य नहीं है कि लोगों को संतुलित भोजन मिल रहा है। ऐसी स्थिति की परिणति कुपोषण में होती है। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि निर्धन परिवारों के लोग ऐसा भोजन खरीदने की स्थिति में न हो जो पर्याप्त कैलोरी से युक्त हों।

भारत के आधे से अधिक महिलायें और बच्चे कुपोषण का शिकार होने के कारण ये समस्याएं महत्वपूर्ण है। 15-49 वर्ष के आयु वर्ग की महिलायें और तीन चौथाई बच्चे रक्त क्षीणता के शिकार हैं। एक ORG - MARG के सर्वेक्षण के अनुसार प्रायः 1/5 ग्रामीण परिवार भुखमरी का सामना करते हैं 14 प्रतिशत परिवारों की एक दिन में दो जून का भोजन भी नहीं मिलता। राष्ट्रीय परिवारों के स्वास्थ्य सर्वेक्षण 1999 - 98 के ताजा सर्वेक्षण आंकड़े दर्शाते हैं कि 0-4 आयु वर्ग के 47 प्रतिशत बच्चे आयु व भार के मापदंड पर कुपोषित सिद्ध होते हैं। राष्ट्रीय पोषण अनुवीक्षण ब्यूरो के दस राज्यों की ग्रामीण जनसंख्या से एकत्रित आंकड़ों के अनुसार केवल आधे वयस्कों की पोषण स्थिति सामान्य है जबकि शेष विभिन्न स्तरों पर चिरकालिक शक्ति क्षीणता से ग्रस्त थे।

21.3 खाद्यान्नों का उत्पादन एवं उपलब्धता

भारत में सम्पूर्ण उत्पादित खाद्यान्न उपभोग के लिये उपलब्ध नहीं होता है। इसका एक भाग अगले वर्ष बीज के लिये प्रयोग होता है जबकि गलत भंडारण और परिवहन के दौरान क्षय के कारण खाद्यान्न का कुछ भाग व्यर्थ हो जाता है। फिर उत्पादित खाद्यान्नों का कुछ भाग मवेशियों के चारे के लिये जरूरी होता है। शेष भाग, जो कि मनुष्यों के उपभोग हेतु उपलब्ध है, वही निवल उत्पादन कहलाता है। भारतीय संदर्भ में कुल खाद्यान्न उत्पादन का लगभग 87.5 प्रतिशत मनुष्यों के उपभोग के लिये उपलब्ध है जबकि 12.5 प्रतिशत खाद्यान्न उत्पादन का प्रयोग बीज या चारे के लिये होता है, या व्यर्थ हो जाता है।

खाद्यान्नों की उपलब्धता उत्पादन से भिन्न भी हो सकती है। उत्पादन से अधिक उपलब्धता दो माध्यमों से होती है पहला विदेशों से अन्न आयात करके उपलब्धता बढ़ाई जा सकती है। दूसरी ओर निर्यात से उपलब्धता घट सकती है।

दूसरे, व्यक्तियों या सरकार के द्वारा खाद्यान्न का भंडार भी किया जाता है। एक खास वर्ष में विद्यमान भंडार से खाद्यान्न निकालकर उपलब्धता बढ़ाई जा सकती है। अतः भंडार में परिवर्तन से भी उपलब्धता पर प्रभाव पड़ता है।

पूर्व दशक की अपेक्षा 1990 के दशक में कृषि उत्पादन में काफी मंदी आई है। 1980 के दशक में प्रतिवर्ष 3.2 प्रतिशत की तुलना में 1990 के वर्षो में केवल 1.5 प्रतिशत की दर से खाद्य उत्पादन बढ़ा, जो कि जनसंख्या व द्धि दर से कम है। 1990 में अधिकतर वर्षों में सामान्य मानसून वर्षा होने के बाद भी पैदावार में यह गिरावट दिखाई पड़ी है।

तालिका 21.1 : खाद्यान्न की निबल उपलब्धता, सरकारी खरीद एवं सार्वजनिक वितरण

(दस लाख टन)

वर्ष	निवल उत्पादन	निवल आयात	निवल उपलब्धता	सरकारी खरीद	सार्वजनिक वितरण	उपलब्धता में आयात का %	उत्पादन में से सरकारी खरीद का %
1	2	3	4	5	6	7	8
1960-61	72.0	3.5	75.7	0.5	4.0	4.6	0.7
1970-71	94.9	2.0	94.3	8.9	7.8	2.1	9.3
1980-81	113.4	0.7	114.3	13.0	13.0	0.6	11.4
1990-91	154.3	(-)0.1	158.6	19.6	21.8	ऋणात्मक	12.7
2000-01	182.8	(-)1.4	167.5	35.5	12.8	(-)0.8	19.7
2001-02	171.6	(-)2.7	156.3	42.2	11.3*	(-)1.7	24.6

* नवम्बर 2001 तक

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण

जैसा कि आप बाद में देखेंगे, सरकार खाद्यान्नों की खरीद या वसूली बाजार से करती है और भंडारण करती है। ऐसे भंडार रखने का उद्देश्य मूल्य स्थिर रखना और निश्चित करना है कि भोजन निर्धन की पहुँच में रहे। 1990 में खाद्यान्न की व द्धि दर जनसंख्या व द्धि दर से कम थी। ऐसी स्थिति में अधिक मांग के कारण खाद्यान्न के भंडारों में ह्रास होना चाहिये था। किंतु ऐसा नहीं हुआ बल्कि खाद्यान्न के भंडार में व द्धि हुई। तालिका 21.1 से आप देख सकते हैं कि निवल उत्पादन प्रतिशत के रूप में वसूली 1970-71 के 9.3 प्रतिशत से 2001-02 में 25 प्रतिशत पर पहुँची। अनुकूल व द्धि की अनुपस्थिति में सार्वजनिक वितरण के लिए उपलब्ध सरकारी खाद्यान्न भंडार 2002 में 580 लाख टन तक बढ़ गया ।

खाद्य उत्पादन व द्धि की धीमी गति और बढ़ते खाद्यान्न भंडार के परिणामस्वरूप जनता को उपलब्ध खाद्यान्नों की मात्रा 1991 के प्रति दिन प्रति व्यक्ति के औसत 510 ग्राम से गिर कर 2000 में 458 ग्राम पहुँच गई (देखें तालिका 21.2)। अनंतिम अनुमानों के अनुसार वर्ष 2001 में प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन उपलब्धता मात्र 417 ग्राम है। प्रोटीन के मुख्य स्रोत, दालों की प्रति व्यक्ति उपलब्धता में भारी गिरावट आई है। यह 1961 की प्रतिव्यक्ति 67 ग्राम से घट कर 2000 में 32 ग्राम रह गयी। अनंतिम अनुमानों के अनुसार 2001 में यह मात्र 26.4 ग्राम रह गई थी।

यह तर्क दिया जाता है कि प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपभोग में कमी आ रही है क्योंकि खाद्यान्नों के अतिरिक्त अन्य खाद्य वस्तुओं, जैसे फल सब्जी, दूध-मछली, अंडे और मांस आदि के प्रयोग में व द्धि हो रही है। पारिवारिक उपभोग पर राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण का 55 वाँ मण्डल (1999 - 2000) दर्शाता है कि खाद्य पर उपभोग व्यय का हिस्सा घट रहा है, खाद्य में भी विशेषकर खाद्यान्न पर। अन्य अन्वेषकों ने हालांकि संकेत किया है कि पशु पालन से संबंधित उत्पादन (दूध, अंडा और मांस) की बढ़ोत्तरी का तात्पर्य है पशु भरण पोषण की बढ़ती आवश्यकतायें। अतः अर्थव्यवस्था में अन्न की कुल मांग घटने की अपेक्षा वास्तव में बढ़नी चाहिये।

नवम पंचवर्षीय योजना के दस्तावेज के अनुसार अखिल भारतीय स्तर पर ग्रामीण क्षेत्रों में लोग औसतन कुल खर्च का 63 प्रतिशत भोजन पर व्यय करते हैं और नगरों में लगभग 55 प्रतिशत भोजन पर खर्च करते हैं। खाद्यान्नों पर होने वाला व्यय ग्रामीण क्षेत्रों में 45 प्रतिशत और नगरीय क्षेत्रों में 32 प्रतिशत के लगभग बैठता है। जनसंख्या का निम्नतम आय वाला 30-40 प्रतिशत वर्ग अपने कुल व्यय का 70 प्रतिशत से अधिक भोजन पर खर्च करता है। इस वर्ग में ग्रामीण लोग खाद्यान्न पर 50 प्रतिशत आय तथा शहरी 40 प्रतिशत आय से अधिक खर्च करते है।

तालिका 21.2 : दालों व अनाजों की कुल उपलब्धता

प्रति व्यक्ति निवल उपलब्धता प्रतिदिन (ग्राम)			
वर्ष	**अनाज**	**दालें**	**कुलयोग**
1961	399.7	69.0	468.7
1971	417.6	51.2	468.8
1981	417.3	37.5	454.8
1991	468.5	41.6	510.1
2000	426.0	32.0	458.0

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण

कृषि मूल्य

हाल के वर्षों में खाद्य क्षेत्र में बाजार शक्तियों के प्रभुत्व में व द्धि देखी गयी है। इनके कारण (निरन्तर बढ़ते खरीद मूल्यों की सरकारी नीति सहित) खाद्य मूल्य आकाश को छू रहे हैं। परिणामस्वरूप देश के करोड़ों परिवारों की खाद्य सुरक्षा खतरे में पड़ गई है।

यद्यपि अर्थव्यवस्था में मुद्रा स्फीति की वर्तमान दर नीची है, तथापि 1990 के दशक के दौरान ऊंची मुद्रास्फीति दर ने अधिकतर आवश्यक पदार्थो के, विशेषकर खाद्य पदार्थो के, मूल्य स्तर में तीव्र व द्धि की है। 1990 के दशक के दौरान कृषि एवं औद्योगिक उत्पादों की थोक मूल्य सूचक की प्रव त्ति दर्शाती है कि कृषि उत्पादों के मूल्यों में औद्योगिक उत्पादों की अपेक्षा ऊंची दर से व द्धि हुई है (देखें तालिका 21.3)। खाद्यान्नों का मूल्य जीवन स्तर के सबसे महत्वपूर्ण निर्धारकों में से एक है । इसका लोगों की वास्तविक आय पर मुख्य रूप से प्रभाव पड़ता है। अपेक्षाकृत निर्धन वर्गों पर तो इसका दुष्प्रभाव बहुत ही भीषण हो जाता है जिनकी आय मुख्यतः खाद्यान्न पर ही व्यय होती है।

तालिका 21.3 : उत्पादित वस्तुओं से संबंधित कृषि पदार्थो के थोक मूल्यों के सूचकांक

(आधार : 1993 - 94 = 100)

वर्ष	कृषि पदार्थ	औद्योगिक पदार्थ	कृषि सूचक ÷ औद्योगिक सूचक
1994 -95	116.1	112.3	103.3
1995 -96	126.0	121.9	103.3
1996 -97	136.4	124.4	109.7
1997 -98	140.3	128.0	109.6
1998 -99	157.2	133.6	117.7
1999 -00	159.1	137.2	116.0
2002 -01	163.7	141.7	115.5

स्रोतः खाद्य और खाद्य इतर पदार्थों के अनु समूहों का सम्मिलित सूचक : आर्थिक सर्वेक्षण

अतः यह आवश्यक हो गया है कि निर्धनों की खाद्यान्न मूल्यों में निरन्तर व द्धि से रक्षा की जाए। फिर भी खाद्यान्न मूल्यों पर उर्ध्व दवाब हमारी व्यवस्था का अन्तर्जनित तथ्य है। खाद्यान्नों के खरीद मूल्य में हर वर्ष व द्धि होती रही है। जिसके लिये तर्क दिया जाता है कि इससे किसानों का पैदावार बढ़ाने के लिये प्रोत्साहन मिलता है।

बोध प्रश्न 1

1) खाद्यान्न सुरक्षा से क्या तात्पर्य है ? क्या खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता खाद्य सुरक्षा की गारंटी है ?

....

....

....

....

....

2) हमारे समाज के निर्धनतर वर्ग में कुपोषण की प्रसार कितना व्यापक है?

....

....

....

....

....

3) देश में खाद्य उत्पादन की संव द्धि की प्रव तियों का वर्णन कीजिये। हाल ही के वर्षो में खाद्य उत्पादन की धीमी व द्धि का अन्न एव दालों की प्रति व्यक्ति निवल उपलब्धता पर क्या प्रभाव पड़ा है ?

....

....

....

....

....

21.4 सार्वजनिक वितरण प्रणाली के उद्देश्य

सार्वजनिक वितरण प्रणाली (PDS) के तीन प्रमुख उद्देश्य हैं (1) मूल्य स्थिरता (2) कृषकों को उचित मूल्य प्रदान, और (3) खाद्यान्न आधिक्य (surplus) वाले प्रदेशों से अभाव (deficit) वाला प्रदेशों और निर्धनों तक वितरण के माध्यम से खाद्यान्न सुलभ कराना। आपने देखा होगा कि फसल कटाई के तुरन्त बाद बाजार में अधिक आपूर्ति होने के कारण दामों में कमी आती है। मध्यम एवं छोटे किसान अपने उत्पादन को मांग के अभाव कारण दवाब में आकर कम दामों में बेचने को बाध्य हो जाते है। स्थानीय व्यापारी ऐसे समूहों का शोषण करते है और उन्हें उनकी उपज के कम दाम देते हैं। सरकार द्वारा खाद्यान्नों की खरीद से कृषकों को उचित मूल्य देने में सहायक होती है। इसी प्रकार, अल्पकालिक कमी के दौरान सार्वजनिक वितरण प्रणाली महत्वपूर्ण कार्य करती है। यह बाजार में आपूर्ति बढ़ाकर तीव्र मूल्य व द्धि से बचाती है। अतः सार्वजनिक वितरण प्रणाली (PDS) मूल्यों को स्थिर रखने के साथ-साथ कृषकों को सहारा देने का कार्य करती है। इसके अतिरिक्त अन्न आधिक्य वाले राज्यों से अभाव वाले राज्यों में खाद्यान्न के स्थानान्तरण की आवश्यकता होती है, जिसका प्रबन्ध सार्वजनिक वितरण व्यवस्था (PDS) करती है।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली निर्धन को आवश्यक पदार्थों की बढ़ती कीमतों के प्रभाव से बचाये रखने और उनके न्यूनतम पोषण स्तर को बनाये रखने के लिये है। खाद्यान्नों के लिए आधुनिक सार्वजनिक वितरण व्यवस्था की स्थापना 1965 में सम्पूर्ण खाद्य प्रबन्धन नीति के एक भाग के रूप में की गयी थी।

देश की खाद्य प्रबन्धन नीति का एक पक्ष सुरक्षित भण्डार (buffer stock) को बनाए रखना है। इससे सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक 'अवयव' का गठन होता है। यह सुरक्षित भण्डार एक आधारभूत और सर्वाधिक लचीला माध्यम प्रदान करता है जिससे उत्पादन की कमी और पूर्ति के अल्पकालिक प्रभावों को संतुलित किया जाता है। एक वर्ष में निर्धारित सुरक्षित भन्डार जुलाई में 243 लाख टन के अधिकतम से अप्रैल में 208 लाख टन के न्यूनतम तक जाता है।

21.4.1 प्रचालन पक्ष

सार्वजनिक वितरण प्रणाली का संचालन केन्द्र और राज्य सरकारों का सांझा उत्तरदायित्व है। आवश्यक वस्तुओं जैसे, गेहूं, चावल, चीनी, आयातित खाद्य तेलों और मिट्टी तेल की खरीद, भंडारण, परिवहन तथा कुछ राज्यों को इनका थोक में आबंटन करना केन्द्रीय

सरकार का उत्तरदायित्व है। ये वस्तुएं केन्द्र सरकार द्वारा निर्धारत किये गये केन्द्रीय निर्गत मूल्यों (central issue price) पर उपलब्ध कराई जाती है जिनका निर्धारण केन्द्र सरकार करती है। फिर भी, केन्द्रीय निर्गत मूल्य खाद्यान्नों के आर्थिक मूल्यों से कम रहे हैं, जिसमें क्रय, भंडारण और परिवहन व्यय भी शामिल है। अतः सार्वजनिक वितरण प्रणाली में वह साहाय्य (subsidy) भी सम्मिलित होते हैं जिनका वहन केन्द्रीय सरकार करती है। राज्य सरकारें 4,63,000 उचित मूल्य दुकानों (fair price shop) के माध्यम से उपभोक्ताओं, जिसमें लक्ष्य समूह (Target group) भी सम्मिलित है, में इन वस्तुओं को वितरित करने के लिए उत्तरदायी है।

21.4.2 सरकारी खरीद व्यवस्था

भारतीय खाद्य निगम खाद्यान्नों के खरीदारी, भंडारण, और वितरण के लिए मुख्य अभिकरण है। भारतीय खाद्य निगम (FCI) राज्य खरीद अभिकरणों के सहयोग से खाद्यान्नों (गेहूं, धान और मोटे अनाजों) की संग्रहण करता है। चावल को मिल मालिकों और डीलरों से वैधानिक उगाही व्यवस्था के अन्तर्गत प्राप्त किया जाता है। समर्थन मूल्य के आधार पर खाद्यान्न की वसूली दो प्रयोजन सिद्ध करती है : कृषकों को लाभकारी मूल्य देना और खाद्यान्नों के सुरक्षित भंडार का निर्माण करना।

गेहूं, धान और मोटे अनाजों को अन्न आधिक्य वाले राज्यों में से भारतीय खाद्य निगम/राज्य अभिकरणों द्वारा खोले गए क्रय केन्द्र के माध्यम से प्राप्त किया जाता है। राज्य सरकारों के अभिकरणों द्वारा प्राप्त मात्रा को भारतीय खाद्य निगम प्रासंगिक खर्चे इत्यादि देकर अपने अधिकार में ले लेता है। रबी की फसल का बाजार हर वर्ष 1 अप्रैल को प्रारम्भ होता है। 45 दिनों के भीतर थोक की वसूली पूर्ण कर ली जाती है।

वैधानिक उगाही के द्वारा चावल की खरीद –चावल की मिलों में तैयार चावल का एक निश्चित प्रतिशत मिल मालिकों को भारतीय खाद्य निगम को देना पड़ता है। वैधानिक उगाही पांडिचेरी में 10 प्रतिशत से हरियाणा, पंजाब, उड़ीसा में 75% तक है। समर्थन मूल्य खरीफ की फसल के बाजार में आने से पहले ही घोषित कर दिये जाते हैं जो कि प्रत्येक वर्ष 1 अक्टूबर को प्रारम्भ होता है ।

फिर भी सार्वजनिक वितरण प्रणाली, निर्धन को खाद्य सुरक्षा प्रदान करने में बहुत सफल नहीं रही है। पिछले कुछ वर्षों में सार्वजनिक वितरण प्रणाली का महत्व कम हुआ है, जिसका कारण है केन्द्र द्वारा खाद्यान्न के निर्गत मूल्य में खरीद मूल्यों के अनुपात से अधिक व द्धि। (देखें तालिका 21.4 और 21.5)। वर्ष 1991 92 में गेहूं का न्यूनतम समर्थन (खरीद) मूल्य 277 रू० प्रति क्विंटल था जो 2000–2001 में बढ़कर 610 रू० हो गया। 2001–2002 रबी के लिये गेहूं का न्यूनतम समर्थन मूल्य 621 रू० प्रति क्विंटल तय किया गया। इसी तरह की व द्धि धान के मूल्य में भी हुई है।

खरीद मूल्य के वास्तविक लाभभागी गेहूं और चावल अधिक उगाने वाले चार राज्यों के किसान हैं जिनसे लगभग 90 प्रतिशत संग्रहण होती है। आंध्र प्रदेश और हरियाणा चावल देने वाले बड़े राज्य हैं जबकि पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश से थोक में गेहूं बड़ी मात्रा में मिलता है। आर. राधाकृष्ण के अनुसार सम द्ध राज्यों जैसे पंजाब और हरियाणा की समर्थ फार्म लॉबी की धींगामुश्ती ने बड़ी मात्रा में देश के अन्य भागों में रहने वाले कृषकों को क्षति पहुंचायी है।

तालिका 21.4 : गेहूं और धान के न्यूनतम समर्थन/खरीद मूल्य

रू०/ क्विंटल

फसल वर्ष	गेहूं	धान (सामान्य किस्म)
1991 –1992	275	230
1992 –1993	330	270
1993 –1994	350	310
1994 –1995	360	340
1995 –1996	380	360
1996 –1997	475	380
1997 -1998	510	415
1998 -1999	550	440
1999 –2000	580	490
2000 –2001	610	510
2001 -2002	620	530

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण

21.5 सार्वजनिक वितरण प्रणाली

कुछ वर्ष पूर्व तक सार्वजनिक वितरण प्रणाली सभी उपभोक्ताओं के लिये सहज सुलभ थी। इस योजना में बहुत सी कमियां थी। योजना आयोग के अनुसार बढ़ते हुये खाद्य साहाय्य भार के उपरांत भी यह व्यवस्था देश द्वारा अर्जित समष्टि स्तरीय खाद्यान्न आत्मनिर्भरता को निर्धन के लिये परिवार स्तरीय खाद्य सुरक्षा में परिवर्तित करने में असफल रही। ऐसी व्यवस्था में, जिसकी पहुंच गरीब और अमीर सब तक थी, सार्वजनिक वितरण प्रणाली की आपूर्ति एक परिवार की कुल आवश्यकता का केवल एक छोटा भाग ही बन पाई। सार्वजनिक वितरण प्रणाली का अन्य दुष्परिणाम था अधिकतम गरीबी वाले राज्यों, जैसे, उड़ीसा, बिहार, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में प्रति व्यक्ति सार्वजनिक वितरण प्रणाली निर्गत खाद्यान्न का निम्नतम होना। इस प्रकार सर्वसुलभ सार्वजनिक वितरण प्रणाली निर्धनतर राज्यों से निर्धन की सेवा नहीं कर पायी। व्यवस्था को लक्ष्यात्मक (Targetted) बनाने की आवश्यकता महसूस की गयी ताकि आर्थिक सहायता का लाभ केवल उन वर्गों को मिले जिनकी राज्य रक्षा करना चाहता है। लक्ष्यात्मक व्यवस्था की आवश्यकता इसलिये भी अनुभव की गयी जिससे कुल खाद्य की आर्थिक सहायता को न्यूनतम आवश्यक स्तर तक रखा जा सके।

21.5.1 सार्वजनिक वितरण प्रणाली के लक्ष्यित समूह

जून 1997 में लक्ष्यित सार्वजनिक वितरण व्यवस्था (TPDS) प्रारंभ की गयी जिसके अन्तर्गत सार्वजनिक वितरण प्रणाली के दो अधिकृत निर्गत मूल्यों की घोषणा की गयी। गरीबी की रेखा से ऊपर (APL) रहने वाले परिवारों और गरीबी की रेखा से नीचे (BPL) रहने वाले परिवारों के लिये। अलग-अलग मूल्य निर्धारित किए गए। लक्ष्यात्मक सार्वजनिक प्रणाली में तब से दोनों मूल्यों (गरीबी की रेखा से नीचे व ऊपर) कई बार परिशोधन किये गये हैं।

तालिका 21.5 : गेहूं, धान का निर्गत कीमत

रू०/ क्विंटल

वर्ष	गेहूं	धान
1990–91	234	289
1991–92	280	377
1992–93	280	377
1993–94	330	437
1994–95	402	537
1995–96	402	537
1996–97	402	537
1997-98		
BPL	250	350
APL	450	700
1998-99		
BPL	250	350
APL	450	905
1999–2000		
BPL	250	350
APL	682	905
2000–2001		
BPL	415	565
APL	830	1130
2001-2002		
BPL	415	565
APL		
	610	830
भारतीय खाद्य निगम का आर्थिक मूल्य		
1997–98	799	937
1998–99	800	995
1999–00	872	1111
2000-01	830	1148
2001–02	839	1174

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण 2001–02

खाद्य साहाय्य में कटौती करने के लिये 2000–01 के केन्द्रीय बजट में प्रस्तावित सार्वजनिक वितरण व्यवस्था के निर्गत मूल्यों के संशोधन का निर्धन की खाद्य सुरक्षा पर दूरगामी कठोर प्रभाव पड़ेंगे। सरकार ने निधर्नता की रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों के लिये आर्थिक लागत का 50 प्रतिशत और गरीबी रेखा के ऊपर के परिवारों के लिये किफायती लागत पर खाद्यान्नों का निर्गत मूल्य निश्चित किया है। फलस्वरूप सार्वजनिक वितरण प्रणाली में गेहूं का बिक्री मूल्य निर्धन रेखा के नीचे और निर्धन रेखा के ऊपर के परिवारों के लिये अत्प्रत्याशित रूप से बढ़ा। यह वास्तव में सार्वजनिक वितरण व्यवस्था मूल्यों में अब तक की

सर्वाधिक व द्धि रही है। इस प्रकार सार्वजनिक वितरण प्रणाली खुले बाजार की बढ़ती कीमतों से निर्धन को बचाने की बजाय कीमते बढ़ाने का माध्यम बन गयी है।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली में खाद्यान्नों की कीमत में उछाल के परिणामस्वरूप इसकी की कीमतों और खुले बाजार की कीमतों का अंतर बहुत कम रह गया है। वास्तव में प्रायः बाजार मूल्य सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से गरीबी रेखा से ऊपर की गेहूं की कीमतों की अपेक्षा कम होता है। इसका कारण भारतीय खाद्य निगम के संचालन में होने वाली अकुशलता ही है जिसने FCI की आर्थिक लागत (प्रापण भंडारण और परिवहन पर खर्च मिलाकर वाली) को खुले बाजार की कीमतों से अधिक कर दिया है। भारतीय खाद्य निगम के प्रबंधन और भंडारण शुल्क बहुत ही अधिक हैं। पिछले कई वर्षो से भारतीय खाद्य निगम का माल रखने का वार्षिक शुल्क तीव्रता से बढ़ रहा है। यह 2001–2002 में 135.18 लाख था। अब खाद्यान्न के सुरक्षित भण्डार पर होने वाला सरकारी खर्च इसके कृषि, ग्रामीण विकास, सिंचाई और बाढ़ नियंत्रण, सम्पूर्ण नियोजित और अनियोजित परिव्यय से अधिक है। आर्थिक लागत और उपभोक्ता साहाय्य का अंतर केन्द्र सरकार वहन करती है। उपभोक्ता सहाय्य और सुरक्षित भंडार का वहन मूल्य कुल खाद्य सहाय्यों में जुड़ता है। खाद्य साहाय्य की यह भारी मात्रा भी खाद्य कीमतों को उच्च स्तर पर बनाए रखने में सहायक होती है।

21.5.2 सार्वजनिक वितरण प्रणाली से निर्गत

कई वर्षों से सार्वजनिक वितरण प्रणाली से खाद्यान्नों की कुल बिक्री कम हो रही है। जब भी कुल बिक्री खरीद से कम होती है तो अनजाने में ही यह व्यवस्था सारी बाजार पूर्ति को कम करके कीमत बढ़ा देती है। दूसरी ओर खाद्यान्नों के सरकारी खरीद में व द्धि की प्रव ति दिखाई दे रही है। जिसके कारण भारतीय खाद्य निगम के खाद्यान्नों के भंडार अनियन्त्रणीय स्तरों पर पहुंच चुके हैं। अब खाद्यान्नों के भंडार 600 लाख टन से ऊपर हैं। अनदेखे तत्वों से होने वाली समस्याओं से निपटने के लिये देश को जनवरी के माह में 168 लाख टन से अधिक के सुरक्षित भंडार की आवश्यकता नहीं है। फालतू भंडार का प्रबंधन राष्ट्र के लिए बहुत खर्चीला सिद्ध हो रहा है। हालांकि देश में कुपोषण और अर्ध भुखमरी की समस्याएं बहुत फैली है, भारतीय खाद्य निगम का खाद्य भंडार मूलतः लोगों की क्रय शक्ति में कमी के कारण बढ़ रहा है। बहुत बड़ा खाद्यान्न भंडार एक भ्रम मात्र पैदा करता है।

तालिका 21.6 : खाद्यान्न वसूली, सा. वि. व्यवस्था से निर्गत तथा केन्द्रिय भंडार

वर्ष	वसूली (केन्द्रीय भंडार)	निर्गत, सा.वि. व्यवस्था	केन्द्रीय भंडार
1996–97	20.38	19.66	20.0
1997–98	23.63	16.98	18.2
1998–99	24.49	18.69	24.2
1999–00	31.41	17.07	31.4
2000–01	35.45	11.72	45.7
2001–02*	33.96	8.38	58.0

निर्गत मूल्य में लगातार व द्धि के कारण सार्वजनिक वितरण प्रणाली से खाद्यान्नों की कुल बिक्री में भारी गिरावट आई है। निर्धनता की रेखा से ऊपर (APL) के वर्ग द्वारा खरीद तो बिल्कुल बंद सी है, क्योंकि सरकारी नीति के तहत इन परिवारों को खाद्यान्न आर्थिक लागत मूल्य पर बेच रही है। सरकारी नीति ने गरीबी की रेखा से ऊपर की जनसंख्या को सार्वजनिक वितरण प्रणाली से पूरी तरह से हटा दिया है। बड़े भंडार की समस्याओं का

सामना करते हुये सरकार ने जुलाई 2001 में गेहूं और चावल के दाम 30 प्रतिशत कम करके सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से गरीबी की रेखा से ऊपर के परिवारों को बेचा।

21.5.3 अतिशष भंडार के परिणाम

भारत के महानियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (CAG) ने सरकार की खरीद और वितरण नीति की कड़ी आलोचना की है । दिसम्बर 2000 में प्रकाशित एक पत्र में महानियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (CAG) ने कहा है कि खरीद की नीति, जो आवश्यकताओं को ध्यान में नहीं रखती, के बहुत से हानिकारक परिणाम हुये हैं। पहला, इसने उपभोक्ताओं को अनाज की सुगम उपलब्धता से वंचित रखा । यदि खाद्यान्न को उस हद तक सरकार द्वारा खरीदा न गया होता तो एक बड़ी मात्रा में वह बाजार में उपलब्ध होता। दूसरा, ऐसा नहीं था कि अतिरिक्त खरीद सुरक्षित भंडार को बढ़ाने के लिये की गयी। खाद्यान्नों का भंडार तो पहले ही नियमों से कहीं बहुत ही अधिक था और इस अतिरिक्त भंडार का अतिरिक्त शुल्क लगभग 1200 करोड़ रू० था (1993- 94 और 1997- 98 के मध्य में)। तीसरा, आवश्यकता से अधि ाक खरीद ने मूल्यों पर बुरा प्रभाव डाला। यदि अतिरिक्त पूर्ति बाजार में उपलब्ध होती तो उसका मूल्यों पर संतुलनकारी प्रभाव पड़ता। अंततः यह सभी जानते हैं कि अन्य बातें स्थिर रहने पर भंडारण के अन्तर्गत वाले नुकसान भंडारण की अवधि पर निर्भर हैं। जितनी देर भंडारण उतना अधिक नुकसान ।

गेहूं और चावल के निरंतर व द्धिशील न्यूनतम समर्थन मूल्य ने पंजाब और हरियाणा जैसे बड़े गेहूं उत्पादन करने वाले राज्यों में कृषकों को फसल की विविधता नहीं अपनाने दी। परिस्थितिकीय रूप से गेहूं चावल का चक्र अधारणीय है पर अन्य उपलब्ध विकल्पों की अपेक्षा आर्थिक रूप से अधिक लाभप्रद है। धान का ऊंचा खरीद मूल्य इन राज्यों में किसानों को धान (जो कि उच्च जल की मात्रा वाली फसल है) उगाने के लिये प्रोत्साहित करता है। हालांकि यह वास्तविकता है कि ये प्रदेश दीर्घकालिक धारणीयता की द ष्टि से चावल उत्पादन के लिये उपयुक्त नहीं है। अभिजीत सेन कमेटी की दीर्घकालिक अन्न प्रबंधन पर रिपोर्ट इस एक फसल रणनीति को पर्यावरणीय तौर पर अधारणीय पाती है। किसानों को मुफ्त बिजली मिलने से भूमिगत जन दुर्लभ साधन का दुरूपयोग होता है। सिंचाई के लिये भूमिगत जल के भारी उपयोग के फलस्वरूप इन प्रदेशों में जल का स्तर नीचे चला गया है। अब कृषकों को जल से अधिक गहरी खुदाई करनी पड़ती है जिससे सिंचाई लागत में भारी व द्धि हुई है।

21.5.4 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का विकेन्द्रीकरण

सरकार ने 2001-02 के बजट में खाद्य अर्थव्यवस्था के प्रबंधन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन का प्रस्ताव रखा। प्रस्ताव यह था कि भविष्य में केन्द्र बहुत छोटी भूमिका अदा करें। साहाय्य युक्त खाद्यान्न देने के स्थान पर राज्य सरकारों को वित्तीय सहायता दी जाये ताकि राज्य सरकारें खाद्यान्न को प्राप्त कर उन्हें साहाय्यपूर्ण मूल्यों पर गरीबी की रेखा के नीचे परिवारों को वितरित कर सके। भारतीय खाद्य निगम का उत्तरदायित्व खाद्य सुरक्षा आरक्षिति को बनाये रखने के लिये खाद्यान्न प्राप्त करने तथा उन राज्य सरकारों तक पहुंचाने के लिये जो उसे इन कार्यो के लिये नियुक्त करती है, तक ही सीमित है। फिर भी अधिकतर राज्यों की बुरी वित्तीय अवस्था को देखते हुये यह कल्पना करना कठिन है कि राज्य सरकारें इस महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व का पर्याप्त निर्वाह कर सकेगी। अधिकतर राज्य अब कर्ज के जाल में बुरी तरह फंसे हैं। वे तो अपने कर्मचारियों के वेतन के लिये भी उधार ले रहे हैं ।

सरकार अब तक खाद्यान्नों की संग्रहण के विकेन्द्रीकरण की परिवर्तित नीति को लागू करने में असमर्थ रही है। विकेन्द्रित संग्रहण केवल कुछ ही राज्यों (उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और

पश्चिमी बंगाल) में प्रारम्भ हुई है। पंजाब, हरियाणा और आंध्र प्रदेश (जो अधिशेष वाले राज्य हैं) की सरकारें और केरल (कमी वाले राज्य) विकेन्द्रित खरीदारी के आधारभूत दर्शन के ही विरूद्ध हैं। ये राज्य, राज्यों के पास उपलब्ध वित्तीय साधनों और आवश्यक आधारिक संरचना के अभाव की ओर इंगित करते हैं । इन अभावों को दूर करने का उपाय किये बिना विकेन्द्रित खरीद रूप से कम वसूली होने या न के बराबर खरीदारी की संभावना बढ़ेगी, जो राज्य के किसानों के हितों के विरूद्ध होगा (जो दुखी होकर दबाब के अन्तर्गत बिक्री के लिये बाध्य होंगे)। ऐसी व्यवस्था के लाभभागी केवल व्यापारी होंगे। दीर्घकालिक अन्न नीति पर अभिजीत सेन की अध्यक्षता में एक उच्च स्तरीय समिति ने अपनी रिपोर्ट में भारतीय खाद्य निगम द्वारा वर्तमान न्यूनतम समर्थन मूल्य पर आधारित खरीद सीमा निर्धारित किए बिना खरीदारी की वर्तमान व्यवस्था को जारी रखने की सिफारिश की है। समिति ने किसानों द्वारा वहन की गयी वास्तविक उत्पादन लागतों को प्रतिबिंबित करने वाले न्यूनतम समर्थन मूल्य की वकालत भी की है।

21.6 खाद्य सुरक्षा संबंधी क्षेत्र कल्याण योजनाएं

रियायती मूल्यों पर गरीब परिवारों में खाद्यान्नों के वितरण के अलावा सरकार ने कई अन्नाधारित कल्याणकारी योजनाऐं लागू की है। ये योजनाएं निर्धनतम परिवारों के साथ-साथ अपंग और बुजुर्गों, (जिनके पास नियमित आय का संबल नहीं है,) को भी ध्यान रखती है।

दिसम्बर 2000 में सरकार ने अन्त्योदय अन्न योजना प्रारम्भ की जिसका उद्देश्य एक करोड़ निर्धनतम परिवारों (6.5 लाख गरीबी की रेखा से नीचे के परिवारों में से) को 2 रू० प्रति किलों गेहूं और 3 रू० प्रति किलो चावल के सस्ते मूल्यों पर प्रति परिवार प्रति माह 25 किलो खाद्यान्न देना है। निर्धन परिवारों में निर्धनतम परिवार की पहचान करने का कार्य ग्राम पंचायतें और ग्राम सभाएँ करती हैं। सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अन्य तत्वों के विपरीत, यह कार्यक्रम भली भांति कार्य कर रहा है। वैसे यह व्यवस्था गरीबी पर कोई सुनिश्चित प्रभाव छोड़ने के लिये तो अति सीमित है। इसके दायरे में देश के गरीबों का केवल एक छोटा वर्ग ही आता है। जहाँ एक परिवार की खाद्य आवश्यकता 50 किलो प्रतिमाह है वहां 25 किलो केवल आधी मासिक आवश्यकता को पूरा करता है। खाद्यान्नों के भंडार में भी अन्त्योदय योजना से कोई महत्वपूर्ण घटाव नहीं आने वाला है क्योंकि इसके 600 लाख टन से भी ऊपर के भंडार में से अधिक से अधिक 30 लाख टन का निर्गम संभव होगा।

सरकार ने ग्रामीण विकास मंत्रालय के अंतर्गत 2000 - 01 से अन्नपूर्णा योजना प्रारम्भ की है जिसके अन्तर्गत ऐसे निर्धन वरिष्ठ नागरिकों या 65 वर्ष की आयु से ऊपर किन्तु राष्ट्रीय व द्धावस्था पेंशन योजना के अंतर्गत पेंशन न लेने वाले व्यक्तियों को प्रतिव्यक्ति प्रतिमाह 10 किलो खाद्यान्न दिया जाता है।

अगस्त 2001 में सरकार ने सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना की घोषणा की है जिसके अंतर्गत कार्य योजनाओं को चलाने के लिये राज्य सरकारों को मुफ्त 50 लाख टन खाद्यान्न प्रति माह दिया जायेगा। केन्द्र सरकार को कुछ अन्य कल्याणकारी योजनाओं में, जिनका प्रारम्भ जनवरी 2001 में किया गया, प्राकृतिक आपदाओं से प्रभावित प्रदेशों/राज्यों में कार्य के बदले भोजन और मध्य दिवसीय भोजन योजना है।

21.7 खाद्यान्नों का निर्यात

जैसा कि पहले भी बताया गया है 1970 के दशक के मध्य तक भारत खाद्यान्न का एक मुख्य आयातक था। 1970 और 1980 के दशकों के पिछले भागों में भारतीय खाद्यान्नों

के निर्यात बहुत कम था। अब भारत खाद्यान्नों का निवल निर्यातक बन चुका है। हाल ही में सरकार ने अन्न के निर्यात से मात्रात्मक प्रतिबंध हटा लिये हैं। 2001 में भारत ने 19 लाख टन चावल का निर्यात किया (विश्व के चावल निर्यात का 16.8%) जबकि 2002 में चावल का निर्यात 42 लाख टन तक पहुंचने की आशा है। 2001 - 2002 में 50 लाख टन गेहूं से भी अधिक गेहूं का निर्यात हुआ । भारत अब विश्व का सातवां सबसे बड़ा गेहूं निर्यातक देश है। हमारा खाद्यान्न निर्यात बढ़ रहा है जबकि देश की जनसंख्या का बड़ा भाग भूखा रहता है। गेहूं का निर्यात मूल्य 4310 प्रति टन आंका गया है। सरकार विदेशी नागरिकों को अन्न (गेहूं और चावल) उसी मूल्य पर बेच रही है जिस मूल्य पर गरीबी को रेखा के नीचे रह रहे परिवारों को बेचा जाता है अर्थात् भारतीय खाद्य निगम की आर्थिक लागत से आधे पर। सरकार गरीबी रेखा से नीचे रह रहे परिवारों के लिये उद्घोषित मूल्य में कटौती करने से इन्कार के लिये तर्क देती है कि इससे साहाय्य भार और बढ़ेगा। किन्तु दूसरी ओर खाद्यान्न निर्यातों को भारी साहाय्य (Subsidy) दिया जा रहा है।

इस प्रकार भारतीय करदाताओं द्वारा वहन की जाने वाले खाद्य साहाय्यों के लाभ भारत के निर्धन परिवारों की अपेक्षा दक्षिण कोरिया, मलेशिया, बंगलादेश, यू.ए.ई, इन्डोनेशिया, ओमान, इराक और फिलीपीन जैसे देशों के उपभोक्ता एवं चारा निर्माता उठा रहे हैं।

तालिका 21.7 : खाद्यान्नों का निवल आयात (लाख टन)

समय	कुल निर्यात
1951–60	292
1961–70	573
1971–80	175
1981–90	150
1991–2000	(-) 73

21.8 सार्वजनिक वितरण व्यवस्था के निष्पादन का मूल्यांकन

सरकार संभवतः खाद्यान्नों के बढ़ते भंडारों का उपयोग निर्धनों की दयनीयता को दूर करने के लिये बड़े पैमानों पर काम के बदले भोजन योजनाओं द्वारा कर सकती है। स्थानीय परिसम्पत्ति बनाने, जैसे, तालाब और जल संरक्षण के लिये खाद्य भंडारों का प्रयोग किया जा सकता है। भारत के कुछ भाग प्रत्येक वर्ष सूखे की चपेट में आते हैं। कुल फसल क्षेत्र के केवल 40 प्रतिशत भाग में सिंचाई उपलब्ध है शेष क्षेत्र वर्षा पर निर्भर रहता है। देश के कुछ भाग सर्वदा ऐसे होते हैं जहां पर्याप्त वर्षा नहीं होती। सूखा लाखों के लिये भूख, म त्यु और अनकही दयनीयता लेकर आता है। वर्षा पर हमारी निर्भरता को देखते हुये अकाल को पूर्णतया दूर नहीं किया जा सकता किन्तु सूखे के दुष्प्रभावों को सीमित तो किया जा सकता है। आपने देखा होगा कि सूखा प्रभावित क्षेत्रों में खाद्यान्न का उत्पादन गिर जाता है।

किन्तु खाद्यान्नों की कमी वास्तविक समस्या नहीं है। देश में भारतीय खाद्य निगम के गोदामों में 600 लाख टन से भी अधिक खाद्यान्न का भंडार है। जैसे कि अमर्त्य सेन ने स्पष्ट संकेत किया है, अकाल खाद्यान्न की उपलबधता अपेक्षा क्रय शक्ति की कमी के कारण होता है। सूखा पीड़ित क्षेत्रों में भूमिहीन मजदूरों और छोटे किसानों की आय में भारी गिरावट आती है। ग्रामीण समाज के उन सर्वाधिक प्रभावित वर्गों के हाथों में क्रय शक्ति देने का एकमात्र प्रभावी माध्यम ग्रामीण रोजगार योजनायें है। अतः सूखे की स्थिति में ग्रामीण रोजगार योजनाएं बड़े पैमाने पर आरम्भ की जानी चाहिए। 1990 के दशक के मध्य से ग्रामीण

रोजगार योजनाओं में तीव्र गिरावट आई है। इस गिरावट की प्रक्रिया में बदलाव की आवश्यकता है। इन योजनाओं के लिये वित्तीय प्रावधान बढ़ाये जाने चाहिये, क्योंकि भूख और गरीबी के विरूद्ध हमारी लड़ाई में इनकी बहुत आवश्यकता है।

खाद्य साहाय्य देना कोई जनप्रिय उपाय नहीं है। इसे लक्ष्य विहीन व्यय भी नहीं कहा जा सकता। गरीब वर्गों को ऐसी मदद देना आवश्यक है क्योंकि यह उनके जीवन धारण में साहायता करती है। यह सत्य है कि जनसंख्या का एक बड़ा वर्ग देश की अभी भी गरीबी रेखा के नीचे है। अतः जन समर्थक नीति वाला ढांचा खाद्य साहाय्य जारी रखने की मांग करता है। खाद्य सहाय्य में कटौती निर्धन के हितों के विरूद्ध हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने 1 नवम्बर 2001 को दिये एक अंतरिम निर्णय में कहा है कि पोषण संबंधी योजनाओं के लाभ को वैधानिक अधिकारों की भांति समझा जाये। एकीकृत काम के बदले अनाज कार्यक्रमों के साथ-साथ गावों में अन्न बैंक खोले जाने चाहिए जो भोजन की कमी के समय काम आएंगे।

यह सत्य है कि वर्तमान सार्वजनिक वितरण प्रणाली बहुत गंभीर समस्याओं से घिरी हुई है। जाली राशन कार्डों के जरिये सार्वजनिक वितरण प्रणाली का अनाज खुले बाजारों में व्यापक रूप से जा रहा है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली साहाय्य के वास्तविक लाभभोगी बेईमान व्यापारी हैं। अध्ययनों से पता चलता है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली में व्याप्त भ्रष्टाचार ही एक तिहाई खाद्यान्न व चीनी निर्धन तक न पहुंचने के लिये उत्तरदायी है।

टाटा आर्थिक परामर्श सेवाओं (1998) ने सार्वजनिक वितरण प्रणाली खाद्य वस्तुओं का खुले बाजार में पहुँचने से संबंधित एक अध्ययन में यह पाया गया कि राष्ट्रीय स्तर पर गेहूं पूर्ति का 36 प्रतिशत, 31 प्रतिशत चावल व 23 प्रतिशत चीनी का पथांतरण (diversion) होता था। यह पथांतरण उत्तर, पूर्व और उत्तर पूर्व प्रदेशों में अधिक है। चावल का अनुमानित पथांतरण बिहार में 64% उड़ीसा में 54% और दिल्ली में 53% है। गेहूं के मामले में पंजाब में 69% हरियाणा और दिल्ली में 53% पथांतरण है।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली निगर्म केन्द्रों पर उपलब्ध अनाज प्रायः निम्न गुणवत्ता का होता है। यह भी भय है कि लम्बी अवधि तक भंडारण में रहने से अनाज का बड़ा भाग क्षति ग्रस्त हो रहा है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली मुख्यतः अनाजों, विशेषकर गेहूं और चावल, तक केन्द्रित है। दालों पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है इससे पोषण संतुलन का लक्ष्य (जो कि खाद्य सुरक्षा का महत्वपूर्ण पहलू है।) पाना कठिन हो जाता है।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली से निर्धन को थोड़ा ही लाभ पहुंचा है। NSS के उपभोग आंकड़े बताते हैं कि निर्धन के भोजन क्रय का केवल 8 से 21 प्रतिशत ही PDS प्रदान करता है। शेष खुले बाजार से आता है। निश्चय ही सार्वजनिक वितरण प्रणाली में सुधार की आवश्यकता है। किन्तु लक्ष्य समूहों के लिये साहाय्य युक्त (Subsidised) सार्वजनिक वितरण प्रणाली अभी भी गरीबों के लिये खाद्य सुरक्षा का सर्वश्रेष्ठ रूप है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली को समाप्त करना कदापि तर्कसंगत नहीं है। बाजार की संस्था में अंधविश्वास रखने वाले कुछ लोग सार्वजनिक वितरण प्रणाली की समाप्ति की वकालत करते हैं। सार्वजनिक वितरण प्रणाली निर्धन को खाद्य सुरक्षा प्रदान करता है अतः वे लोग उसे अर्थव्यवस्था के एक बहुत महत्वपूर्ण खाद्य क्षेत्र में बाजारीय शक्तियों के खुले खेल के मार्ग में बाधा मान रहे हैं।

इस सत्य को ध्यान में रखना चाहिए कि निर्धन वर्ग अर्थव्यवस्था में हो रहे सरंचनात्मक परिवर्तनों को झेलने व उनका सामना करने में असमर्थ है। अतः सुरक्षा जालों की विस्त त

संरचना से युक्त संस्था की जरूरत है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली के पूर्ण कार्यान्वन में बाधा पैदा करने वाले उपरोक्त आर्थिक, राजनैतिक और प्रशासनिक तथ्यों के बाद भी सार्वजनिक वितरण प्रणाली एक अत्यधिक संगत योजना है जिसे और शक्तिशाली बनाने की आवश्यकता है। यह प्रभावी रूप से निर्धन को खाद्य सुरक्षा दे सके इसके लिये आवश्यक है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली के द्वारा बेचे गये खाद्यान्न के कीमत बहुत निम्न स्तरों पर रखे जाने चाहिए। एक ऐसे देश में, जो खाद्यान्नों के बड़े भंडारों से भरा पड़ा है, कुपोषण और व्यापक भुखमरी का कोई औचित्य नहीं है। यदि आपूर्ति के लिये दशायें उचित हैं तो कुछ आवश्यक वस्तुओं जैसे दालों, खाद्य तेलों और चीनी आदि को लघुकालिक उपायों के तौर पर सार्वजनिक वितरण प्रणाली के लिये सार्वजनिक खातों पर आयात करना चाहिये। देश के पास अब 100 बिलीयन डालर से भी ऊपर विदेशी मुद्रा रिजर्व है जो हमारी आवश्यकताओं से कहीं अधिक है। इस रिजर्व का कुछ भाग आवश्यक वस्तुओं की घरेलू पूर्ति में कमी को पूरा करने के लिये खर्च किया जा सकता है। फलों, सब्जियों और दालों के निर्यात को हतोत्साहित करने के लिये कदम उठाने चाहिये क्योंकि इनकी देश में भी कमी है।

अन्तोदय अन्न योजना का सरलता पूर्वक इतना विस्तार किया जा सकता है कि उसमें अधिकतर संख्या में निर्धनतम परिवारों को बढ़ाई गई हकदारी के साथ सम्मिलित किया जा सके। आंकलन दिखाते हैं कि यदि इस योजना के अंदर दो करोड़ निर्धनतम परिवारों को लिया जाये और हर परिवार को प्रतिमाह 50 किलो खाद्यान्न दिया जाये तो उसे प्रतिवर्ष 120 लाख टन खाद्यान्न की आवश्यकता होगी। अन्य योजनाओं (जैसे मध्य दिवस आहार योजना जिनका संभार तन्त्रीय समस्याओं ने ही खात्मा कर दिया है) से भिन्न यह योजना सरलतापूर्वक लागू की जा सकती है। बेशक इसके लिये बढ़े हुए साहाय्य की आवश्यकता होगी, किन्तु, यह दारूण निर्धनता की स्थिति में रह रहे लोगों दारूण को खाद्य सुरक्षा देगी। इसके साथ ही अतिशय खाद्य भंडार की समस्या का समाधान भी होगी ।

भारत की दीर्घकालिक खाद्यान्न नीति पर अभिजीत सेन कमिटि ने सार्वजनिक वितरण प्रणाली का परीक्षण किया और पाया कि वर्तमान अधिशय भंडार बढ़ती उत्पादन की अपेक्षा उपभोग में असफलता पर अधिक आधारित होते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) सार्वजनिक वितरण प्रणाली के मुख्य उद्देश्य क्या है ?

....

....

....

....

....

2) लक्ष्यात्मक सार्वजनिक वितरण प्रणाली का प्रारम्भ क्यों हुआ ?

....

....

....

....

....

3) सरकार की खरीद नीति की चर्चा कीजिए।

....

....

....

....

....

4) सार्वजनिक वितरण प्रणाली के समक्ष क्या मुख्य समस्याएं है ? इसकी क्षमता को कैसे बढ़ाया जा सकता है ?

....

....

....

....

....

21.9 सारांश

यद्यपि 1970 के दशक के मध्य में भारत ने खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता प्राप्त कर ली थी किंतु अभी भी हमारी जनसंख्या का एक महत्वपूर्ण भाग खाद्य सुरक्षा से वंचित है। सरकार की न्यूनतम समर्थन मूल्य को ऊँचा रखने की नीतियां खाद्यान्न के बड़े भंडारों की ओर अग्रसर हैं जिनका परिणाम है जनता के लिये उपलब्ध खाद्यान्नों की मात्रा में गिरावट ।

1960 के दशक के मध्य में खाद्य प्रबंधन की रणनीति के तहत सार्वजनिक वितरण प्रणाली यानि सार्वजनिक वितरण प्रणाली की स्थापना की गई। सार्वजनिक वितरण प्रणाली का उद्देश्य खाद्य सुरक्षा, विशेषकर आर्थिक रूप से समाज के दुर्बल वर्गों तक भोजन पहुंचाना है। व्यवहारिक रूप में सार्वजनिक वितरण प्रणाली निर्धनों को केवल थोड़ा-सा लाभ पहुंचाया है। यह प्रणाली भ्रष्टाचार की समस्या से बुरी तरह ग्रसित है। हालांकि यह सार्वजनिक वितरण प्रणाली को समाप्त करने के लिये पर्याप्त नहीं है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली आज भी गरीबों के लिये खाद्य सुरक्षा का सबसे उपयुक्त रूप है। फिलहाल राजकोष पर एक बोझ बने व हद खाद्य भंडारों का उपयोग काम के बदले भोजन वाले कार्यक्रम में बड़े स्तर पर किया जा सकता है।

21.10 शब्दावली

खाद्य सुरक्षा : खाद्य सुरक्षा से तात्पर्य है कि लोगों को व्यावहारिक और आर्थिक तौर पर खाद्यान्न उपलब्ध हों।

न्यूनतम समर्थन मूल्य (MSP) : वह मूल्य जिस पर सरकार किसानों से कृषि उत्पादन खरीदती है। किसान इस मूल्य पर सरकार को अपने उत्पाद (गेहूं और चावल आदि) बेच सकते हैं (यदि वे बाजार में इससे ऊंचे दामों पर बेचने में असमर्थ है)।

उपभोक्ता साहाय्य : यह आर्थिक लागत (केन्द्र सरकार द्वारा खरीद, भंडारण, परिवहन और वितरण के लिये वहन किया गया शुल्क) और केन्दीग्र निर्गत मूल्य के बीच का अंतर है।

खाद्य साहाय्य : यह उपभोक्ता सहाय्य और सुरक्षित भंडार के वहन मूल्य का कुल जोड़ है।

21.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

भारत सरकार, आर्थिक सर्वेक्षण का वर्तमान प्रकाशन

योजना आयोग नौवीं पंचवर्षीय योजना 1997 – 2002

21.12 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

बोध प्रश्न 1

1) उपभाग 21.2.2 पढ़ें
2) उपभाग 21.2.3 पढ़ें
3) भाग 21.3 पढ़ें और उत्तर दें।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 21.4 पढ़ें व उत्तर दें
2) उपभाग 21.5.1 पढ़ें व उत्तर दें
3) उपभाग 21.6.3 पढ़ें व उत्तर दें
4) उपभाग 21.8 पढ़ें व उत्तर दें

इकाई 22 अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण के संदर्भ में कृषि

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य
22.1 प्रस्तावना
22.2 आर्थिक सुधार और कृषि
22.3 भारतीय कृषि में सुधार क्षेत्र
22.3.1 क़ीमत
22.3.2 साहाय्य
22.3.3 निर्यात
22.4 कृषि उत्पादों का बाह्य व्यापार
22.5 भारतीय कृषि के लिये विश्व व्यापार संगठन की अनुशंसाएं
22.6 भारतीय कृषि पर विश्व व्यापार संगठन की अनुशंसाओं के प्रभाव
22.7 सारांश
22.8 शब्दावली
22.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
22.10 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

22.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आपः

- कृषि के उन क्षेत्रों की पहचान कर पाएंगे जहाँ सुधार की आवश्यक है;
- कृषि के क्षेत्र में भारत की निर्यात की प्रगति समझ पाएंगे;
- भारतीय कृषि के सन्दर्भ में विश्व व्यापार संगठन के निर्देशों की समीक्षा कर पाएंगे; तथा
- भारतीय कृषि पर वैश्वीकरण (भूमंडलीकरण) के प्रभाव समझ पाएंगे।

22.1 प्रस्तावना

भारत में आर्थिक उदारीकरण और वैश्वीकरण की प्रक्रिया 1990 के दशक के आरंभ में शुरू हुई। यह उन नीतियों से एक प्रकार की राहत थी जिनका अनुसरण देश स्वतंत्रता के बाद से कर रहा था। नयी आर्थिक नीति के महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं: (i) राज्य का कम हस्तक्षेप, (ii) लाइसेंस व्यवस्था का निवर्तन, (iii) अर्थव्यवस्था को निजी क्षेत्र व विदेशी प्रतिष्ठानों के लिये अधिक खुला रखना, (iv) सहायिकी और सार्वजनिक वितरण प्रणाली के विखंडन की ओर कदम उठाना, (v) आयात शुल्कों और करों को घटाकर आयात कोटा व्यवस्था को हटाना, (vi) पूंजी के आवागमन को अधिक स्वतंत्रता देना, (vii) श्रम कानूनों में राहत देना, और (viii) निर्यातों को प्रोत्साहित करना। संक्षेप में सरकार निजी क्षेत्र के लिये ब हत्तर भूमिका को अनुमति देकर स्वयं को प्रशासन और न्यूनतम उत्पादन क्रियाओं तक सीमित रखना चाहती है।

22.2 आर्थिक सुधार और कृषि

आर्थिक सुधारों में बहुत से विषय आते हैं। ये अर्थ व्यवस्था की उन मूलभूत कमियों को सुधारने का प्रयत्न करते हैं जो अर्थव्यवस्था की संव द्धि और लोगों के कल्याण में बाधा

डालती है। आर्थिक सुधारों का उद्देश्य उत्पादन और रोजगार की उत्पत्ति तथा आर्थिक संव द्धि को अधिकतम करना होता है। एक कृषि आधारित अर्थव्यवस्था में कृषि को संव द्धि के लिए सहायक/प्रेरक बनाये बिना इस दिशा में कोई प्रयत्न सफल नहीं हो सकता। अतः आर्थिक सुधार कृषि के लिये भी प्रासंगिक हैं।

कृषि के क्षेत्र में सुधारों के मुख्य मुद्दे निम्नलिखित हैं :

क) **निजी निवेश को प्रोत्साहन** : इसे किसानों की वित्त सुविधाएँ, सिंचाई, परिवहन, विपणन, मालगोदाम की सुविधाएँ, जानकारी और निर्यात के अवसर प्रदान करके प्राप्त किया जा सकता है।

ख) **भूमि सुधार** : भारत में 75% के लगभग कृषकों के पास कुल जुताई वाली भूमि का 25% भाग है। यदि इन निर्धन किसानों को भूमि के पुनर्वितरण के द्वारा अधिक भूमि दी जा सके तो कृषि उत्पादन और निवेशों को बढ़ावा मिलेगा। ऐसा इसलिये भी आवश्यक है कि वर्तमान बड़े भू-स्वामी अपनी भूमि निर्धन काश्तकारों को अक्सर पट्टे पर देते हैं। इन काश्तकारों के पास निवेश के लिए पर्याप्त पैसा नहीं होता। ऐसे काश्तकारों और भूमिहीन श्रमिकों का एक बड़ा वर्ग है जिन्हें भूमि देने की आवश्यकता है। भूमि के ऐसे पुनर्वितरण से कृषि श्रमिकों और काश्तकारों के पास उत्पादन बढ़ने के अलावा आय का स्रोत भी सुनिश्चित होगा। इस उपाय की सफलता के लिये सस्ते बीजों, उर्वरकों, सिंचाई और वित्त के रूप में पूरक सहायताएँ भी प्रदान करनी होगी।

ग) **सम द्ध कृषकों पर कर लगाना** : इस आधार पर कि बहुसंख्यक भारतीय कृषक निर्धन हैं, सरकार ने कृषि आय पर कर नहीं लगाये हैं। किन्तु इस नीति का लाभ सम द्ध भू स्वामी और किसान उठाते हैं जो इस मुक्ति से सम द्धतर होते जा रहे हैं। वास्तव में यह छूट करों से बचने का साधन बन गयी है। लोग प्रायः अपनी गैर कृषि आय को कृषि आय के रूप में दिखाकर कर मुक्ति पा जाते हैं। विकास कार्यों के लिये पर्याप्त संसाधन जुटाने के लिये सम द्ध भू-स्वामियों और कृषकों पर कर लगाने की संभावनाओं की तलाश करनी होगी।

घ) **व्यापार की शर्तों का प्रबंध करना** : क षि और उद्योग क्षेत्रों के बीच मूल्य संबंध बहुत महत्व का विषय है। यह सम्पूर्ण जनसंख्या के लिये वास्तविक आय के स्तर निर्धारित करते हैं। भारत जैसे निर्धन देश में उच्च खाद्य मूल्यों (जिसका अर्थ है क षि व्यापार की ऊँची शर्तें) का अर्थ जनसंख्या के बड़े वर्ग के लिये निम्न जीवन स्तर का होना। इसका अर्थ है कि ऊँचा निर्धनता स्तर। औद्योगिक उत्पादन और रोजगार को भी क्षति पहुँच सकती है। सरकार द्वारा प्रस्तावित ऊँचे खरीद मूल्यों का लाभ मुख्यतः विपणनीय अधिशेष (Marketable surplus) वाले सम द्ध किसानों को ही पहुंचता है।

ङ) **कृषि पदार्थों के निर्यातों को प्रोत्साहन :** भारत के पास विविध प्रकार की फसल उगाने की क्षमता है क्योंकि यहाँ विविध मौसमी दशाएँ विद्यमान है। अतः इन वस्तुओं के लिये विदेशी बाजार में स्थान बनाने के लिये इस क्षमता का उचित उपयोग होना चाहिये। साथ ही, यह भी याद रखना चाहिये कि बहुत से मामलों में विदेशों में उच्चतर मूल्यों से खाद्यान्नों और खाद्य उत्पादों का अत्यधिक निःस्त्राव हो सकता है, जिससे देश में उत्पादों की कमी हो सकती है।

च) **साहाय्यों को तर्कसंगत बनाना** : भारत में साहाय्य वाद-विवाद का विषय रहे हैं। स्वतंत्रता पश्चात की अवधि में भारतीय कृषकों को बहुत से शीर्षकों के अंतर्गत बड़ी मात्रा में साहाय्य दिये गये हैं। चाहे वह सार्वजनिक आधारिक संरचना, जैसे बांध और सिंचाई परियोजनाएँ हो, सस्ती बिजली, उच्च पैदावार के बीज और उर्वरक हो या फिर फसलों का लाभप्रद मूल्यों पर नियमित खरीद हो, महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि साहाय्य

लक्ष्यित समूह तक पहुंच भी रहे हैं या नहीं। बहुतों का विचार है कि कुछ उत्तरी राज्यों में केवल सम द्ध किसानों को ही इनमें से अधिकतर साहाय्य मिलते हैं। अतः साहाय्यों के प्रावधानों के लिये उचित योजना, जो बहुसंख्यक किसानों को लाभ पहुंचाये, बनाने की आवश्यकता है।

छ) **कृषि उत्पादों में मुक्त व्यापार** : जैसा हमने पिछली इकाई में देखा है कि भारत के सामने खाद्यान्नों व बहुत से अन्य कृषि पदार्थों की अधिक आपूर्ति की समस्या है। बहुत वर्षों से विभिन्न राज्यों के बीच कृषि उत्पादों के आवागमन पर प्रतिबंध रहा है। ये प्रतिबंध आवश्यक वस्तु अधिनियम के अंतर्गत व्यापारियों को लाइसेंस द्वारा, स्टॉक सीमा निर्धारित कर और आवश्यक वस्तुओं के आवागमन पर नियंत्रण के रूप में लगाये गये हैं। सरकार ने अब व्यापारियों की लाइसेंस की आवश्यकता और खाद्यान्नों (गेहूं, धान, चावल, मोटे अनाज) चीनी, तेल, बीजों और खाद्य तेलों के भंडारण और आवागमन से प्रतिबंध हटा लिये हैं। कृषि उत्पादों के मुक्त आवागमन के अपने लाभ हैं। हमें प्रादेशिक स्तर पर आत्मनिर्भरता की आवश्यकता नहीं है। एक बार राष्ट्रीय स्तर पर आत्मनिर्भरता मिल जाय तो मुक्त व्यापार के आभाव वालो प्रदेशों को अधिशेष वाले प्रदेशों से खाद्यान्नों के आवागमन का लाभ पहुंचेगा। इसके अतिरिक्त मुक्त व्यापार कृषि उत्पादों में एक एकीकृत राष्ट्रीय बाजार बनायेगा।

22.3 भारतीय कृषि में सुधार के क्षेत्र

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर हम उन क्षेत्रों को चिन्हित करने का प्रयास करेंगे जहाँ सुधारों की आवश्यकता है। वे इस प्रकार हैं :

22.3.1 क़ीमत

वे क़ीमत जिस पर किसान अपनी फसल बेचते हैं और जिस पर उपभोक्ता बाजार से वस्तु खरीदते हैं, उन्हें तर्कसंगत बनाने की आवश्यकता है। हमने इकाई 20 में देखा कि ऊँचे लाभदायी मूल्य से कृषि में निवेश और संव द्धि बढ़ती है। किन्तु इससे निम्नतर आय समूहों में अभाव फैलेगा और औद्योगिक व द्धि धीमी हो जायेगी। सार्वजनिक वितरण प्रणाली (PDS) के अन्तर्गत उचित मूल्य दुकानों पर लिये जाने वाले मूल्य के पुनरूपण की भी आवश्यकता है। हाल के वर्षों में निर्गत मूल्यों के बढ़ने का परिणाम सार्वजनिक वितरण प्रणाली की दुकानों से निम्न अपक्रय के रूप में होता है। यह इसलिए है क्योंकि निर्धनता रेखा से ऊपर (APL) लक्ष्य समूह के लिये ये मूल्य स्तर बाजार मूल्य से भी कहीं अधिक हो गया, जबकि सामग्री की गुणवत्ता कहीं कम थी। निर्धनता रेखा से नीचे (BPL) समूह के लिये क़ीमत कहीं कम था किन्तु प्रभावशाली अमीर व्यक्तियों ने निर्धनता रेखा से नीचे (BPL) में अपना पंजीकरण करा के लाभ उठाया। जिसका परिणाम यह हुआ कि अनाज के उपभोग कर्ताओं में गरीबों की संख्या में कमी आई और असमानता बढ़ी। इसं क्षेत्र में भलीभांति सोची समझी नीति बनाने की आवश्यकता है, जो उत्पादकों और उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा कर सके।

22.3.2 साहाय्य

साहाय्य क़ीमतों के विषय से संबंधित होते है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली की उचित मूल्य दुकानों पर नीचा मूल्य उपभोक्ता चुकाते है। किन्तु इस प्रकार सरकार द्वारा दिया गया साहाय्य बहुत से मामले में लक्ष्य समूहों तक पहुंचते ही नहीं। उत्पादन साहाय्य के मामले में छूट प्राप्त उर्वरकों, बीजों, पम्पसैटों और अन्य उपकरणों के प्रावधान ने धनी किसानों को (विशेषकर कृषि में विकसित राज्यों में) लाभ पहुँचाया है। हम कह सकते है कि कृषि साहाय्यों में सुधार की आवश्यकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि उन्हें समाप्त कर दिया जाए। वास्तव में उन्हें उचित प्रकार से लक्ष्यित करना होगा।

22.3.3 निर्यात

निर्यात किसानों के लिये उच्चतर आय का साधन है। वह देश के लिये विदेशी मुद्रा कमाता है जिससे आर्थिक स्थिति सुद ढ़ होती है। अतः सरकार को कृषि उत्पादों के निर्यात की उन्नति के विषय पर ध्यान देना चाहिये और आवश्यक सहयोग देना चाहिए। सरकार को एक उत्पादक इकाई को स्थापित करने और विदेश में निर्यात के रास्ते में आने वाली कानूनी और सरकारी बाधाओं को कम से कम करना चाहिये लेकिन जिन बातों के विषय में हम पहले चर्चा कर रहे थे, जैसे घरेलू खाद्य मूल्यों में व द्धि और निर्धनता को बढ़ावा मिलने की संभावना के प्रति भी सतर्क रहना होगा।

बोध प्रश्न 1

1) भारत में ऐसे कौन से क्षेत्र हैं जहाँ कृषि सुधारों की आवश्यकता है?

....

....

....

....

....

2) उच्च खाद्यान्न मूल्यों का क्या प्रभाव होते हैं?

....

....

....

....

....

3) भारत में कृषि आय पर कर लगना चाहिये इसके लिये आप क्या सलाह देते हैं? क्यों?

....

....

....

....

....

22.4 कृषि उत्पादों का बाह्य व्यापार

पहली इकाई में हमने जाना कि 1980 के दशक में भारत ने खाध्यान्न उत्पादन में आत्मनिर्भरता प्राप्त कर ली। इससे पहले भारत खाद्यान्नों का शुद्ध आयातकर्त्ता था। भारत में क षि निर्यातों में दाल, चावल, गेहूं, अनाज, तंबाकू, चीनी और शीरे, मुर्गी व डेरी उत्पाद, उद्यान क षि के उत्पाद मसाले, फल और सब्जियाँ, कपास, प्रक्रमित सब्जियाँ, फलों के रस

और मांस तथा सागरिक उत्पाद काजू, राई, मूंगफली, तेलीय खाद्य, मछली का तेल आदि सम्मिलित है। इनमें से सागरिक उत्पाद क षि निर्यातों के एक सबसे बड़े अंश के रूप में उभरे हैं। वर्ष 2000-01 में देश से 600 करोड़ अमेरिकन डालर के मूल्य के क षि उत्पादों का निर्यात हुआ जिसमें 22 प्रतिशत सागरिक उत्पाद से था। अन्य महत्त्वपूर्ण क षि निर्यात की मदों में अन्न है, जिसमें अधिकांश बासमती और गैर बासमती चावल है, जो कुल निर्यात का 12 प्रतिशत बैठता है।

अनेक कृषि वस्तुओं के निर्यात में भारत को तुलनात्मक लाभ प्राप्त है। कृषि आगतों में आत्मनिर्भरता, कम श्रम लागतें और विविधतापूर्ण कृषि जलवायु दशाएँ वे अवयव हैं जो भारत के उक्त लाभों का आधार है। फिर भी, भारत के सामने कृषि उत्पादकता को अंतर्राष्ट्रीय मानकों तक उठाना एक बहुत बड़ी चुनौती है। यद्यपि पंजाब, हरियाणा और आंध्र प्रदेश जैसे राज्यों ने अन्य राज्यों को पीछे छोड़ते हुये, विश्व स्तरीय उत्पादकता के मानक प्राप्त किये हैं।

तालिका 22.1 : कृषि और सहयोगी उत्पादों के निर्यात

वर्ष	रू० करोड़	मिलियन में अमेरिकन डालर	कुल निर्यात (%) में अंश
1960-61	284	596	44.2
1970-71	487	644	31.7
1980-81	2057	2601	30.7
1990-91	6317	3521	19.4
1995-96	21138	6320	19.9
2000-01	28535	6246	14.0

स्रोत : भारतीय अर्थव्यवस्था सर्वेक्षण 2001-02.

तालिका 22.1 से हमें दो बातें पता चलती है। पिछले वर्षों में कृषि उत्पादों का निर्यात मूल्य रूपयों में ही नहीं बल्कि डालरों में भी बढ़ा है। 1960-61 में कृषि निर्यात ने 5960 लाख डालर की विदेशी मुद्रा प्राप्त की। यह राशि 2000-01 में बढ़कर 62460 लाख डालर तक पहुंच गयी। दूसरे, भारत के कुल निर्यातों में कृषि का अंश समय के साथ–साथ कम हुआ है। कृषि उत्पाद 1960-61 में कुल निर्यातों का 44.2 प्रतिशत था, वह 2000-01 में कुल आयात का केवल 14 प्रतिशत होकर रह गये। इसका निहितार्थ यह है कि गैर कृषि उत्पादों का निर्यात कृषि उत्पादों से अधिक तीव्र गति से बढ़ा है।

कृषि आयात देश के कुल आयात का लगभग 5 से 6 प्रतिशत है। आयात की मुख्य मदें हैं खाद्य तेल, दालें, कपास व लकड़ी का सामान। वर्ष 2000-01 में भारत के कृषि आयात केवल 180 करोड़ अमरीकी डालर थे जो 600 करोड़ डालर के कृषि निर्यात से बहुत कम था। भारत में खाद्य तेल, हाल के वर्षों में एकमात्र सबसे बड़ा कृषि आयात की मद बन गयी हैं । यह कुल कृषि आयातों की कीमत का 60 से 70 प्रतिशत तक बैठता है। कच्चा काजू, बादाम और दाल अन्य प्रमुख कृषि आयातों में आते हैं, इनमें से प्रत्येक कुल कृषि आयातों में 5 से 10 प्रतिशत का योगदान देता है। एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हम देखते हैं कि 1980 के दशक तक भारतीय कृषि निर्यात कुछ व्यावसायिक फसलों, जैसे मसाले, चाय और कॉफी तक ही सीमित था। आयात बहुत सीमा तक परिमाणात्मक प्रतिबन्धों शुल्कों के उच्च स्तर द्वारा प्रतिबंधित थे। इस प्रकार कृषि वस्तुओं के आयात को सीमित रखने का उद्देश्य यही

था कि इन पदार्थों की अतिशय आपूर्ति के कारण कृषि दामों पर विपरीत प्रभाव नहीं पड़े। इसी प्रकार, घरेलू उपलब्धता को ध्यान में रखते हुये कृषि वस्तओं के निर्यात नियंत्रित रखे गये। अतिशय निर्यातों का परिणाम घेरलू आपूर्ति में कमी और इसके कारण मूल्य व द्धि होता है।

अप्रैल 2000 में 700 कृषि मदों के आयात पर परिमाणात्मक प्रतिबंध लागू थे। फिर भी 2001 की आयात निर्यात नीति ने 228 कृषि मदों से ये प्रतिबंध हटाये। विश्व व्यापार संगठन के निर्देशों के अनुसार सभी परिमाणात्मक प्रतिबंध निश्चित अवधि में हटाये जायेंगे। वैश्वीकरण के युग में कृषि आयात–निर्यात केवल शुल्क के द्वारा ही नियमित किये जायेंगे।

1990 के दशक से भारत के कृषि क्षेत्र में खुलेपन या बाह्योन्मुखता में व द्धि हुई है। फिर भी कृषि क्षेत्र सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की अपेक्षा कम बाह्योन्मुख है।

22.5 भारतीय कृषि के लिये विश्व व्यापार संगठन की अनुशंसाएं

हाल के वर्षों में आर्थिक नीतियों की मुख्यधारा ने मुक्त व्यापार और बाजार तंत्र को आधिक महत्त्व दिया है। इससे एक विचार उभरा है कि विश्व व्यापार और पूंजी की गतिशीलता से विकसित और विकासशील दोनों प्रकार को अर्थव्यवस्था को लाभ पहुंचेगा। अतः विश्व व्यापार संगठन (World Trade Organisation) और अंतर्राष्ट्रीय वित्त संस्थाओं, जैसे विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, एशियाई विकास बैंक, आदि ने अनियंत्रित विश्व व्यापार और पूंजी गतिशीलता पर बल दिया है। विश्व व्यापार संगठन की स्थापना 1995 में 135 राष्ट्र के साथ हुई और इसने शुल्क और व्यापार पर सामान्य अनुबंध (General Agreement on Tariff and Trade) का स्थान ले लिया। विश्व व्यापार संगठन के मुख्य उद्देश्य आपसी बातचीत के द्वारा मुक्त व्यापार को प्रोत्साहित करना और उत्पादन में प्रतिस्पर्द्धा बढ़ाना है। विश्व व्यापार संगठन में व्यापार श्रम, वातावरण, प्रतियोगिता और निवेश आदि से संबद्ध विषय आते हैं।

मुक्त व्यापार की प्रगति का आधारभूत निहित तर्क यही है कि ऐसी अर्थव्यवस्था, जो कुछ वस्तुओं का कम आर्थिक लागत पर उत्पादन नहीं कर पाती वह भी कुछ वस्तुओं को सस्ती दरों पर आयात कर सकती है। इसी प्रकार जिन वस्तुओं के उत्पादन में ये दक्ष हैं, उन्हें ये दूसरे उन देशों को निर्यात कर सकती हैं, (जो कम लागत पर इन वस्तुओं का उत्पादन नहीं कर सकते)। इस प्रकार प्रत्येक देश जिन वस्तुओं में उसे विशिष्टता प्राप्त है, उनके उत्पादन सापेक्ष और निर्यात द्वारा लाभ प्राप्त करता है।

तुलनात्मक लाभ का यह सिद्धांत डेविड रिकार्डो (David Ricardo) द्वारा दौ सो वर्ष पूर्व प्रतिपादित किया गया था। इसी के अनुसार कि प्रत्येक देश के पास कुछ वस्तु है जिसका वह अपेक्षाकृत न्यूनतम लागत पर उत्पादन कर सकता है और यह सभी देशों के लिये लाभप्रद होगा यदि वे उन वस्तुओं के उत्पादन और निर्यात में विशिष्टता प्राप्त करें, जिनमें उन्हें तुलनात्मक लाभ प्राप्त हो सकता है। कुल सामाजिक क्षेत्र और उत्पादन को इस प्रकार अधिकतम किया जा सकता है।

उपरोक्त सिद्धांतों से पता चलता है कि जो उपाय व्यापार को प्रतिबंधित करते हैं या उन वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहित करते हैं जिनमें देश को अपेक्षाकृत लाभ नहीं होता, घरेलू और भौगोलिक क्षेत्र को हानि पहुंचाते हैं। यही नहीं, यह भी आग्रह है कि आयातों से सभी शुल्क और कोटा (quota) हटा देना चाहिये। निर्यात वस्तुओं के उत्पादन से साहाय्य भी हटाए जाने चाहिये, क्योंकि, ये भी मुक्त बाजार कीमत को विक त कर देते है। मुक्त बाजार कीमत सुनिश्चित करती है कि वैकल्पिक प्रयोगों के बीच संसाधन कुशलतापूर्वक आबंटित

हो जायें। इस तर्क को क षि वस्तुओं तक बढ़ाने के लिये यह आग्रह किया जाता है कि सभी परिमाणात्मक प्रतिबंध, जो क षि उत्पादों के आयातों पर लगे हों, उन्हें खत्म किया जाना चाहिये। भारत द्वारा क षि पदार्थों के आयात पर पहले लगाये गये प्रतिबंध एक अलग ही तर्क पर आधारित थे। आयात, के कोटे सुनिश्चित करते थे कि भारतीय किसान विदेशी प्रतियोगिता और भारत में माल झोंकने (dumping) से सुरक्षित रहें। एक तर्क यह दिया गया कि खाद्य आयात पर निर्भरता का अर्थ होगा– कि जब विश्व में खाद्य आपूर्ति का आभाव हो उन वर्षों में निर्धनता और अकाल का सामना करना।

विश्व व्यापार संगठन द्वारा सुझाये गये उपायों का एक वर्ग पेटेंट कानून और उनके परिपालन से संबद्ध है। यह सुनिश्चित करता है कि लोगों को एक नये उत्पाद पर आविष्कार और शोध के लिये प्रोत्साहन और धन मिले। इस नीति के परिणाम है कि पेटेंट उत्पाद को उपयोग या उत्पादन करने वाले को वास्तविक आविष्कारक को रायल्टी देनी पड़ती है। यह व्यापार संबंधी बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार (Trade Related Intellectual Property Rights - TRIPS) कहलाता है। इसका तात्पर्य है कि उच्च पैदावार के पेटेंट वाले बीजों, उवर्रक और कीटनाशकों का उपयोग करने के लिये, उपयोगकर्त्ता को सम्बद्ध पेटेंट के अधिकर्त्ता को शुल्क देना होता है। जो भी पेटेंट हुए बीज पर शोध करना चाहता है, वह पेटेंट के अधिकर्त्ता की अनुमति के बिना और रायल्टी दिये बिना ऐसा नहीं कर सकता। ऐसे पेटेंट का प्रभाव किसान के लिये उत्पादन की लागत में व ृद्धि के रूप में होता है।

विश्व व्यापार संगठन की अन्य व हद संस्तुतियाँ ये हैं कि :

i) **किसानों को दिये जाने वाले साहाय्यों में कमी :** विश्व व्यापार संगठन यह मानता है कि साहाय्यों के दो विपरीत प्रभाव हैं : पहला, यह मुक्त बाजार कीमतों को विकृत करते हैं, जिनसे संसाधनों का गलत आवंटन होता है। दूसरे : यह सरकार के राजकोषीय घाटे में व द्धि करते हैं, ऊंचा घाटा भुगतान शेष की कठिनाईयों और मुद्रा स्फीति का कारण बन सकता है।

ii) **सरकारी व्यय में कमी :** अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी अंतर्राष्ट्रीय संगठनों का सुझाव रहा है कि सरकारी खर्चों में कटौती होनी चाहिये, जिससे राजकोषीय घाटे में कमी हो। भारत सरीखी सरकारों में ऐसे प्रयत्नों का परिणाम सार्वजनिक आधारिक संरचना, जैसे, सड़कों बिजली, परिवहन और ग्रामीण बैंक पर व्यय की कमी के रूप में हुआ है। सार्वजनिक सिंचाई सुविधाओं पर निवेश भी कम हुये हैं।

iii) **सार्वजनिक क्षेत्र इकाईयों का निजीकरण :** विश्व व्यापार विश्व संगठन मानता है कि सरकार का उत्पादन में और संसाधनों के आबंटन में कोई आर्थिक दखल नहीं होना चाहिये। इसे केवल उच्चतर व द्धि और आर्थिक स्थिरता को प्राप्त करने में एक सहायताकर्त्ता की भूमिका ही निभानी चाहिये। ऐसे निर्देशों का क्रियान्वयन सार्वजनिक क्षेत्र उपक्रमों के बेचने में रहा है।

iv) **सार्वजनिक वितरण व्यवस्था को विखण्डित करना :** इसमें सरकार द्वारा दिये गये दो प्रकार के साहाय्य छिपे हैं। पहली किसानों को बाजार मूल्य से उच्चतर मूल्य के रूप में। दूसरी उपभोक्ता को बाजार मूल्य से कम पर खाद्यान्न बेचना। ऐसे प्रचलन राजकोषीय घाटे को बढ़ाते हैं और अकुशलता को बढ़ावा देते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) भारत में निर्यात की मुख्य फसलें क्या है?

....

....

....

....

....

2) कृषि सुधारों के लिये विश्व व्यापार संगठन की क्या अनुशंसाएं हैं?

....

....

....

....

....

22.6 भारतीय कृषि पर विश्व व्यापार संगठन की अनुशंसाओं के प्रभाव

भारत किसी सीमा तक विश्व व्यापार संगठन (WTO) की निर्देशों को सहन करने में समर्थ रहा है। इसने विश्व व्यापार संगठन के सभी निर्देशों का अनुसरण नहीं किया। निम्नलिखित क्षेत्रों में ही WTO के निर्देश ने सरकारी नीतियों को प्रभावित किया है :

क) साहाय्य कटौती की संस्तुतियों का केवल अंशतः ही पालन किया गया है। सार्वजनिक आधारिक संरचना के प्रावधान पर साहाय्य के मामले में यह सत्य है। 1980 से ही ग्रामीण विद्युतीकरण, सिंचाई परियोजनाओं और अन्य आधारिक संरचना के निवेश में सरकारी अंश कम हो रहा है। परिणामस्वरूप कृषि में कुल निवेश में सही शब्दों में गतिरोध आया है। यह 1960-61 के 63 अरब से बढकर 1978-79 में 182 अरब रुपये हो गया था। उसके बाद यह गिरावट की ओर चला और 1998-99 में मामूली सुधार के बाद 190 अरब हुआ। अतः एक सकारात्मक दर पर बढ़ने की बजाय यह पिछले दो दशकों में उसी स्तर पर रहा। इस गिरावट के पीछे एक मुख्य कारण सार्वजनिक निवेश व्यय में गिरावट था (देखें इकाई 15)। यह गिरावट का क्रम 1980 के दशक के मध्य में प्रारंभ हुआ जब सरकार ने IMF ऋण लेने प्रारम्भ किये जो उन शर्तों में बंधे हुये थे जो आज WTO की संस्तुतियाँ है। यह गिरावट आज तक जारी है। जिसका परिणाम है कि 1980-81 के 50% से बढ़कर कृषि क्षेत्र में निजी क्षेत्र का कुल निवेश 1998-99 में 75% हो गया है। यद्यपि स्थिर कीमतों पर निश्चित तौर पर निजी निवेश बढ़े हैं किन्तु हाल के वर्षों में इनमें भी ठहराव आ गया है। समग्र कृषि क्षेत्र की द ष्टि से निजी निवेशों से कुल निवेश में व द्धि नहीं हो पायी है। ऐसा मुख्यतः सार्वजनिक निवेशों में आई तीव्र गिरावट के कारण हुआ है।

ख) विश्व व्यापार संगठन की संस्तुतियों के पालन का एक उदाहरण कृषि उत्पादों के आयात कोटा का हटना है। कोटा या परिमाणात्मक प्रतिबंध कृषकों को विदेशों द्वारा 'डम्पिंग' (dumping) या सस्ते आयातों से बचाने के लिये लगाये गये थे। डम्पिंग का अर्थ है कि एक देश दूसरे देश के बाजार पर पकड़ बनाने के लिये बहुत कम दामों पर वस्तुएँ निर्यात करें। एक बार बाजार हाथ में आने पर और घरेलू उत्पादकों के प्रतियोगिता से बाहर होने पर, निर्यात करने वाला देश एकाधिकारी बन जाता है और

अपने निर्यात के ऊंचे मूल्य वसूलता है। ऐसी दमनकारी नीति का अनुसरण केवल पर्याप्त वित्तीय संसाधन वाले अमीर देश ही कर सकते हैं।

ग) सरकारी खरीद में साहाय्य कम करने की अनुशंसा पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। WTO का सुझाव था कि या तो खरीद के कार्य में कटौती होनी चाहिये या खरीद मूल्यों को प्रचलित बाजार मूल्य से कम अंतर पर निश्चित करना चाहिये। दोनों ही रूप में कुल साहाय्यों में गिरावट आयेगी। किन्तु राजनैतिक मजबूरियों ने ऐसा नहीं होने दिया। उत्तर में किसानों का संगुट WTO का निर्देश से अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ। अतः बड़ी मात्रा में अन्न अभी भी बाजार मूल्य से कहीं ऊंचे दामों पर खरीदे जा रहे हैं। हालांकि भंडारण एक बड़ी समस्या बन गया है। WTO के अनुसार सार्वजनिक वितरण प्रणाली के निर्गत मूल्य बढ़ गये हैं, किन्तु निर्धन लोग इतने ऊंचे मूल्य नहीं दे सकते और वही PDS की दुकानों से अनाज खरीदते हैं। परिणामस्वरूप भारतीय खाद्य निगम के गोदामों में बहुत बड़ा खाद्य भण्डार जमा हो गया है जो उसकी प्रबंध क्षमता से कहीं अधिक है। अतः अधिकतर स्टॉक दुष्प्रबंध के कारण सड़ रहा है। जुलाई 2002 तक भारत ने 63 लाख टन खाद्यान्न एकत्र कर लिया था। यह 24 लाख टन की अनुमोदित भंडारण से बहुत अधिक है।

घ) सार्वजनिक आधारिक संरचना के प्रावधानों के अतिरिक्त, सहायिकी के अन्य स्वरूप हैंः सस्ते बीज, उर्वरक और निजी सिंचाई सुविधाओं, जैसे पम्प सैट। पर इनमें 1990 से गिरावट आ रही है। इसके साथ सार्वजनिक निवेशों में कमी ने कृषि उत्पादन संव द्धि दर को 1990 में पिछले दशक के मुकाबले कमजोर किया है। व द्धि का धीमापन खाद्यान्न उत्पादन में अधिक दिखाई देता है। 1980 में 2.9% प्रतिवर्ष की संव द्धि दर की तुलना में यह दर 1990 में 1.8% प्रतिवर्ष थी। यह भारत की वार्षिक जनसंख्या व द्धि से भी कम थी।

आधारिक संरचना के क्षेत्र में निम्नलिखित मुख्य परिवर्तन देखे गये है :

i) सिंचाई का प्रसार धीमा हुआ है : क्योंकि 1980 में कृषि में सार्वजनिक निवेश 4.1% से घटकर 1990 में 1.9% ही रह गया।

ii) शोध विकास में कम सार्वजनिक निवेश : भारतीय क षि शोध परिषद (ICAR) द्वारा अनुमोदित 1% के मानक के विपरीत क षि निवेश का स्तर सकल घरेलू उत्पादन का 0.5% ही रह गया।

iii) 1980 में उर्वरकों के उपयोग की वार्षिक व द्धि दर 7.8% थी जो 1990 में घटकर 4.3% रह गयी।

iv) उच्च पैदावार किस्म के बीजों के अन्तर्गत क्षेत्र की संव द्धि दर 1980 में 4.9% से घटकर 1990 में 2.8% रह गयी।

v) उत्तर पश्चिम क्षेत्र में म दा की उवर्रता में सघन कृषि और गेहूं चावल के ही निरंतर कृषि चक्र के कारण गिरावट आने लगी है।

vi) छोटे स्तर के निजी सिंचाई द्वारा भू-जल का अतिशोषण : इससे जल तालिका नीचे गयी है। इसे इस तथ्य से जोड़ा जा सकता है कि हाल के वर्षो में कृषि में निजी निवेश का एक प्रधान अवयव इन्हीं कार्यो पर लगा था। (इकाई 15) निजी सिंचाई सार्वजनिक सिंचाई के विपरीत अधिक भू-जल खींचती है।

ड.) निम्न कृषि व द्धि दर के साथ कृषि के लिये व्यापार की अनुकूल शर्ते भी जुड़ी रही है। 1990-91 को आधार वर्ष लेते हुये कृषि श्रमिकों के लिए उपभोक्ता मूल्य सूचकांक

(CPI-AL) गैर खाद्य की वस्तुओं के लिए 1999-2000 में 100.3 था जबकि अनाज के लिये थोक मूल्य सूचकांक (WPI) 126.0 था। ये दो आंकड़े बताते है कि औद्योगिक आगतों की लागत बढ़ती रही है जबकि मांग निष्क्रिय रही है। इससे उत्पादक की व द्धि दर और औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार में गिरावट आ सकती है।

च) कृषि क्षेत्र में निवेश की भांति ही सरकारी क्षेत्र के उपक्रमों (PSU) में रोजगार में भी 1990 के दशक में गिरावट आई। 1983 से 1994 के दौरान सरकारी क्षेत्र उपक्रमों में रोजगार व द्धि दर 1.52 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। दूसरी ओर 1994 से 2000 के दौरान यह 0.03 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से घटा है। निजी क्षेत्र ने दो कारणों से क्षति उठाई : पहला कृषि की निष्क्रियता के कारण घटी मांग और व्यापार की विपरीत शर्तों के कारण। दूसरे सार्वजनिक निवेशों में कटौती के कारण आपूर्ति अवरूद्ध दिखाई दी। निजी क्षेत्र में रोजगार 1983 से 1994 में 2.04% प्रतिवर्ष बढ़ी, जबकि 1994 से 2000 के बीच व द्धि दर 0.98% ही रही। इसके अतिरिक्त निजी क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्र में सिकुड़ते रोजगार के अवसरों की पूर्ति के लिये पर्याप्त रोजगार की उत्पत्ति नहीं हो सकी।

छ) निम्न रोजगार उत्पत्ति और उच्च खाद्य मूल्यों का परिणाम प्रति व्यक्ति अनाज उपभोग में गिरावट के रूप में हुआ। हाल के वर्षों में प्रति व्यक्ति अनाज उपभोग 1987 के 14.4 किलो से घटकर 1997 में ग्रामीण क्षेत्रों में 12.8 किलो हो गया। इसी समय शहरी क्षेत्रों में ये 11.2 किलो से घटकर 10.3 किलो हो गया। ध्यान देने योग्य बात यह है कि अनाज के उपभोग में गिरावट ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक रही है। क षि ही ग्रामीण अर्थव्यवस्था का आधार है – इसी कारण क षक परिवारों की दूर्दशा और गहन हो गई है।

ज) खाद्यान्नों का उच्चतर निर्यात 1990 के दशक की एक विशेषता रही है। फिर भी जिन मूल्यों पर विश्व बाजार में हमारे अन्न को लिया गया वह मानक अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों से कहीं कम था। उदाहरण के लिये गेहूं 2001 में 103 डालर प्रति टन पर बिका जबकि उस समय का प्रचलित मूल्य 130 डालर था। दूसरा, निर्यात पर जोर का हैरानी वाला लक्षण यह था कि हम ये सहाय्यों के दम पर ही कर रहे हैं। वर्ष 2001 में FCI के लिये प्रतिटन गेहूं की आर्थिक लागत 8300 रुपये थी किन्तु 4000 रु० प्रतिटन के मूल्य पर गेहूं निर्यात किया गया। अतः हमने विदेशी खरीदारों को 4300 रु० प्रतिटन की साहाय्य दिया है। इसके विपरीत APL को निर्गत मूल्य में कोई साहाय्य नहीं दिया जाता।

झ) कृषि क्षेत्र को विश्व बाजार के लिये खोलने में फसल पद्धति में परिवर्तन आया है। मुख्यतः यह परिवर्तन खद्यान्न फसलों (विशेषकर नीची गुणवत्ता वाले ज्वार-बाजरा) से नकदी फसलों जैसे तेल बीजों (सूरजमुखी, सोयाबीन) और कपास की ओर हुआ है। 1990 के दशक से पूर्व कृषि उत्पादों के निर्यात पर बहुत से प्रतिबंध थे। जिस कारण घरेलू उत्पादन के निर्णय अंतर्राष्ट्रीय मूल्यों से अप्रभावित रहते थे। मोटे प्रकार की फसलें, जैसे ज्वार बाजरा और रागी प्रचुर मात्रा में उत्पादित होते थे, जो देश के निर्धन वर्ग की आवश्यकताओं को पूरा करते थे। हाल के वर्षों में किसानों ने अनुभव किया है कि नकदी फसलों, जैसे सूरजमुखी, सोयाबीन और कपास अधिक लाभदेय है क्योंकि वे अंतर्राष्ट्रीय बाजार में कहीं अधिक मूल्य दिलाते हैं। इसके बाद से फसल पद्धति में परिवर्तन हुए हैं। मोटी अनाज फसलों में गिरावट आ रही है और नकदी फसलों में व द्धि हो रही है। इस परिवर्तन के परिणाम, विशेषकर गरीब वर्ग के लिये, सकारात्मक नहीं रहे हैं।

बोध प्रश्न 3

1) 90 के दशक में भारत में कृषि में निवेश की क्या प्रव त्ति रही है? क्या परिणाम के रूप में निजी निवेशों में व द्धि हुई है?

....

....

....

....

....

2) नियंत्रण के भारी स्टॉक के बाद भी भारतीय खाद्य निगम किसानों से ऊंचे दामों पर अन्न क्रय कर रहा है। साथ ही सार्वजनिक वितरण व्यवस्था का विघटन हो रहा हैं। इसकी व्याख्या आप कैसे करेंगें?

....

....

....

....

....

22.7 सारांश

उच्चतर व द्धि को प्राप्त करने के लिये हमें उचित नीतिगत उपायों के द्वारा अर्थव्यवस्था में कुछ मूल परिवर्तन लाने होंगे। ये उपाय सामूहिक रूप से आर्थिक सुधार कहलाते हैं। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में आर्थिक सुधार कृषि क्षेत्र की उपेक्षा नहीं कर सकते। अतः अर्थव्यवस्था को अपने कृषि क्षेत्र में भी आधारभूत परिवर्तन करने होंगे। उनमें से कुछ परिवर्तन इस प्रकार है : i) केवल सम द्ध किसान ही कर (tax) दे, ऐसा निश्चित करते हुये कृषि आय पर कर लगाना, ii) साहाय्यों का युक्तीकरण iii) कृषि वस्तुओं का उचित मूल्य लगाना। इन उपायों को लागू करने के साथ हमें अन्य विषयों जैसे किसानों को लाभप्रद मूल्य, उच्चतर औद्योगिक प्रगति और गरीबी उन्मूलन को भी ध्यान में रखना होगा।

भारत में कृषि की दशा को देखते हुये ये सुधार बहुत महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। विश्व व्यापार संगठन ने कुछ सुझाव दिये हैं जो सर्वदा देश के हित में नहीं है। ये हैंः i) खाद्यान्न निर्यातों को प्रोत्साहन, ii) सभी साहाय्यों का खात्मा, iii) सरकारी खर्चे में कटौती, iv) आयात निर्यात के कोटा को हटाना, v) कृषि कीटनाशकों व उर्वरकों के मामले में पेटेंट कानून को बनाये रखना।

विश्व व्यापार संगठन के कार्यक्रम पर अंशतः कदम उठाने के साथ हमें यह ध्यान रखना होगा कि इनका कुछ समस्याओं पर विपरीत प्रभाव न पड़े। ये समस्याएँ हैं : i) अर्थव्यवस्था के सम्पूर्ण अनाज उपभोग में गिरावट, ii) कृषि व द्धि दर में गिरावट, iii) कृषि क्षेत्र में आय के वितरण में बढ़ती असमानता, iv) कृषि क्षेत्र में बढ़ती हुई निर्धनता, v) खाद्यान्न दामों का

औसत मूल्य व द्धि दर की अपेक्षा तीव्रता से बढ़ना, vi) औद्योगिक क्षेत्रों के लिये गिरती मांग और उसका गतिरोध, तथा vii) निम्न रोजगार संवर्धन।

22.8 शब्दावली

साहाय्य : वे अनुदान हैं जो सरकार लोगों को देती है। कृषि साहाय्य, किसानों को सस्ते उर्वरक, उपकरण, बीजों और ऊंचे खरीद मूल्य के रूप में दिये जाते हैं।

आयात शुल्क : आयात पर लगे कर।

व्यापार की शर्तें : दो क्षेत्रकों के बीच कीमतों का अनुपात। उदाहरण के लिये, उद्योग और क षि के बीच व्यापार की शर्तें क षि मूल्य सूचकांक से उद्योगों के मूल्य सूचकांक का अनुपात है।

व्यापार संबंधी बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार : विश्व व्यापार संगठन ने यह सुनिश्चित करने के लिये प्रोत्साहित किया कि किसी एक उत्पादन में आविष्कारक को उपयोगकर्त्ताओं के द्वारा रायल्टी दी जाये।

विश्व व्यापार संगठन (WTO) : इसकी स्थापना 1995 में हुई, जिसने सीमा शुल्क और व्यापार पर सामान्य अनुबंध (GATT) का स्थान ले लिया है। इसका उद्देश्य बहुमुखी विश्व व्यापार और कल्याण को बढ़ावा देना था।

22.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Datt, R. and K.P.M Sundaram, 2001, *Indian Economy*, S. Chand and Co., New Delhi.

Kapila, U. (ed.), 1990, *Indian Economy since Independence: Different Aspects of Agriculutral Development, vol.* II, Academic Foundation, Delhi.

Misra, S.K. and V.K. Puri, 2001, *Indian Economy*, Himalaya Publishing House, New Delhi.

Patnaik, U., 1999, *The Long Transition*, Tulika Publication, New Delhi.

Raj, K.N., 1990, *Organization Issues in Indian Agriculutre*, Oxford University Press, New Delhi.

22.10 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

बोध प्रश्न 1

1) सुधार की आवश्यकता वाले क्षेत्र हैं : मूल्य, साहाय्य और निर्यात। विस्तार के लिये भाग 22.3 देखें ।

2) खाद्य एक आवश्यक उपभोग की मद होने के कारण इसके मूल्य में व द्धि से अधिक मुद्रास्फीति उत्पन्न होगी। यद्यपि खाद्यान्न के मूल्य व द्धि के प्रभाव मुद्रास्फीति तक ही सीमित नहीं है। इसका निर्धनता और औ़द्योगिक व द्धि पर भी विपरीत प्रभाव हो सकता है। देखें भाग 22.2 (घ)।

3) देखें भाग 2.2 (ग)।

बोध प्रश्न 2

1) भारत के कृषि निर्यातों में दाल, चावल, गेहूं, तंबाकू, चीनी और शीरा, मुर्गी और डेयरी उत्पाद, उद्यान कृषि उत्पाद, मसाले, काजू, राई के बीज, मूंगफली, तैलीय खाद्य, मछली का तेल, फल और सब्जियाँ, फलों के रस और सागरिक उत्पाद सम्मिलित हैं।

2) विश्व व्यापार संगठन के मुख्य नीति निर्देश भाग 22.5 देखें।

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 22.6

2) भाग 22.6 (ग) देखें